कुबेरनाथ राय के ललित निबन्ध

KUBERNATH RAY KE LALITH NIBANDH

Thesis submitted to the
Cochin University of Science and Technology
for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

SREEDEVI G.

Prof. & Head of the Dept.
Dr. P. V. VIJAYAN

Supervisor
Dr. N. G. DEVAKI

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1991

DECLARATION

I hereby declare that the Thesis entitled

"KUBERNATH RAY KE LALITH NIBANDH"

has not previously formed the basis of the award of any degree, diploma, associateship, fellowship or other similar title or recognition.

Sreedevi. G.

SREEDEVI G.

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi – 22

30.12.1991.

CERTIFICATE

This is to certify that this Thesis is a bonafide record of work carried out by **SREEDEVI G.** *under my supervision for Ph.D Degree and no part of this thesis has hitherto been submitted for a degree in any University.*

Devaki

Dr. N. G. Devaki
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi – 22.

30.12.1991.

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi – 22 during the tenure of scholarship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

Sreedevi G.

SREEDEVI G.

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi – 22

30.12.1991

"विषय के आसपास शिव के सांढ
की भांति मुक्त चरण और विचरण
"ललित निबन्ध" है ।"

प्रस्तावना

ललित निबन्ध आत्मपरकता, व्यक्तिव्यंजक अभिव्यक्ति, काव्यात्मक सौन्दर्य, स्वतंत्र अस्तित्व, लालित्य और मनोरमता के कारण अपना अलग स्थान रखता है। संस्कृति की अभिव्यक्ति से उसमें अन्तर्निहित मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रखना ललित निबन्धकार का कर्तव्य है। इसकेलिए ललित निबन्धकार का स्वतंत्र अस्तित्व आवश्यक है, जिससे ललित निबन्ध में निबन्धकार का प्रमुख स्थान भी होता है। आधुनिक परिवर्तनों के अनुरूप ललित निबन्ध ने जिन प्रवृत्तियों को ग्रहण किया, उनसे मूल्यगत आन्तरिक सौन्दर्य, विषय का क्रमिक विकास, सहज-संपुष्ट-अलंकृत भाषा का प्रयोग, प्रत्येक शब्द का सतर्क सुनियोजन, तथा प्रथम पुरुष की अभिव्यक्ति उपलब्ध हैं।

कुबेरनाथ राय पूर्णतः ललित निबन्ध क्षेत्र पर विशिष्ट ध्यान देकर उसकी सूक्ष्म और व्यापक संभावनायें प्रस्तुत कर रहे हैं। इसलिए "कुबेरनाथ राय के ललित निबन्ध" विषयक अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है। शोधार्थी ने एम. फिल केलिए कुबेरनाथ राय के "महाकवि की तर्जनी" और "त्रेता का बृहत्साम" पर लघु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किय था। उस समय कुबेरनाथ जी के विशेष महत्व, प्रभाव, प्रतिभा, दिशागत संदेश, गहन विज्ञान का वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ। इससे प्रेरणा ग्रहणकर कुबेरनाथ राय के संपूर्ण ललित निबन्धों का आत्मगत सौन्दर्य तथा उनमें उपलक्षित अग्रिम-उदात्त आशय को प्रस्तुत किया गया है।

ललित निबन्धों पर विशेष अध्ययन करने केलिए आलोचनात्मक रचनायें बहुत कम ही उपलब्ध हुआ। कुबेरनाथ जी के मूलग्रंथों से ही दिशा निर्देश मिला और गंभीर, विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति करने में सहायता प्राप्त हुई। अमिता सिंह का "कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य" इस क्षेत्र में एक उल्लेखनीय प्रयास है। इसमें रायजी के ललित निबन्ध की विकास यात्रा का चित्र है, जिससे उनके प्रकृतिपरक,

रामकथात्मक, संस्कृतिपरक दृष्टिकोण का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है । फिर भी कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में जिन-जिन तकनीकों का प्रयोग हुआ है, उस पर विशेष अध्ययन उस ग्रंथ में नहीं हुआ है । भावगत वैशिष्ट्य, सांस्कृतिक दृष्टिकोण, काव्यमय भावना, शिल्पगत अभिव्यक्ति पर अधिक ज़ोर देना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य रहा है ।

कुबेरनाथ रायजी ने पिछले अठारह वर्षों (1968-1986) में तेरह निबन्ध-संग्रह प्रकाशित किए, जिनमें उनके विविध अभिव्यक्ति संकेतों द्वारा विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डाल सकते हैं ।

सात अध्यायों में सुनियोजित प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध रायजी के ललित निबन्धों की प्रासंगिक गरिमा तथा परिवर्तनीय सांस्कृतिक, मूल्यगत जीवन-दृष्टि का प्रमाण है ।

प्रथम अध्याय में आत्मपरक कला-व्यंजक ललित निबन्ध और बुद्धिपरक तार्किक निबन्ध का अन्तर व्यक्त है ।

"कुबेरनाथ राय के रसात्मक ललित निबन्ध" शीर्षक दूसरे अध्याय में रायजी की रसमय अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य स्पष्ट है । भाषा के विविध आयामों से अभिव्यक्ति शैली उत्कृष्ट बन गई है ।

तीसरा अध्याय "कुबेरनाथ राय के लोकसंस्कृति परक ललित निबन्ध" मूलतः आदिम दार्शनिक मूल्यों और सामाजिक एकता का निशान है । भविष्योन्मुखी रायजी का मूल्य यहाँ प्रकट होता है ।

चौथे अध्याय "कुबेरनाथ राय के रामकथात्मक ललित निबन्ध" में भारतीय संस्कृति के शीलबोध और सौन्दर्य बोध की एकता का चित्र प्रस्तुत हुआ है ।

"कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में संस्कृति की अभिव्यक्ति" शीर्षक पाँचवें अध्याय में भारतीय संस्कृति के बौद्धिक और भावात्मक आयामों का विस्तार है ।

छठे अध्याय "कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों की प्रविधि" में रायजी के लालित्य, कल्पना-प्रवणता, भावना का क्रमिक विकास, लयात्मक सौन्दर्य आदि की गुंजाइश है । विषय में अन्तर्निहित मूल्यों की पहचान इस पर दर्शित है ।

"कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों का मूल्यांकन - प्रतिनिधि ललित निबन्धकारों के संदर्भ में" शीर्षक सातवें अध्याय में ललित निबन्ध क्षेत्र के वरेण्य आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, व्यक्ति व्यंजक अभिव्यंजना के निरीक्षक डॉ. विद्यानिवास मिश्र तथा कोमल कलात्मक भावनाकार श्री. कुबेरनाथ राय का अपूर्व मिलन हुआ है ।

यह शोध-प्रबन्ध इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्राध्यापिका डॉ. एन.जी. देवकी के विद्वतापूर्ण निर्देशन और निरन्तर प्रोत्साहन से संपन्न हुआ है । मैं उनके प्रति सर्वथा आभारी हूँ ।

निबन्ध के क्षेत्र में आलोचनात्मक ग्रंथ कम होते हुए भी जिन-जिन ग्रंथों से मुझे सामग्री प्राप्त हुई उन ज्ञात-अज्ञात लेखकों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ ।

इस विभाग के अध्यक्ष डॉ. पी. वी. विजयन से भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर शोध कार्य केलिए काफ़ी प्रोत्साहन दिया है ।

पुस्तकालय को अध्यक्षा के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इसकी प्रस्तुति केलिए सहयोग दी है । मेरे इस सारस्वत कार्य में यदि कहीं कुछ त्रुटियाँ हों तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ, क्योंकि मानव के प्रयास में त्रुटियाँ और कमियाँ स्वाभाविक है, मैं भी उसका अपवाद नहीं हूँ ।

Sreedevi.G.

श्रीदेवी. जी.

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोचिन - 682022.

विषय सूची

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्ध

		पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना	-	
अध्याय - एक	-	1 - 24

निबन्ध तथा ललित निबन्ध : स्वरूप और शिल्प-विधान

निबन्ध का स्वरूप - निबन्ध की परिभाषा - निबन्ध की विशेषताएँ - निबन्ध के प्रकार - निबन्ध की भाषा - निबन्ध की शैली - निबन्ध का उद्‌भव एवं विकास - भारतेंदुयुग - द्विवेदीयुग - शुक्ल युग - शुक्लोत्तर युग - निबन्ध और ललित निबन्ध - ललित निबन्ध का स्वरूप - ललित निबन्ध की परिभाषा - ललित निबन्ध की विशेषताएँ - ललित निबन्ध के तत्त्व - ललित निबन्ध के शिल्प - प्रमुख ललित निबन्धकार - निष्कर्ष ।

अध्याय - दो	-	25 - 93

कुबेरनाथ राय के रसात्मक ललित निबन्ध

प्रिया नीलकण्ठी - रस आखेटक - गन्धमादन - विषाद योग - पत्र मणिमुतुल के नाम - दृष्टि अभिसार - निष्कर्ष ।

अध्याय - तीन - 94 - 143

कुबेरनाथ राय के लोकसंस्कृति परक ललित निबन्ध

निषाद बाँसुरी - पर्णमुकुट - कामधेनु - किरात नदी में चन्द्रमधु - मनपवन की नौका - निष्कर्ष ।

अध्याय - चार - 144 - 175

कुबेरनाथ राय के रामकथात्मक ललित निबन्ध

महाकवि की तर्जनी - त्रेता का बृहत्साम - निष्कर्ष ।

अध्याय - पाँच - 176 - 203

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में संस्कृति की अभिव्यक्ति

संस्कृति क्या है? - भारतीय संस्कृति - लोक संस्कृति - कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति का स्वतंत्र चित्रण - पौराणिक ग्रंथों के आधार पर कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति का चित्रण - कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में लोक संस्कृति का स्वरूप - निष्कर्ष ।

अध्याय - छः - 204 - 230

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों की प्रविधि

सौन्दर्यतत्व एवं लयात्मक गद्य - भाषा - प्रबन्धन् - शैली - शीर्षक - मिथक - निष्कर्ष ।

अध्याय - सात - 231 - 251

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों का मूल्यांकन -
प्रतिनिधि ललित निबन्धकारों के संदर्भ में

ललित निबन्धकार आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी -

ललित निबन्धकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र -

निष्कर्ष

उपसंहार - 252 - 258

परिशिष्ट

ग्रंथ-सूची

अध्याय - एक

निबन्ध तथा ललित निबन्ध : स्वरूप और शिल्प-विधान

आधुनिकता का मूल स्वर बौद्धिकता या वैचारिकता है । पश्चिमी और पूर्वी साहित्य में आधुनिकता के इस मूल स्वर की अभिव्यक्ति के लिए विवशता महसूस की गई । स्वच्छंदता और आधुनिकता को प्रवृत्ति फैलाव की न होकर गहराई में उतरने को है । साहित्य में वैचारिकता और बौद्धिकता की अभिव्यक्ति-क्षमता गद्यात्मक भाषा-शैली में है । अतः आधुनिकता की अभिव्यक्ति गद्य-शैली में होनी चाहिए । निबन्ध के विषय-तत्व की मूल बिंदु विचार है । रचना में भाव का निष्पादन अनुभूति के रूप में होता है और विचार का चिन्तन के रूप में ।

गद्य की श्रेष्ठ विधा निबन्ध का उदय सर्वत्र एक ही ढंग या पद्धति पर नहीं हुआ, यूरोप के विभिन्न देशों में इसका उद्गमन अलग-अलग स्वतंत्र रूप से हुआ है । एक हद तक अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण इसका उदय हमारे देश में पहले बंगला और मराठी में हुआ, कुछ बाद हिन्दी में । हिन्दी साहित्य में निबन्धों के विकास को अपनी परंपरा है । हिन्दी साहित्य में निबन्ध विधा का आरंभ भारतेंदुयुग से माना जाता है और औद्योगीकरण के समानान्तर गद्य का विशेषकर निबन्ध का विकास होता रहा । ज्यों-ज्यों औद्योगिक विकास की गति हिन्दी क्षेत्र में बढ़ती गयी, त्यों-त्यों निबन्ध-साहित्य की श्रीवृद्धि नाना रूपों, रंगों और परिधानों में होने लगी । सबसे पहले मासिक पत्रों एवं साप्ताहिकों में यह छपा रहा था ।

निबन्ध का स्वरूप

"निबन्ध" शब्द काफी प्राचीन है ।[1] आज हिन्दी में "निबन्ध" अंग्रेज़ी के एस्से का पर्यायवाची है । "निबन्ध" शब्द संस्कृत से हिन्दी में आया । नि+बंध्+घञ् = निबन्ध §प्रत्यक्षरश्लेष्मयप्रबंध-विन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबंधं चक्रे§[2] । निबन्ध का

---

1. दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
   मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातो सि पाण्डव ।। - महाभारत, भीष्म पर्व श्लोक सं. 5
2. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, द्वि.सं. 1969.

अर्थ बांधना, मतलब अच्छीतरह से किसी वस्तु अथवा विचार को बाँधना है । निबन्ध में निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की श्रृंखला बाँधती, रोकती और संगृह करती जाती है ।

निबन्ध से मिलते जुलते दो शब्द हिन्दी में प्रचलित है - लेख और प्रबन्ध । लेख ऐसी गद्य रचना है जिसमें किसी वस्तु या विषय पर निर्वैयक्तिक ढंग से विचार व्यक्त किया जाता है । अनेक विषयों पर अनेक मतों के संग्रह को प्रबन्ध कहा जाता है । ये निबन्ध के अधिक निकट हैं । डॉ. जयनाथ नलिन के शब्दों में, "लेखक और पाठक के बीच निबन्ध सबसे छोटा सरल और सीधा राजपथ है । निबन्ध-लेखक एक साथी के समान पाठक के सामने हृदय खोलकर रखता है और पाठक सीधे और सही रूप में लेखक से परिचय पाता है ।"[1]

निबन्ध की परिभाषा

निबन्ध की परिभाषाओं में नूतन रचनाओं के आधार पर परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन करते रहते हैं । अन्य विधाओं के समान इसमें भी नयो-नयो प्रणालियाँ प्रयुक्त होती जा रही हैं । मौनतेन ने निबन्ध में आत्माभिव्यक्ति को प्रधानत दी है ।[2] हडसन के विचारानुसार यथार्थ निबन्ध अवश्य ही वैयक्तिक है ।[3]

हिन्दी साहित्य के प्रमुख आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने निबन्ध को गद्य को कसौटी माना है । "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य को कसौटी है ।"[4] उन्होंने निबन्ध की व्यक्तिगत विशेषता को प्रधानता दी ।

---

1. हिन्दो निबन्धकार, डॉ. जयनाथ नलिन, पृ: ।.
2. I desire there in to be delineated in mine own genuine simple and ordinary fashion, without contention, art or study, for it is myself I pourtray.
3. True essay is essentially personal.
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ: 482.

डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भावों और विचारों की विशिष्टता तथा शैली की रमणीयता के योग से युक्त साहित्यिक विधा को निबन्ध माना है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वयं एक ललित निबन्धकार होने के कारण उनकी परिभाषा में ललित निबन्ध के स्वरूप और तत्त्वों की विशेषतायें ही परिलक्षित हैं । इन परिभाषाओं पर ध्यान देने पर यह विदित होता है कि आकार में लघु, निजीपन और वैयक्तिकता से युक्त स्वच्छन्द, सजीव, रोचक शैली से युक्त साहित्यिक विधा निबन्ध है ।

निबन्ध की विशेषताएँ

निबन्ध में रचयिता का स्थान प्रधान है । विश्व की तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी निबन्ध का विषय है । मतलब विषय जो भी हो उसे अभिव्यक्त करने की रीति मुख्य है । निबन्ध केवल वर्णन मात्र न होकर निबन्धकार की प्रतिभा की झलक है । वह स्वतः पूर्ण रचना है । भारतेंदुयुग में निबन्धकार और पाठक के बीच आत्मीयता और निबन्ध-लेखन की विभिन्न शैलियों का उदय हुआ । द्विवेदीयुग निबन्ध को भाषा, विषय, भाव और शैली से परिपुष्ट है । इस युग में विचारात्मक निबन्धों को विशेष सफलता प्राप्त हुई । शुक्लयुग के निबन्धकारों ने अनेक शैक्षणिक निबन्ध लिखे । इन्होंने निबन्ध को अपनी ज्ञान-गरिमा के प्रकाशन का और तत्त्व-चिन्तन की अभिव्यक्ति का साधन बनाया । इस युग की निबन्ध-पद्धति वस्तु-निष्ठ और विचारात्मक थी । शुक्लोत्तर युग में आकर निबन्ध में नई-नई शैलियों का निर्माण हुआ और कलात्मक या ललित निबन्ध का विकास होने लगा । ललित निबन्धों में निबन्धकार का व्यक्तित्व निबन्ध की भंगिमा और शैली में झलकता है ।

निबन्ध के प्रकार

बाह्य और आन्तरिक विविधता के आधार पर निबन्ध को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं - वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक और भावात्मक निबन

1. वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays)

वर्णनात्मक निबन्धों में किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, समारोह, मेले और यात्रा का वर्णन किया जाता है । प्रत्यक्ष वर्णन के साथ कल्पना का सहारा लिया जाता है । लंबी-चौड़ी विवेचना केलिए व्यास-शैली का प्रयोग है ।

2. विवरणात्मक निबन्ध (Narrative Essays)

इस कोटि के निबन्धों में वस्तु को उसके स्थिर रूप में न देखकर उसके गतिशील रूप में देखता है । किसी घटित घटना, देखा हुआ स्वप्न, आत्म कहानी, जीवन-चरित्र और किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण इन निबन्धों में होता है । इसमें व्यास-शैली का प्रयोग है ।

3. विचारात्मक निबन्ध (Reflective Essays)

किसी विशेष विषय पर लिखे गये विचारपूर्ण निबन्ध विचारात्मक निबन्ध से जाने जाते हैं । इसमें चिन्तन, मनन और अध्ययन की प्रमुखता है । ये निबन्ध व्यास और समास शैली में लिखते हैं ।

4. भावात्मक निबन्ध (Emotional Essays)

भावात्मक निबन्धों में विचारात्मकता को अपेक्षा भावात्मकता को महत्ता है । इनमें हमारे मन में उठनेवाले सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा आदि कोमल और कठोर भावों का प्रवाह है । निबन्धकार कल्पना के सहारे इन भावों को प्रत्यक्ष करते हैं । इनमें धारा और विक्षेप शैली का प्रयोग है ।

निबन्ध के तत्त्व

चारों प्रकार के निबन्धों केलिए एक-न-एक तत्त्व भी होता है । निबन्ध के पाँच तत्त्व होते हैं - बुद्धि तत्त्व, अनुभूति तत्त्व, कल्पना तत्त्व, अहं तत्त्व और शैली तत्त्व ।

1. बुद्धि तत्त्व

निबन्धकार प्रत्येक वस्तु के पक्ष-विपक्ष का तर्कपूर्ण अध्ययन कर उसका विश्लेषण करते हैं ।

2. अनुभूति तत्त्व

जीवन का अनुभव और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उद्भूत भाव निबन्ध का विषय बनता है ।

3. कल्पना तत्त्व

किसी भी साहित्यिक विधा को सर्जना केलिए अनुभूति, विचार आदि के साथ कल्पना-तत्त्व भी आवश्यक है । सारे निबन्धों में निबन्धकार कल्पना का सहारा लेते हैं, लेकिन उसके परिमाण में भिन्नता अवश्य है ।

4. अहं तत्त्व

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति जो समाजसापेक्ष है, निबन्धों में ही सबसे अधिक होती है । निबन्धों में व्यक्तित्व का यह प्रभाव अधिक है ।

5. शैली तत्त्व

शैली निबन्ध का प्राण है । शैली में निबन्धकार का पूर्ण अधिकार हो तो निबन्ध अवश्य ही उच्चकोटि का बनता है ।

निबन्ध की भाषा

निबन्ध की भाषा में विचारात्मकता के साथ अर्थ-गांभीर्य, आलोचनात्मकता के साथ अभिव्यंजना, सरसता के साथ बुद्धि वैलक्षण्य, रोचकता के साथ पांडित्य दर्शित है । समसामयिक बोलचाल की पदावली के प्रयोग से निबन्ध अधिकाधिक लोकप्रिय और मनोरंजक बन जाता है । भाषा को अर्थगांभीर्यपूर्ण बनाने केलिए कहावतों और मुहावरों का प्रयोग करते रहते हैं । अलंकारों के प्रयोग से निबन्ध की भाषा कलात्मक ओर चमत्कारपूर्ण हो

जाती है । सूक्तियों से भाषा का शृंगार बढ़ा सकते हैं और व्यंग्य-विनोद से भाषा मनोरंजक और मार्मिक बनती है । चित्रात्मकता से किसी दृश्य या वातावरण का चित्र पाठकों के समक्ष खींच सकते हैं ।

निबन्ध की शैली

अभिव्यक्ति की कला ही शैली है । यह निबन्ध को व्यक्तित्व प्रदान करती है और प्राणवान भी बनाती है । "विचार या भाव तो निबन्ध की आत्मा है, भाषा शरीर और शैली जीवन या प्राण ।"[1] प्रत्येक निबन्धकार की अपनी शैली होती है । मुहावरों, लोकोक्तियों और अलंकारों के प्रयोग से वाक्य साधारण और सरल बनता है । इन विशेषताओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने अनेक शैलियों का नाम दिया है ।

प्रसाद शैली

प्रसाद शैली में भाषा अभिधात्मक, सुबोध, मधुर और स्पष्ट है । इसका प्रयोग प्रायः सभी निबन्धों में है परन्तु वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में ही अधिक है ।

व्यास शैली

एक ही बात, भाव या विचार को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहना इस शैली की विशेषता है । वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में इसका प्रयोग है ।

समास शैली

कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचार प्रस्तुत कर सकते हैं । संस्कृत शब्दों की बहुलता, मिश्रित और संश्लिष्ट वाक्यों का प्रयोग, एक के बाद एक मिले-जुले शब्दों का अंकन, शब्द-संकोच आदि इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं । वैचारिक निबन्धों में इस शैली का प्रयोग है ।

---

1. हिन्दी निबन्धकार, डॉ. जयनाथ नलिन, पृ: 30.

विवेचन शैली

इसमें तर्क-वितर्क, प्रमाण-पुष्टि, व्याख्या-विवेचना, निर्णय-परीक्षा आदि का समावेश है । शब्द और अर्थ में गहनता, गंभीरता और सघनता है ।

विक्षेप शैली

विक्षेप शैली में सहसा भावों की गति में बाधा पड़ती है, तुरन्त अन्य भाव उमड़ आता है । यही प्रलाप शैली में भी होता है । भावात्मक निबन्धों में विक्षेप शैली का प्रयोग है ।

आवेग शैली

भाव और विचार बाढ़-सी उमड़ आती है । छोटे-छोटे सरल वाक्य लहरों जैसे लगते हैं । भावात्मक निबन्धों में इस शैली का प्रयोग है ।

व्यंग्य शैली

इस शैली में व्यंग्य और चुटीलेपन की प्रमुखता है । यह भावात्मक है और विचारात्मक भी हो सकती है । इसका व्यंजनार्थ बड़ा गहरा और नुकीला होता है

धारा शैली

इसमें निबन्धकार के भावों की गति निश्चित वेग से आगे बढ़ती रहती है और जो भाव पीछे व्यक्त किया गया है, उसका निर्वाह निर्बाध गति से होता जाता है । इसमें हृदयगत भाव मुख्य है, फिर भी बुद्धि और विचारों की उपस्थिति सदैव होती है ।

निबन्ध का उद्भव एवं विकास

निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं से आरंभ होकर विकसित होनेवाली साहित्यिक विधा है । इसे चार युगों में विभाजित किया गया है - भारतेंदुयुग, द्विवेदीयुग, शुक्लयुग और शुक्लोत्तर युग ।

भारतेंदुयुग (सन् 1873 ई. से सन् 1900 ई. तक)

यह हिन्दी निबन्ध का जन्मकाल है। निबन्ध-साहित्य का जनक भारतेंदु माना जाता है। इसलिए इस युग का नाम भारतेंदुयुग हो गया। "स्वर्ग में विचार-सभा", "संगीत", "साज", "एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न", खुशी, सूर्योदय आदि इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। इनके निबन्धों में हास्य-व्यंग्य के मार्मिक स्वर हैं। प. बालकृष्ण भट्ट ने भारतेंदु के विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों की शैली को आगे बढ़ाया। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाकृष्णदास आदि इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। भारतेंदुयुगीन निबन्धकारों ने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध साहित्य को समृद्ध बना दिया। उस युग में प्रचलित समाज-सुधार की भावना और राजनीतिक चेतना का स्पष्ट प्रभाव इन निबन्धों में है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, यात्रावर्णन, प्रकृति-चित्रण एवं व्यंग्य जैसे विषयों पर इस युग में निबन्ध लिखे गये। डॉ. ओंकारनाथ शर्मा के शब्दों में, "इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि सभी प्रकार की शैलियाँ भी अपनाई गईं।"[1]

द्विवेदीयुग (सन् 1900 ई. से सन् 1920 ई. तक)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने निबन्ध को एक सुव्यवस्थित रूप दिया इस युग में नैतिक निबन्ध लिखे जाने लगे, जिनमें पत्रकारिता को स्वच्छन्दता के स्थान पर विवेचना और गांभीर्य की वृद्धि हुई। निबन्धों में हार्दिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया। "सरस्वती" पत्रिका का संपादन करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने धर्म, विज्ञान, साहित्य, समाज, राजनीति आदि विविध विषयों पर निबन्ध लिखे। "साहित्य, की महत्ता", "समालोचना का सत्कार", "कवि-कर्तव्य" आदि उनके मशहूर निबन्ध हैं। उन्होंने एक सफल निबन्धकार होने के नाते भाषा, भाव, शैली आदि सभी दृष्टियों से निबन्धों का परिमार्जन किया। पं. माधवप्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, चन्द्रधरशर्मा गुलेरीजी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं. पद्मसिंह शर्मा आदि इस युग के प्रसिद्ध

---

1. हिन्दी निबन्ध का विकास, डॉ. ओंकारनाथ शर्मा, पृ: 135.

निबन्धकार हैं । इस युग के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक हैं । निबन्धों का सर्वाधिक महत्व उनके भाषा-परिष्कार के कारण हुआ । शैली में परिष्कार, रोचकता और नूतनता लाने को चेष्टा की गई ।

शुक्लयुग (सन् 1920 ई. से सन् 1940 ई. तक)

यह युग निबन्ध-साहित्य का उत्कर्ष युग है । इस युग की निबन्ध-पद्धति वस्तुनिष्ठ एवं विचारात्मक होने के साथ-विविध गद्य-शैलियों से युक्त थी । भाषा-परिष्कार एवं अर्थ-गांभीर्य शुक्लयुग के निबन्धों की विशेषता है । प्रमुख निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में आने से उसको एक नया जीवन प्राप्त हुआ । निबन्ध की भाषा गंभीर, सजीव और व्याकरण सम्मत है तथा विचारधारा श्रृंखलाबद्ध और तर्कपूर्ण है । "द्विवेदीयुग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ, किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी ।"[1] शुक्लजी के निबन्ध "चिन्तामणि" भाग-1, भाग-2, भाग-3 और "विचार वीथी" में संकलित हैं । डॉ. गुलाबराय, श्री. माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ. धीरेन्द्रवर्मा, श्री. वियोगीहरि, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं । वैयक्तिकता की प्रमुखता इस युग की विशेषता है । विचारात्मक और आत्मपरक निबन्धों की रचना अधिक हुई ।

शुक्लोत्तर युग (सन् 1940 ई. से अब तक)

शुक्लोत्तर युग में नवीन संदर्भों के अनुरूप गद्य-भाषा का नवीन रूप प्रयुक्त होने लगा । रचनाकार और पाठक के बीच का अन्तर कम हो गया, इसके फलस्वरूप दोनों में तादात्म्य पाने की शक्ति प्रबल होती जा रही है । वैयक्तिक निबन्ध को आत्मीयता का सफल रूप में प्रचलन इस युग का श्रेष्ठ कार्य है । प्रथम पुरुष का प्रयोग इस युग के निबन्धों की विशेषता है । डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इस युग के श्रेष्ठ वैयक्तिक या ललित निबन्धकार हैं । इनके "आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - खंड नौ और खंड दस" निबन्ध-संग्रहों में संग्रहीत निबन्धों में संस्कृति-प्रेम, देश-प्रेम, गंभीर विद्वता तथा

---

1. काव्य के रूप, डॉ. गुलाबराय, पृ: 235.

सरसता का एकसाथ समन्वित रूप मिलता है । जैनेन्द्रकुमार, शान्ति प्रियदिवेदी, डॉ. नगेन्द्र, श्रीमती, महादेवी वर्मा, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, श्री. कुबेरनाथ राय, हरिशंकर परसाई आदि इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं ।

निबन्ध और ललित निबन्ध

निबन्ध में विचारात्मक और भावात्मक बोध है तो भी बुद्धितत्व की प्रधानता है । इसके विपरीत ललित निबन्ध में भावतत्व प्रधान है । विचार भाव के अन्दर ही प्रकट होता है । इसके अतिरिक्त ललित निबन्ध में जो काव्यात्मकता है वह निबन्धों में नहीं मिलती । इसलिए ललित निबन्ध गद्यगीत के अधिक निकट है । शिल्प में जो परिवर्तन आ गया है वह भी निबन्ध को ललित निबन्ध से अलग बनाता है तथा ललित निबन्ध को विशिष्टता प्रदान करता है । जैसे लयात्मक सौन्दर्य, प्रबन्धन, मिथक, भाषा, शीर्षक आदि का जो तकनीक ललित निबन्ध में है वह निबन्ध में नहीं । प्रथम पुरुष के प्रयोग से ललित निबन्ध अधिक स्वतंत्र और आत्मीय हो गया है । ललित निबन्ध अपनी भाव-विचार मूलक अभिव्यक्ति से एक पूर्ण रचनात्मक अस्तित्व रखता है । ललित निबन्ध सृजनात्मक विधा है जबकि निबन्ध सैद्धान्तिक विवेचना है ।

ललित निबन्ध का स्वरूप

मोनतेन निबन्ध का जनक माना जाता है और 19 वीं शती के उत्तरार्ध में आकर वैयक्तिक निबन्धों की रचना ज़ोर पकड़ी है । चार्ल्स लैम्ब, चेस्टर्टन, बैलाक अ प्रमुख निबन्धकारों में से हैं । बीसवीं शती में हेराल्ट जे लास्की, एच.जी. वेल्स, लुकास आदि अधिक प्रसिद्ध हुए और उनहोंने मोनतेन की धारा को प्रशस्त बनाने में योग दिया

अंग्रेज़ी निबन्ध-साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि ललित निबन्धों के आते-आते विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये गए । विभिन्न विषयों को निबन्ध का माध्यम बनाया गया, अर्थात् गंभीर से गंभीर तथा साधारण से साधारण विषयों का उल्लेख हो गया । इसप्रकार विषय प्रधान और व्यक्ति प्रधान निबन्धों की दो धारायें

उपलब्ध हुई । बेकन विषय प्रधान निबन्धों के समर्थक हैं तो मोनतेन व्यक्तिप्रधान निबन्धों के । आगे इस तार्किक और वस्तुप्रधान निबन्धों की अपेक्षा मोनतेन के व्यक्तिप्रधान निबन्य ज़ोर पकड़ा गया । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार, "अंग्रेज़ी साहित्य में वैयक्तिक निबन्ध एक प्रकार की गद्यमयी व्यक्तिप्रधान रचना है जो मन की भावानुकूल दिशा में निर्मित होती है, अतः इसमें लेखक का मन तरंगों में लहराता है, निजी उमंगों में विहार करता है, मन-तरंग समाप्त होने पर निबन्ध समाप्त हो जाता है ।"[1] पश्चिम के व्यक्तिव्यंजक निबन्धों (Personal Essays) का "मैं" "हम" का विरोधी है । लेकिन हिन्दी के ललित निबन्धों का "मैं" "हम" की अभिव्यक्ति का एक शक्तिशाली माध्यम है । इसलिए हिन्दी के ललित निबन्ध की अपनी मौलिक परंपरा है ।

हिन्दी में भारतेंदुयुग से निबन्धों में व्यक्तित्व का प्राधान्य हुआ और उसे आगे बढ़ाने में आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने महत्वपूर्ण योग दिया । इसे अधिक मौलिक बनाने में डॉ. विद्यानिवास मिश्र, श्री. कुबेरनाथ राय आदि अपनी रचनाओं द्वारा सफल प्रयास करते रहते हैं । इसप्रकार ललित निबन्ध में काव्यात्मकता और वैज्ञानिकता का समानान्तर प्रवाह हो रहा है । "अपनी अनियंत्रित कल्पना के कारण निबन्ध एक ओर कविता हो जाता है तो दूसरी ओर सावधान-सतर्क सूक्ष्मेक्षण के कारण विज्ञान बन जाता है ।"[2] रस और बोध संपृक्त रचना है ललित निबन्ध । कुबेरनाथजी ललित निबन्ध को ऐसी विधा मानते हैं कि वह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है । "यह शुद्ध गद्यकाव्य न होकर एक दृष्टि-संपन्न विधा है । इसीसे यह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है ।"[3] इसमें जीवन का व्यक्त दृष्टिकोण है । इसलिए यह स्वयंपूर्ण और संपूर्ण साहित्य है ।

ललित निबन्ध का "व्यक्तिपरक निबन्ध" नाम पाठकों में यह भ्रांति उत्पन्न करती है कि वह वस्तुनिष्ठ रम्य रचना न होकर लेखक की आत्मकथा का अंश है ।

---

1. निबन्ध-विषय (प्राक्कथन), आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ: 10-11.
2. प्रकार, सितंबर, 1989.
3. दृष्टि अभिसार, कुबेरनाथ राय, भूमिका, पृ:5.

इसलिए कुबेरनाथजी ने इस नाम को नहीं स्वीकारा है । वे व्यक्त करते हैं कि इसमें "मैं" समूहवाचक सर्वनाम होता है "व्यक्ति-परक निबन्धों में लेखक का जीवन नहीं उसका "व्यक्तित्व" व्यक्त होता है और वह भी "तथ्य" में नहीं बल्कि भंगिमा और शैली में ।"[1] ललित निबन्ध एक लालित्य बोध पर आधारित रहता है । इसमें सब कुछ प्रतिपादित करने का अधिकार है, क्योंकि यह एक स्वतंत्र विधा है ।

ललित निबन्ध की परिभाषा

ललित निबन्ध की अनेक परिभाषायें मिलती हैं, उन सब में उसके रसात्मक सौन्दर्य की प्रधानता व्यक्त है । "ललित निबन्ध एक प्रकार की गद्यमयी सृजनात्मक रचना है, जिसमें किसी विषय-वस्तु के माध्यम से निबन्धकार का मन भाव-तरंगों में लहराता है, निजी उमंगों में विहार करता है और निबन्ध के समाप्त होने के साथ तरंगों का ज्वार भी समाप्त हो जाता है ।"[2] इस परिभाषा में मन की भाव-दशा को संवेगात्मक अनुभूति के क्षणों का अंकन ललित निबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का बोध कराता है । हमारे मतानुसार भी कविता, कहानी, उपन्यास या नाटक के समान ललित निबन्ध निश्चय ही एक सृजनात्मक विधा है ।

"लेखक के निजी सौन्दर्य-विधान के माध्यम से प्रस्तुत समष्टिगत जीवन-मूल्य की रचनात्मक अभिव्यक्ति ललित निबन्ध है ।"[3] रचनाकार जिस परिवेश को भोगता है वही उसका सौन्दर्य है, जिसमें अनुभूति व समझ दोनों प्रकार के तत्त्व निहित हैं ।

"वैयक्तिक निबन्धकार किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि पर निबन्ध लिखते हुए अपने मन की प्रतिक्रिया, प्रभाव, अरुचि आदि वैयक्तिक विशेषताओं को ही अधिक व्यक्त करते हैं, उनके वस्तुगत का निरूपण उसमें गौण हो जाता है ।"[4] वैयक्तिक विशेषताओं के समष्टिगत सौन्दर्य यहाँ स्पष्ट है ।

---

1. दृष्टि अभिसार, कुबेरनाथ राय, भूमिका, पृ: 7.
2. ललित निबन्ध (भूमिका), केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, पृ: 4.
3. साहित्य : आधुनिकता और आयाम, डॉ. हर्षनारायण नीख, पृ: 146.
4. निबन्ध-विषय (प्राक्कथन, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ: 10-11.

शैली और आकृति दोनों दृष्टियों से यह सर्वथा मुक्त विधा है । ललित निबन्धकार किसी भी तरह की शैली स्वीकार कर सकता है । "विषय के आसपास शिव के सांढ की भांति मुक्त चरण और विचरण "ललित निबन्ध" है ।"[1] ललित निबन्ध की शैली संदर्भगत होनी चाहिए तथा आकृति निबन्ध, व्याख्यान, फन्तासी, फीचर-लेखन, व्यक्ति-चित्रण, स्केच, रिपोर्ताज आदि कुछ भी हो सकती है । कुबेरनाथ जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की - "शास्त्र-वृक्ष की आनन्द जुगाली का नाम है ललित निबन्ध" - तथा मं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की - "जो निबन्ध एक ही साथ काव्य और शास्त्र दोनों हो वह है ललित निबन्ध" इस परिभाषा का ही समर्थन करते हैं ।

ललित निबन्ध की विशेषताएँ

ललित निबन्ध में निबन्धकार के हृदय में उत्पन्न भावों की अभिव्यक्ति उपलब्ध है । डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "निबन्ध वही साहित्यिक रूप है, जिसमें लेखक ने प्रतिपाद्य विषय के भीतर ही अपनी रुचि, भावना और विचारों को स्वच्छ भाव से अभिव्यक्ति की है ।"[2] ललित निबन्ध में विषय की अभिव्यक्ति प्रमुख है । विषय को प्रतिपादित करने की रीति, प्रतिक्रिया और दृष्टिकोण पर अधिक ध्यान देते हैं ।

निबन्ध में लालित्य होना ललित निबन्ध की प्रमुख विशेषता है । लालित्य तथा भाव-प्रवाह को ललित निबन्ध का मूल मानते हुए प्रसिद्ध ललित निबन्धकार कुबेरनाथ रायजी का यह मत उल्लेखनीय है, "ललित निबन्ध एक "लालित्य बोध" या "रसबोध", पर आधारित होता है । भले ही यह रस "नीम पाक" या "करेला पाक" हो । रम्य अर्थात् रमणीय सदैव मधुर के अर्थ में ही नहीं गृहीन होता है । कोई भी अनुभव जो प्रगाढ़ और गहन-गंभीर हो, जो उदात्त हो, जो चित्त को विस्तृत करके "स्व" की कोटर से हमें मुक्त कर दे, या कम से कम जो चित्त को चमत्कृत कर सके, वह सब रम्य या रमणीय कहे जाने का अधिकारी है । ललित निबन्ध गद्य में प्रस्तुत "रम्य रचना" है ।"[3] मन की मौज, सांस्कृतिक चेतना, प्रकृति चित्रण, मिथक, लोक संस्कृति का वैभव, सामाजिक एकता,

---

1. दृष्टि अभिसार, भूमिका, कु. राय, पृ: 5.
2. निबन्ध-संग्रह, डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदो, भूमिका
3. दृष्टि अभिसार, भूमिका, कु. राय, पृ: 8.

वैयक्तिकता, अहं का साधारणीकरण आदि ललित निबन्ध की शोभा बढ़ानेवाली विशेषताएँ हैं । इनके द्वारा निबन्धकार भाषा में काव्यात्मकता और आन्तरिक लय की सृष्टि करते हैं । इसमें ललित निबन्धकार सांस्कृतिक चेतना से कटकर नहीं रह सकते ।

वैयक्तिकता ललित निबन्ध की प्रमुख विशेषताओं में एक है । ललित निबन्ध में निबन्धकार स्वयं प्रकट होकर पाठकों से तादात्म्य स्थापित कर देते हैं । व्यक्तिप्रधान निबन्धों में रचनाकार के भाव-विचारों की समष्टिगत अभिव्यक्ति है । विषय कुछ भी हो, उसमें निबन्धकार का निजी व्यक्तित्व सांस्कृतिक परिवेश में डूबकर हमारे सामने प्रस्तुत है । "आधुनिक निबन्धकारों के हाथ में पड़कर निबन्ध गीतात्मक एवं व्यक्तित्व व्यंजक हो गया है ।"[1] ललित निबन्धों में विषय-वस्तु की विवेचना रचनाकार के व्यक्तित्व में लीन हो जाती है । डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने "ललित निबन्ध को व्यक्तिव्यंजक" नाम दिया ।"[2]

ललित निबन्ध की रसात्मकता निबन्धकार के "अहं" के साधारणीकरण से निर्मित होती है । "अहं" ललित निबन्ध की अगली विशेषता है । इसमें निबन्धकार का मन भाव लहरियों में उमंगित होता है । निबन्ध की समाप्ति के साथ इन उमंगों का प्रवाह भी उतर जाता है । एक रचनाकार का मन यों प्रकट हुआ है, "सच कहता हूँ मेरे पूजा स्थानीय, मेरी इस विनम्र श्रद्धांजलि में वागीश्वरी का महिमा-गान तथा काव्य देवता का संकीर्तन जिस रूप में विशदीकृत होकर विश्व-देव-वंदन और राष्ट्र देव अर्चन की भूमिकाओं के माध्यम से इतर आलंबनों के प्रति उन्मुख हुआ है, वह निश्चय ही तुम्हें मोह लेगा ।"[3] ललित निबन्ध की शैली, वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन आदि का निर्माण कल्पना के द्वारा निबन्धकार का व्यक्ति-मन और मन की तरंगें ही करती हैं ।

ललित निबन्ध में नाटकीय शैली से निबन्धकार अपनी बात को अधिक रोचक और सशक्त बनाते हैं । "नागपंचमी का दिन, मैं साढ़े चार वर्ष का था । शिवधानी

---

1. हिन्दी के वैयक्तिक निबन्ध, श्रीवल्लभ शुक्ल, पृ: 18.
2. आधुनिक निबन्धावली, भूमिका, सं. विद्यानिवास मिश्र
3. ललित निबन्ध, डॉ. वेंकट शर्मा, पृ: 7.

बहू पंचरंगी साड़ी पहनकर पंचइया पूजने चली । शिवधानी ने मुझसे मज़ाक किया - भाई साहब, इससे ब्याह करोगे? रंगों के जादू से प्रभावित होकर कह दिया - हाँ इससे विवाह करूँगा ।"[1] कहीं बातचीत का आनन्द है तो कहीं प्रश्नोत्तर और कहीं समझने समझाने का कार्य । निबन्ध में बातचीत और प्रश्नोत्तर से आकर्षण उत्पन्न होता है तथा आत्मीयता का सहज वातावरण बनता है ।

ललित निबन्ध में आख्यायिका सुलभ आनन्द मिलता है । पढ़ते समय पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होती है कि आगे क्या हो । यह उत्सुकता निबन्ध के परिणाम तक होती रहती है । "श्रीकृष्ण जन्म एक उत्सव है, रस का उफान है, उसका उपहाव है, रस का उच्छलन है, उसमें पर केलिए गुंजाइश नहीं है । श्रीकृष्ण बडे ही ईर्ष्यालु हैं, किसी दूसरे को गुंजाइश नहीं रहने देते, और जब तक आदमी अपने लिए पराया न हो जाय, तब तक वे अपने नहीं होते ... ।"[2] निबन्धकार जो कुछ कहते हैं स्वयं को सामने लाकर कहते हैं ।

भाषा में काव्यात्मकता ललित निबन्ध की विशेषता है । इन निबन्धों में शैली काव्यात्मक होती है तथा भाषा को काव्यात्मकता के साथ पूर्ण किया जाता है, क्योंकि इन निबन्धों का संपूर्ण लालित्य, रसात्मकता, आकर्षण तथा गुंजाइश उनकी भाषा-शैली में हैं । "भारतीय साहित्य में यमुना की जो छवि बनती है वह है एक चंचल किशोरी की । सिर पर गागर लिए हुए, बड़ी कला-छला वाली, नील परिधान में सजी दूध-वर्ण गोरी-गोरी छोरी !"[3] इसमें भावों की प्रमुखता है, अतः भाषा काव्यात्मक और गद्य में आन्तरिक लय से युक्त हो गई है । कल्पना के सहारे अलंकृत भाषा का यह प्रयोग ललित निबन्ध की विशिष्टता है ।

ललित निबन्ध को अधिक से अधिक आत्मीय बनाने में ललित निबन्धकार की सफलता निर्भर है । आत्मीयता ही व्यक्तित्व है । निबन्धकार निजी आत्मभावों को दूसरों तक पहुँचाकर उन्हें भी अपना आत्मीय बना लेता है । "आज मेरा मन बहुत

---

1. तमाल के झरोखे से, विद्यानिवास मिश्र, पृः 16-17.
2. भारतीयता की पहचान, विद्यानिवास मिश्र, पृः 107.
3. दृष्टि अभिसार, कु. राय, पृः 17.

कुछ कहने केलिए उमंगित हो रहा है, किन्तु संकल्प-विकल्प की असंख्य ऊर्मियों में एक-दूसरे को पीछे ढ़केलकर अगे बढ़ने को ऐसी होड़ लग रही है कि वह उनका नियमन नहीं कर पाता और मौन धारण करने केलिए बाध्य हो जाता है । ... तो क्या मैं निष्क्रिय और निश्चेष्ट होकर बैठ जाऊँ? यह तो मुझे संभव नहीं लगता । ऐसा करना तो एक प्रकार का आत्महनन है और आत्महनन से बढ़कर और बड़ा पाप क्या होगा?"[1] उसमें पाठकों के मन को जगाने का प्रयत्न है । इस आत्मीयता से निबन्धकार और पाठक की दूरी कम हो जाती है । इन दोनों के बीच कोई औपचारिकता नहीं है ।

ललित निबन्ध में विनोदमयता का प्रमुख स्थान है, जिससे निबन्ध में नीरसता नहीं होती और पाठक ऊब न जाए । यह सन्दर्भानुकूल न हो तो विनोद के बदले अनाकर्षण पैदा होता है । आत्म-चेतना का एक चित्र देखिए - "कौन कहता है कि तुम नगण्य हो । तुम्हारे अमूर्त रूप में अणु-शक्ति का विस्फोट छुपा हुआ है । संसार में जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं, उनके मूल उद्गम तो तुम्हीं हो ।"[2] यहाँ निबन्धकार का स्वर विनोद के साथ-साथ गंभीर भी है ।

ललित निबन्ध में गंभीरता, सरसता, रमणीयता, आकर्षण सभी में व्यंग्य की प्रमुखता है । जैसे "हमारे गाँव का भी एक ज़माना था, पर अब क्या? अब तो लगता है इसका "डीह" ही सो गया है ।"[3] निबन्ध में वार्तालाप, आत्मीयता और व्यक्तित्व में व्यंग्य का बड़ा स्थान है । व्यंग्य द्वारा अर्थ का विस्तार और गांभीर्य बढ़ जाता है ।

ललित निबन्ध में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता है । इसमें "निज" को प्रमुखता मिलती है और अपनी आन्तरिकता का निशान रहता है । अतः निबन्धकार स्वयं की अनुभूति के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है । आत्म विश्लेषण के द्वा समष्टि की आन्तरिकता का विश्लेषण होता है और पाठक इससे अपने गुण-दोष और सफलता-असफलता पर ध्यान देते हैं ।

---

1. ललित निबन्ध, डॉ. वेंकट शर्मा, पृः 68.
2. वही - पृः 73.
3. प्रिय नीलकण्ठी, पृः 53.

ललित निबन्ध में आत्मीयता स्थापित करने केलिए निबन्धकार प्रथम पुरुष "मैं" का प्रयोग करते हैं । "मैं" के द्वारा समष्टिगत व्यक्तित्व की परिव्याप्ति होती है ।

ललित निबन्ध के तत्त्व

ललित निबन्ध पर ध्यान देने से पता चलता है कि यह अनुभूति, विचार शैली और कल्पना तत्त्वों का समाहार है । इन तत्त्वों की मात्रा एवं क्रम में सामान्य निबन्ध से भिन्नता होती है । ललित निबन्धों में अनुभूति सदैव विचारों के साथ मिलकर आती है तथा दूसरा स्थान शैली का है और तीसरे स्थान पर कल्पना आती है । परन्तु कल्पना शैली में अनुस्यूत रहती है ।

अनुभूति और विचार

ललित निबन्ध में रस और बोध साथ-साथ आते हैं और यह रस बोध के साथ मिलकर ललित निबन्ध को एक रूप देता है । इसमें रस या अनुभूति का प्राधान्य है तो भी अनुभूति और विचार मिलकर आते हैं । जैसे : "यह सपना अकेले मेरा नहीं है । यह बुद्धि को गति देने की लाचारी रखनेवाले हर संवेदनशील प्राणी का सपना है । हिन्दुस्तान की ही नहीं, विश्व के हर एक देश की संवेदना ऐसा आभास पा रही है कि गाड़ी पटरी से उतर गयी है, जहाँ उतरी है, वहाँ निपट वीरानियत है ।"[1] सपनों के द्वारा संवेदन शील प्राणी का चित्र खींचा गया है । प्रकृति, मानवता, परिस्थिति आदि सब भावों को जागृत करते हैं और निबन्धकार अपने विचारों द्वारा इनका विश्लेषण करते हैं । इस प्रकार ललित निबन्ध में विचार और भाव का समन्वय होता है ।

भाव और विचार कितने ही श्रेष्ठ हों, जब तक शैली श्रेष्ठ न हो तब तक एक सफल निबन्ध की रचना असंभव है । प्रतीक, बिंब, शब्द, वाक्य आदि शैली के उपकरण हैं । "मुझे लगा कि मैं मूर्ख हूँ । अरे यह दर्पण तो सदैव मेरे साथ है । मेरे भीतर ही इसका निवास है । यह इतिहास, समाज, व्यक्ति, मन और अस्मिता - इन पाँच के

---

1. तमाल के झरोखे से, कु. राय, पृ: 43.

समकेन्द्रिक वृत्तों के द्वारा बने मेरे व्यक्तित्व के भीतर निरन्तर निवास करता है मेरे द्वारा लिखा गया संपूर्ण साहित्य इसी दर्पण के चेहरे का कागज़ पर आरोपण भर है ।"[1] निबन्धकार ने यहाँ मन रूपी दर्पण का चित्र खींचा है ।

ललित निबन्ध में कल्पना, शैली में अनुस्यूत रहती है । विषय को प्रस्तुति में कल्पना का प्रयोग है । भाषा में लालित्य और सौन्दर्य प्रदान करने केलिए कल्पना की ज़रूरत है और यह भाषा तक ही सीमित रहता है न विषय तक जाता है । "मेरी दृष्टि फिर नदी की पतली चंचलधार की ओर जाती है । अरजा छोकरी जैसी चंचल नदी ।"[2] अलंकारों के द्वारा निबन्धकार ने कल्पना-शैली की गरिमा बढ़ाया है ।

ललित निबन्ध के शिल्प

भावों को अभिव्यक्त करने का सशक्त साधन है भाषा । ललित निबन्धका स्वतंत्र होने के कारण जैसे भाव उठते हैं वैसी भाषा का प्रयोग करते हैं । फिर भी इस पर ध्यान देते हैं कि भाषा ललित और कोमलकान्त पदावली से युक्त हो । शीर्षक में भी भाषा की यह विशिष्टता झलकती है । भाषा में विवेचन, विश्लेषण और व्यापकता है । काव्यमय ललित भाषा का प्रयोग नये ललित निबन्धकारों की विशेषता है, कुबेरनाथ राय में यह विशेष दर्शनीय है । प्रतीक, बिंब, अलंकार आदि से व्याख्यात्मक संदर्भों को सजग बनाता है । प्रबन्धन से ललित निबन्ध में शिथिलता नहीं होती, यह भी भाषा की विशिष्टता है और लालित्य प्रदान करने में यह सहायक है भी । इस विशिष्टता से भाषा में आन्तरिक लय उत्पन्न होता है ।

प्रमुख ललित निबन्धकार

स्वतंत्रता के पश्चात् नवीन संदर्भों में हिन्दी गद्य-भाषा का आधुनिक रूप निखरने लगा । सन् 1948 ई. के बाद हिन्दी निबन्ध का रूप बदलने लगा । ललित

---

1. रस आखेटक, कु. राय, पृ: 135.
2. दृष्टि अभिसार, कु. राय, पृ: 108.

उक्तियों के साथ मधुर, रमणीय और काल्पनिक वाग्वैचित्र्य विद्यमान है और साथ ही साथ ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अर्थ-बोध भी विद्यमान है । इस रम्य-रचना की परंपरा भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द जैसे निबन्धकारों से आरंभ हो चुकी थी, जो नये वातावरणों के अनुरूप परिवर्तित शैलियों के साथ विकास पा रही है । इसके प्रमुख प्रवर्तकों का परिचय देना यहाँ अनिवार्य है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबन्धों में वैचारिक पक्ष का प्राधान्य है, फिर भी "लोभ और प्रीति" जैसे निबन्धों में हृदय-तत्त्व प्रधान है । इसलिए वैयक्तिक निबन्धों को आत्मपरकता का आरंभ यहाँ से होता है । डॉ. गुलाबराय और पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी ने इसे आगे बढाया । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, श्री. शांतिप्रिय द्विवेदी, श्री नंददुलारे वाजपेयी, श्री जैनेन्द्र कुमार, डॉ. नगेन्द्र, श्रीमती महादेवी वर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा, श्री. प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री. अज्ञेय, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, रामवृक्ष बेनीपुरी, हरिशंकर परसाई, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ. देवराज और कुबेरनाथ राय अद्यतन युग के उल्लेखनीय ललित निबन्धकार हैं ।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने ललित निबन्ध के क्षेत्र में नया प्रकाश फैलाया है । पुराने रूप को नये प्रकाश एवं गुणों से संयुक्त कर उसे नवीनतम रूप देने में द्विवेदीजी सिद्धहस्त हैं । इनके निबन्धों में भारतीय संस्कृति की जीवंत परंपरा विद्यमान है । विषय की विविधता के साथ इनको सूक्ष्म दृष्टि, गहन अनुभव, गंभीर चिंतन, विशिष्ट दृष्टिकोण तथा रोचक शैली का भी प्रयोग है । हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - खंड-9 और खंड-10 में उनके सभी निबन्ध संग्रहीत हैं । विषय-वैविध्य एक विशेषता है, जैसे इन्होंने कभी सांस्कृतिक चेतना का स्वरूप प्रस्तुत किया है तो कभी प्राचीन इतिहास के मनोरम चित्र प्रस्तुत किया कभी नैतिक क्षेत्र की यात्रा की तो कभी ज्योतिष ज्ञान का प्रदर्शन किया । सर्वत्र मानववाद के साथ सरसता और आत्मीयता मिलेगी । इन्होंने निजी अनुभूतियों को अपने निबन्धों में व्यक्त किया । डॉ. जयनाथ नलिन के मत में, "द्विवेदीजी का व्यक्तित्व शैली या कला के रूप में नहीं, गहन ज्ञान और "निज" का प्रकाशन लेकर चमका ।"[1] उनमें मौलिकता के साथ स्वच्छन्द एवं अविच्छिन्न चिन्तन की विशेषतायें मिलती हैं । संस्कृत, अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों का प्रयोग उनके निबन्धों में है ।

---

1. हिन्दी निबन्धकार, डॉ. जयनाथ नलिन, पृः 218.

श्री. शान्तिप्रिय द्विवेदी के सभी निबन्ध "पथ चिह्न" "परिव्राजक की था" "धरातल" आदि में संग्रहीत हैं । इनके निबन्धों में मार्मिकता, करुणा, ममता और ात्मीयता होने के कारण ये वैयक्तिक या ललित निबन्ध हैं । "उनका व्यक्तित्व जैसा वच्छ तथा सीधा दिखाई देता है वैसे ही उनकी कृतियों में उनके हृदय की अन्तः प्रेरणा ार्य कर रही है ।"[1] साधारण-सरल शब्दावली, लघुतम पदावली और छोटी वाक्यावली का प्रयोग उनकी विशिष्टता है । निबन्धों में इनका व्यक्तिगत अनुभव, आंतरिक अभिव्यंजना, तीक्ष्ण दृष्टि और शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रभाव है । भारतीय संस्कृति और साहित्य के प्रति उनका विशेष लगाव है । निबन्धों की भाषा-शैली में उनके व्यक्ति की सूक्ष्म दृष्टि है ।

हिन्दी के वैयक्तिक निबन्धकारों में जैनेन्द्रजी का प्रमुख स्थान है । उनं निबन्धों में वैयक्तिक अनुभव की छाप है । उनके उल्लेखनीय निबन्ध-संग्रहों में "पूर्वोदय", "जड़ की बात", "सोच-विचार, "साहित्य का श्रेय और प्रेय", "समय और हम", "प्रस्तु प्रश्न", "मंथन" आदि आते हैं । उनके निबन्धों का विषय विविध समसामयिक राजनी समाज नीति, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, दर्शन, व्यवसाय आदि से उनके निबन्ध परिपुष्ट हैं । युगानुकूल प्रसंगों का प्रयोग वैयक्तिक विचार, अहं, सतर्क विचार विमर्श जैनेन्द्रजी के निबन्धों की विशेषतायें हैं ।

श्रीमती महादेवी वर्मा के निबन्ध-संग्रहों में उनके व्यक्तित्व का अंकन है "अतीत के चलचित्र", "स्मृति की रेखायें", "श्रृंखला की कड़ियाँ", "क्षणदा" आदि उनकी भावपूर्ण अभिव्यंजना, मर्मस्पर्शी शब्द-संयोजना और प्रत्यक्ष दर्शी दृष्टि का प्रमाण है । उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों, सामाजिक विषमता एवं शोषितों के दुःखों का चित्रण अत मार्मिक तथा काव्यमय शैली में किया ।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय" श्रेष्ठ विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धकार हैं । ये अपने ज्ञान के बावजूद स्वतंत्र रूप से अपनी वैयक्तिक के साथ अपने निबन्धों में कुछ जोड़ने में समर्थ हैं । चिन्तन और मनन का निरन्तर प्र

---

1. हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास, डा. ब.ल.कोत
पृः

उनके निबन्धों में मिलता है । "त्रिशंकु", आत्मनेपद, आलवाल, "लिखि कागद कोरे" आदि इनके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं । भाषा-शैली की दृष्टि से भी इनके निबन्धों में वैविध्य है ।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र एक प्रमुख ललित निबन्धों की विशेषता है । इन्होंने कहा, "मैं ने जो अपने परिसर की प्रकृति है उसमें एकाकार होकर ही अपने को अभिव्यक्त किया है, अपने से एकाकार होकर नहीं ।"[1] "छितवन की छाँह", "कदम की फूली डाल", "तुम चन्दन हम पानी", "गाँव का मन", "परंपरा बन्धन नहीं", "आँगन का पंछी और बनजारा मन", "मेरे राम का मुकुट भीग रहा है", आदि आपके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं । इनमें उनकी सांस्कृतिक चेतना, मादक दिनों की याद, लोकमन का चित्रण, कहावतों और मुहावरों का प्रयोग, इतिहास की घटनाओं का संकेत आदि का व्यापक परिचय है । भाषा में चमत्कार और आकर्षण लाने केलिए अंग्रेज़ी, उर्दू, फारसी, अरबी, और संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

ललित निबन्धकारों में श्री. कुबेरनाथ राय का स्थान महत्वपूर्ण है । इ एक विशेषता यह है कि ये केवल निबन्ध-क्षेत्र में ही अपना ध्यान रखते हैं । इसलिए इस के विकास में इनका काफी योगदान है । इनका जन्म 26 मार्च सन् 1933 ई. में असम मत्सा गाँव के एक किसान-ब्राह्मण परिवार में हुआ । इनके पिता, पितामह और प्रपितामह वैष्णवदीक्षा से संपन्न थे । इसलिए वैष्णव धर्म में रायजी की रुचि होना स्वाभाविक है । इसका प्रभाव इनके निबन्धों में स्पष्ट है । इनकी शिक्षा-दीक्षा का हिन्दू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुई । इनको काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से अंग्रेज़ी, तत्त्वशास्त्र और गणितशास्त्र में बी. ए. उपाधि मिली तथा कलक विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में एम. ए. भी । इन्होंने सन् 1959 ई. से सन् 1986 ई. त तक नलबारी कॉलज, में अंग्रेज़ी के अध्यापक और विभागाध्यक्ष के रूप में काम किया । सन् 1986 ई. से वे उत्तरप्रदेश के स्वामी सहजानन्द सरस्वती विद्यापीठ, गाज़ीपुर में प्रिंसिपल हैं ।

---

1. कदम की फूली डाल, विद्यानिवास मिश्र, पृ: 3.

रायजी के तेरह निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । ये निम्न लिखित हैं - "प्रिया नीलकण्ठी" (1969), "रस-आखेटक" (1971), "गन्धमादन" 1973), "निषाद-बाँसुरी" (1973), "विषाद योग" (1974), "पर्णमुकुट" (1978), "महाकवि की तर्जनी" (1979), "कामधेनु" (1980), "पत्र मणिमुतुल के नाम" (1980), "मन पवन की नौका" (1981), "किरात नदी में चन्द्रमधु" (1983), "दृष्टि अभिसार" (1984), और "त्रेता का बृहत्साम" (1986) । इनके "प्रियानीलकण्ठी" नामक निबन्ध-संग्रह को उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति का आचार्य रामचन्द्रशुक्ल पुरस्कार प्राप्त हुआ । "गन्ध मादन" एवं "विषाद योग" विशेष प्रकार से पुरस्कृत हैं । "पर्णमुकुट" को उत्तर प्रदेश शासन के हिन्दी संस्थान द्वारा स्तरीय पुरस्कार प्राप्त हुआ है । "महाकवि को तर्जनी" पर मानस-संगम, कानपुर द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र प्रशस्ति एवं साहित्य पुरस्कार तथा इसी कृति पर साहित्य अनुसंधान परिषद् कलकत्ता द्वारा राम-साहित्य पुरस्कार । पुनः इसी कृति पर उत्तर प्रदेश शासन के हिन्दी संस्थान द्वारा ताम्रपत्र प्रशस्ति एवं आचार्य शुक्ल पुरस्कार प्राप्त हैं ।

इस शोध-प्रबन्ध में हम ने अध्ययन-विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से रायजी के निबन्धों को तीन भागों में विभाजित किया है । प्रथम विभाग में उनके रस प्रधान निबन्ध आते हैं जिसे रसात्मक ललित निबन्ध नाम दिया गया है । इस विभाग में रायजो के प्रथम चार निबन्ध "प्रिया नीलकण्ठी", "रस आखेटक", "गन्धमादन", "विषादयोग" और "पत्र मणिमुतुल के नाम" तथा "दृष्टि अभिसार" आते हैं । दूसरे भाग में उनके लोकसंस्कृति प्रधान निबन्ध आते हैं - "निषाद बाँसुरी", "पर्णमुकुट", "कामधेनु", "मान पवन, की नौका", और "किरात नदो में चन्द्रमधु" । तीसरे विभाग में रामकथात्मक निबन्ध हैं -"महाकवि की तर्जनी" और "त्रेता का बृहत्साम" । इनका विवेचन क्रमशः दूसरे, तीसरे तथा चौथे अध्यायों में किया गया है ।

डॉ. इन्द्रनाथ मदान आलोचक के अतिरिक्त एक वैयक्तिक निबन्धकार भी हैं । इनके निबन्धों में स्वयं उनके जीवन चरित, चिन्तन, अनुभूति आदि की प्रतिक्रियायें हैं । "निबन्ध और निबन्ध" शीर्षक संग्रह इसका दृष्टान्त है । "बात को

शैली में बात करना सहज होता है ।"[1] इनके निबन्धों की भाषा में उर्दू-फारसी शब्दों का दबाव और संस्कृत-निष्ठता का तनाव नहीं है ।

अपनी व्यंग्यात्मकता और विचारात्मकता से प्रभाकर माचवे के निबन्ध उत्कृष्ट हैं । उन्होंने अपनी परिस्थिति और समाज पर गहरा व्यंग्य किया है । ये अपने को निबन्धों से अलग नहीं रखते । "माचवे अपने पाठक को सदा साथ रखते हैं और उसको युक्ति से, तर्क से, मनोरंजन से अपने अनुकूल बनाते रहते हैं ।"[2] इनके व्यंग्य-बाणों का प्रमाण है खरगोश के सींग" शीर्षक निबन्ध-संग्रह में संकलित निबन्ध । "बेरंग" और तेल की पकौडियाँ" भी श्रेष्ठ निबन्ध-संग्रह हैं । सरल, सरस, स्पष्ट, वक्र और व्यंग्य भाषा के प्रयोग से निबन्ध की शैली उत्कृष्ट बन गई है । सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता भी आपकी शैली की विशेषता है ।

हरिशंकर परसाई व्यंग्य-विनोदपूर्ण लघुकथा और ललित निबन्ध लिखने में मशहूर हैं । उन्होंने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन व्यंग्यात्मक शैली के द्वारा व्यक्त किया है । उन्होंने स्वयं कहा है कि उनके निबन्ध पर्सनल हैं । लालित्य, स्वच्छन्द चिन्तन, व्यंग्य-विरोद कथोपकथन की शैली इनके निबन्धों की विशेषतायें हैं । "बेईमानी की परत" "सदाचार के ताबीज़" आदि उनके श्रेष्ठ निबन्ध-संग्रह है ।

जैसाकि हमने पहले सूचित किया है कि आलोच्य निबन्धकार श्री. कुबेरनाथ रायजी के संपूर्ण निबन्धों का विषयावार वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है - रसात्मक, लोकसंस्कृतिपरक तथा रामकथात्मक । आगे के तीन अध्यायों में क्रमशः इनका विश्लेषण करेंगे ।

---

1. निबन्ध और निबन्ध, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृः 66.
2. "खरगोश के सींग", प्रभाकर माचवे, पृः परिचय डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ।

निष्कर्ष

निबन्ध की अपेक्षा ललित निबन्ध पूर्णतः स्वतंत्र विधा है । ललित निबन्ध के शिल्प उसे काव्यात्मक, मनोरम, वैयक्तिक और मनोविश्लेषणात्मक बनाने में सक्षम हैं । शिल्प को इस विशेषता से ललित निबन्ध, निबन्ध से भिन्न अस्तित्व रखता है । प्रबन्धन, लयात्मक सौन्दर्य, मिथक, भाषा आदि ने ललित निबन्ध के कलेवर को नई दिशायें प्रदान की हैं । आधुनिकता की प्रवत्ति सभी विधाओं में मिलती हैं । ललित निबन्ध भी नइ-नई प्रवृत्तियों का ग्रहण करके विकास के पथ पर है । निबन्धकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इसमें प्रमुख है । संस्कृति के प्रति विशेष मोह से यह पाठकों के अधिक निकट आता है और उनके साथ तादात्म्य का वातावरण उत्पन्न कर देता है ।

अध्याय - दो

कुबेरनाथ राय के रसात्मक ललित निबन्ध

कुबेरनाथ जी के ललित निबन्धों का लालित्य उनकी रसात्मक अभिव्यक्ति पर निर्भर है । बोध-पक्ष और भाव-पक्ष के समन्वय से रायजी के ललित निबन्ध अधिक रोचक बन गए हैं । स्वयं रायजी के शब्दों में यह सामंजस्य देख सकते हैं - "मैं ने सर्वत्र अपने लेखन में "रस" और "बोध" का समान भाव से वितरण किया है ... ।"[1] इस युग के बहुरूपी चेहरों के चित्रण में भी रस और लालित्य दर्शित हैं । निबन्धकार और पाठक वर्गों की आत्मीयता में लालित्य का अनुगूंजन है ।

रायजी की आरंभिक रचनाओं में उनके सौन्दर्य-बोध की झलक है । ललित निबन्ध में यह सौन्दर्य-बोध सब कहीं दर्शित हैं, यद्यपि इसके परिमाण में भिन्नता है । "प्रिया नीलकण्ठी", "रस आखेटक" और "गन्धमादन" में इस रसात्मक अभिव्यक्ति की समानता है तो "विषादयोग" और "दृष्टि अभिसार" में कुछ भिन्न दृष्टि है । "पत्र मणिपुतुल के नाम" पत्रात्मक शैली में होने के कारण उसकी रसात्मक अनुभूति अलग किस्म की है । मूलतः इनके शिल्प में रोचकता, आत्माभिव्यंजकता और रसात्मकता का प्राधान्य है । पहले ही कह चुका है कि रस और बोध के समन्वय से ही रायजी के ललित निबन्ध का सौन्दर्यात्मक विचार प्रकट होता है । रायजी के इन ललित निबन्धों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की विशेषता आगे देख सकते हैं ।

प्रिया नीलकण्ठी

रायजी का प्रथम निबन्ध-संग्रह प्रिया नीलकण्ठी" से यह विदित होता है कि फूल-पौधे व पशु-पक्षियों के माध्यम से मानव द्वारा अनुभूत महान विचार व्यक्त कर सकते हैं । इस संग्रह में साहित्यकार और पाठक के बीच में जो संबन्ध होना चाहिए उस पर भी विचार किया गया है ।

---

1. विषाद योग, अन्त में, अपनी बात, कु. राय, पृः 221.

निरर्थक मोह समाज की एक समस्या है । मानव-मन के मूल में यह मोह हम देख सकते हैं । सारे कर्मों के पीछे यही गूढ़ विचार है । "गूलर का फूल" में काक, बक और उलूक के माध्यम से निबन्धकार इस निरर्थक मोह की व्यर्थता पर दृष्टि डालते हैं । केवल विश्वास के आधार पर किसी चीज़ को ढूँढना या उसकेलिए भरसक प्रयत्न करना व्यर्थ है । इस निबन्ध में काक, बक और उलूक तीनों गूलर के फूल जाँच निकले, पर अन्त में निराश होकर घर लौटे । "मेरे पास फूल कहाँ, इन्हें निराश लौटना होगा । ऐसा फूल तो कभी नहीं, कहीं नहीं खिला जैसा लोग कहा करते हैं । यह तो मनुष्य लोक के मोह का प्रतिरूप है ।"[1] निबन्धकार गूलर वृक्ष के द्वारा ही यह स्थापित कर देते हैं कि गूलर में फूल नहीं । रायजी की कल्पनात्मक प्रतिभा यहाँ स्पष्ट है ।

ऐसा माना जाता है कि परमशिव ने संसार की रक्षा केलिए क्षीर सागर से ज़हर पिया और उसके कारण नीलकण्ठ बना । उसी प्रकार यहाँ गूलर का फल फोड़े की तरह स्वादहीन है । उसने भी विष्णु की रक्षा केलिए अपने शरीर को समर्पित कर संसार की रक्षा की । "असुर का वध करने के पश्चात् उनके नखों में भयंकर जलन होने लगी । यह जलन जब किसी उपाय से शान्त न हो पायी तो नारायण पीड़ित होकर हमारे पास आए । तीनों लोकों के त्राता जनार्दन को अपने दरिद्र द्वार पर खडे होकर याचना की मुद्रा में देखकर मैं धन्य-धन्य हो गया और उन्हें अपना शरीर समर्पित कर दिया ।"[2] यहाँ रायजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि साहित्यकार स्वयं विष पीकर पाठकों को जो कुछ देते हैं वे शुद्ध प्राण और रस हैं । साहित्यकार अनेक कष्ट सहकर अपनी रचनाओं द्वारा पाठकों को आनन्दित करते हैं, ज्ञान प्रदान करते हैं और उन्हें विविध मण्डलों में पहुँचाते हैं । रायजी के मत में "मेरी कल्पना, मेरी प्रतिभा भी विषमायी नीलकण्ठी है । दुःख के या उल्लास के भीतर ज़हर होता है । उस ज़हर को यह खींचकर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है और धरती को जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है ।"[3]

---

1. गूलर का फूल, कु. राय, पृः 3.
2. वही - पृः 4.
3. प्रिया नीलकण्ठी, अन्त में, कु. राय, पृः 172-173.

रायजी आधुनिक सौन्दर्य बोध पर ध्यान देते हैं । बाह्य सौन्दर्य में कोई मूल्य नहीं । आन्तरिक सौन्दर्य ही मुख्य है, क्योंकि आन्तरिक सौन्दर्य से ही मानव, मानव कहने योग्य हो जाता है । मतलब परस्पर स्नेह और विश्वास तथा मनुष्यत्व से मानव मनुष्यता के आसन का अधिकारी हो जाता है । सारे जीवों में ऐक्य से बल मिलता है । यही आत्म-बल है । इस आत्मबल से अस्तित्व भी संभव होता है । उसी प्रकार गूलर के फूल और मस्तक मणियाँ उसके अन्दर है । वह दूसरों की भलाई केलिए जीता है । युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा इसकी शीतल छाया में रहते थे ।

इसमें संवाद शैली का प्रयोग है । काक, बक और उलूक आपस में संवाद करते हैं । इनके द्वारा साहित्यकार, समाज और नवीन सामाजिक व्यवस्था पर विचार किया गया है । निबन्धकार का मन भाव-लहरियों में डूबता है । "भगवान सूर्यनारायण अपनी पीत-अरुण आभा से इस धरती को रागमय कर रहे थे । धीरे-धीरे दबे पाँव श्यामली उतरने लगी ।"[1] सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान देकर रायजी ने पाठकों से आत्मीयता स्थापित कर दिया है ।

अगले निबन्ध "हेमन्त की सन्ध्या" में हेमन्त के उदास सौन्दर्य द्वारा आधुनिक समाज की मूल्यहीनता प्रत्यक्ष होती है । हेमन्त ऋतु में ज़रा सी हवा डोलने पर पत्तियाँ भू-पतित हो जाती हैं और पृथ्वी की इस करुणामय अवस्था के सामने निबन्धकार दुःखित हैं । "आधुनिक युग को हम विषाद का युग कह सकते हैं । आज जो घटित हो रहा है, वह ट्रैजड़ी नहीं । ट्रैजड़ी से तो मनुष्य का धरातल सदैव ऊँचा उठता है । हमारा युग स्नेह और प्रीति में तो रिक्त है ही । करुणा में भी यह अति दरिद्र है ।"[2] हेमन्त ऋतु में पत्तियों के गिरने से मानव-समाज के परस्पर-प्रेम का चित्र प्रकट होता है । समाज में व्यक्ति-व्यक्ति की श्रृंखला टूट रही है । यहाँ रायजी के हृदय और बुद्धि का समन्वय देख सकते हैं । आज मानव समाज एक ओर नगरी जीवन से विकास पा रहे हैं और दूसरी ओर अपनी ग्रामीण संस्कृति को छोड़ते हैं ।

---

1. गूलर का फूल, कु. राय, पृ: 3.
2. हेमन्त की सन्ध्या, कु. राय, पृ: 5.

समाज में मानव शान्त नहीं, भीड़ में फुँसा हुआ है । इसके अतिरिक्त वह एक-दूसरे के अजनबी बन गया है । वह भीड़ में अकेला है । समाज की एकता फिर कैसे संभव है? रायजी पूछते हैं, "इतना भार बिना किसी का स्नेह-स्पर्श पाये वह कैसे वहन करेगा? अतीत की भूमि उसके पैरों के नीचे से खिसक गयी - उसका स्वयं भी उससे अजनबी हो गया, तो फिर वह किसका स्नेह-स्पर्श, किसका बल पाकर इतना भार उठावे? मेरे मित्र, तुम जो नयी फिलॉसफ़ी पढ़ते हो, नयी आध्यात्मिकता की चर्चा करते हो, नये मूल्यों के सृजन में विश्वकर्मा की तरह लगे हो, मनुष्य के इस संकट को देखकर करुणा क्यों नहीं करते?"[1] रायजी आशा करते हैं कि हमारे सारे मूल्यों को नये सिरे से, नई विधा और नई कवि-प्रसिद्धि से पुनः गढ़ना होगा । लेकिन यह कहाँ तक सफल बने, यह एक प्रश्न-चिह्न है । प्रकृति के माध्यम से सामाजिक संकट प्रस्तुत करना रायजी का उद्देश्य है । हेमन्त की सन्ध्या रायजी में ऐसा प्रभाव डालता है कि सारे समाज में दुःख की छाया व्याप्त है ।

आनन्द सृष्टि का वरदान है । आज बाह्य जगत में सब आनन्दित हैं, लेकिन अन्तर्मन जलता रहता है । उल्लास की यह दीनता केवल मनुष्य के भाग्य में है । मधु-माधव" शीर्षक इस निबन्ध में उल्लास की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है । वसन्त ऋतु में प्रकृति आनन्दित होती है । और चिड़ियों का कलरव सब कहीं सुन सकते हैं । जगह-जगह हर्षोन्माद है । निबन्धकर स्वयं अपना अनुभव यहाँ स्पष्ट करते हैं । ये अपने जीवन में अनेक वसन्त, पेड़-पौधे और मेघ-पुंजों से परिचित थे । निबन्धकार के मत में फूली हुई सरसों के खेत और बौराये हुए आम में जो सौन्दर्य है, वह इनमें नहीं है । "आज भी वसन्तकाल में पराजय से दग्ध मन इन्हीं के अन्दर उल्लास खोजता है । क्षितिज तक फैले हुए सरसों के पीले खेतों में खड़े होने पर ऐसा लगता है कि चटक पीली रोशनी के समुद्र में खड़ा हूँ, आत्मा फैलने लगती है और इसके मुक्त विस्तार के कारण छाती अपने-आप चौड़ी होने लग जाती है ।"[2] रायजी अपने गाँव की प्रकृति पर मुग्ध होते हैं और भाव-लहरियों में डूब जाते हैं भी । उनका सौन्दर्य-बोध यहाँ प्रकट हो जाता है । भाषा में

---

1. हेमन्त की सन्ध्या, कु. रा., पृः 67.
2. मधु-माधव, कु. राय, 13.

काव्यात्मकता होने के कारण यह ललित निबन्ध मनोरंजक बन गया है । यहाँ हम अपने गाँव की प्रकृति पर रम जाते हैं क्योंकि इसमें आत्मीयता का वातावरण है ।

निबन्धकार रायजी बड़ों या महानों के अतिरिक्त छोटों पर भी ध्यान देते हैं । "सनातन नीम" में नीम के पेड को प्रतीक मानकर वे समाज पर उतरे हैं । हमें छोटी से छोटी या मामूली चीज़ों पर भी ध्यान देना है । छोटी वस्तु का भी समाज में उतना महत्वपूर्ण स्थान है । रायजी नीम के फूल को आनन्द को सस्ती और मामूली पर असीम शक्तियों की प्रारंभ बिंदु किसी कोमल विधा का प्रतीक मानते हैं । "मैं नीम के पुष्प गुच्छों को पसन्द करता हूँ, जो सफेद हैं और बीच में पीली बिंदी । इसकी भीनी-भीनी अलौकिक महक एवं धूमिल सफेद झूलते हुए चँवरों जैसे फूलों की झालर में एक ऐसा आकर्षण है जो सस्ता, धीमा और मामूली होते हुए भी अपना अस्तित्व जता देता है ।"[1] चंपा, पारिजात, कचनार आदि तो धरती का श्रृंगार है, फिर भी नीम के पुष्प-गुच्छों का अपना महत्व है । इस तरह समाज के एक-एक व्यक्ति का अपना महत्व है और हर एक, समाज केलिए कुछ कर सकते हैं । नीम के फूल को देखकर रायजी में इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति की महत्ता का भाव जागता है । यह उनके अन्तर्मन के सौन्दर्य का प्रमाण है ।

रायजी वैष्णव परिवार के हैं । वैष्णवी भावना से वे प्रभावित हैं भी । उनके मत में नया कवि मधुर रति को अस्वीकार नहीं करता है । वैष्णवों की रस-साधना जिस रति को हृदय के माध्यम से देखती है उसे वह बुद्धि और विज्ञान की दो आँखों से देखता है । निबन्धकार अपने निबन्ध "मनियारा साँप" में नये कवियों से कहते हैं, "यदि तुम वही हो, जिसने प्रथम उषा का अभिनन्दन किया, सूर्य मण्डल पर चढ़कर युद्ध किया, बादलों का जाल डालकर आकाश लोक की उर्वशी-मेनका को फँसा लिया एवं सीता तथा द्रौपदी की कायरता को सुना, तो निश्चय ही तुम्हारा मन भी कभी-कभी भीगता हो होगा ।"[2] रायजी के मत में आधुनिक साहित्य की जो भावी प्रतिक्रिया होगी, उसका

---

1. सनातन नीम, कु. राय, पृः 32.
2. मनियारा साँप, कु. राय, पृः 40.

संबन्ध भावुकता तथा रूमान से अवश्य होगा । साहित्य पर रस-साधना के वैशिष्ट्य का प्रकाश डाला गया है । भारतीय रस-कला में जो तन्मयता और भावुकता है उसे प्रत्यक्ष किया गया है ।

इस वैज्ञानिक युग में जीवन के सभी तलों पर मशीन का प्रभाव है तथा जीवन-रीतियों में परिवर्तन आ गया है । सौन्दर्य, स्नेह, करुणा, दया आदि गुणों की आकृति बदल गयी । इसके फलस्वरूप व्यक्ति असन्तोष, आत्मघात, विद्रोह एवं दुःख तथा भय की उपासना और अजनबीपन की साधना करता है । मानव ने अपने व्यक्तित्व को मशीन के अधीन बना दिया है, फलतः उसमें व्यक्तित्व नहीं । लेकिन यह अपने को बड़ा और सर्वस्व मानता है । "यह फक्कड़ मानव अपने को "प्रति ईश्वर" (ऐण्टी क्राइस्ट) मान बैठा है । एकदम नया विधाता । नया विश्वामित्र । यह अतिक्षमाहीन है । यह शक्तिशाली है । सृष्टि रचना में समर्थ भी है, पर केवल मृण्मय सृष्टि ।"[1] अतः रायजी स्पष्ट करते हैं कि आज समाज में मानव नहीं लघुमानव ही दिखाई पड़ते हैं तथा ये भयग्रस्त और एक दूसरे के अजनबी हैं । "डूबता हुआ देवयान" इसप्रकार निबन्धकार ने वर्तमान पीड़ित, कुंठाग्रस्त, भयग्रस्त, अजनबी और घमंडी मानव की स्थिति का चित्र खींचा है । यहाँ हमारा चरम मूल्य ही डूबता हुआ देवयान[2] है । सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ जीव मानव अपनी विवेकशीलता और बुद्धि को बरबाद करता रहता है । डूबता हुआ देवयान इसका प्रतीक है । इसमें रायजी एक अध्यापक के रूप में हमारे सामने आते हैं । समझने-समझाने की शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है ।

---

1. डूबता हुआ देवयान, कु. राय, पृः 49.
2. देवयान :- नगरवीथी के उत्तर में तथा सप्तर्षि मण्डल के दक्षिण में स्थित है । यहाँ सिद्धगण रहते हैं । पुण्यात्माओं को ब्रह्मलोक जाते समय इसी देवयान को पार कर जाना पड़ता है । सूर्य के द्वार से यहाँ जाना पड़ता है । (पौराणिक सन्दर्भ कोश, डॉ. एन.पी. कुट्टनपिल्ले , पृः 356).

मानव आज इस भयग्रस्त समाज में अकेला है । उसे एक सखा की ज़रूरत अवश्य है । "आछी का पेड़, पैशाची, जरथुस्त्र और मैं" में निबन्धकार आछी के पेड़ को अपना दोस्त मानते हैं । एक विश्वास है कि आछी के पेड़ में प्रेतात्माओं का वास है । रायजी आशा करते हैं कि प्रेताविष्ट पेड़ होने पर भी अकेलेपन से ज़रूर ही अच्छा होगा । "प्रेत आविष्ट पेड़ हो सही । कुछ भय घटता है । सारे भय के मूल में शायद यही अकेलापन था । अब तो हम दो हैं । एक मैं और दूसरा वह पेड़ । मेरा भाई, मेरा सखा पेड़ ।"[1] रायजी इस पेड़ के माध्यम से समाज में व्याप्त अजनबीपन को दूर करने के प्रयत्न में है । इसप्रकार हर एक अपने को एक सखा ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करें तो हम एक श्रृंखला बना सकते हैं और अस्तित्व जमा सकते हैं ।

आछी के पेड़ पर दृष्टि डालने पर रायजी भावना में डूबते हैं, "अचानक नज़र पडने पर उसकी आकृति सादे आसमान की पृष्ठभूमि पर ऊँटनुमा प्रेत-यान की तरह लगती है ... ।"[2] हमें ऐसा लगता है कि यह पेड़ हमारे सामने है । रात के परिवेश में निबन्धकार का मन घूम रहा है, यह इस ललित निबन्ध में देख सकते हैं । इसमें लोगों के अंधविश्वास दूर करने का प्रयत्न भी है ।

निबन्धकार को अपने गाँव में "हनुमान विलाप" का अभिनय देखकर ऐसा लगता है कि अब भी गाँव में त्रेता जीवित है, पर उसके संचारी भाव बदल गया है । "अवरुद्ध त्रेता : प्रतीक्षारत धनुष" इसकी सूचना देता है । हनुमान विलाप को आकृति बदल गयी है । उत्साह के स्थान पर खोझ उसका स्थायीभाव बन गया है । रायजी त्रेतायुग को भारतीय साहित्य के वीररस का प्रतीक मानते हैं । "त्रेतायुग वीरगाथा युग है, भारतीय साहित्य का । हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काव्य में पराजय का आक्रोश है । पर इस भारतीय साहित्य के वीरगाथा काव्य में सनातन विजय का उद्घोष है । यह शुद्धतम वीररस का प्रतीक है, जिसमें कुछ भी हीन और अमानवीय नहीं है ।"[3]

---

1. आछी का पेड़, पैशाची, जरथुस्त्र और मैं, कु. राय, पृ: 58.
2. वही - पृ: 53.
3. अवरुद्ध त्रेता : प्रतीक्षारत धनुष, कु. राय, पृ: 65.

निबन्धकार ने सनातन काल को वर्तमान में निहित त्रेता-द्वापर और अनागत को किसी उपनिषद् या ईलियट के फोरक्वार्टेट्स के माध्यम से न देखकर आसपास के जीवन के द्वारा देखा है । "जब कभी वर्तमान का मुखौटा भूल से सरक जाता है, तो त्रेता का तेजदीप्त त्रिपुण्ड्रधारी ललाट, द्वापर की खमदार भौंहें और खंजन नयन तथा अनागत का सरल कुण्ठाहीन और ताज़ा नयी हँसी से भरा हुआ किशोर मुख झलक जाता है ।"[1] रायजी अनागत का स्वप्न देख रहे हैं । वे रामलीला के मंच से भविष्य की ओर जाते हैं । यह उनकी भावात्मक प्रतिभा का दृष्टान्त है । इस भाव के अन्दर जीवन का उज्ज्वल भविष्य निहित है ।

"संपाती के बेटे" शीर्षक निबन्ध में संपाती को माध्यम बनाकर साहित्यकार की स्थिति व्यक्त करते हैं । संपाती (पौराणिक पात्र है) को सूर्या को छूने के प्रयत्न में अपना पंख नष्ट हो गया । पैगम्बर या साहित्यकार ऐसे संपाती हैं जो अपने पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते और दुःखित भी नहीं । चारों ओर पराजय, निराशा, रिक्तता और दुर्गन्ध हों तो भी पछताते नहीं । इससे भिन्न एक दूसरा वर्ग भी है, वे जटायु की तरह निरावरण सत्य की खोज में चलते हैं । तेज के स्पर्श की इच्छा होते हुए भी चुनौती स्वीकार करके सूर्य तक जाने का साहस नहीं करते ।

प्रतिकूल परिस्थिति में भी लक्ष्य की पूर्ति साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए । रायजी के मत में ये संपाती के बेटे हैं, जो कष्ट सहने पर भी नयी वस्तुओं की खोज करते हैं । संपाती का परिचय देकर नयी पीढ़ी को जगाना रायजी का उद्देश्य है । इस संग्रह के अधिकांश निबन्धों में निबन्धकार अपने आस-पास की प्रकृति का चित्रण करते हैं, जो उनके जीवन का अंश भी हैं । "हाँ, मेरी खिड़की के पास ही पुराना पीपल का पेड़ है जिसपर-से समय-कुसमय गृध्र-युग्मों के काम-सीत्कार के घोर रव सुन पड़ते हैं ।"[2] यहाँ उनकी भाषा का सौन्दर्य बढ़ गया है । रसात्मक भावना की अनुभूति झलकती है ।

---

1. अवरुद्ध त्रेता : प्रतीक्षारत धनुष, कु. राय, पृः 69.
2. संपाती के बेटे, कु. राय, पृः 71.

गाँव की भोली-भाली जनता पर भी रायजी दृष्टि डालते हैं । उनकी जीवन-रीति, वेश-भूषा, अंध विश्वास, भोलापन आदि का अध्ययन कर पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं । संस्कृति का चित्रण विशेषकर लोकजीवन का परिचय ललित निबन्ध की विशेषता है । "चण्डीथान" लोकजीवन पर आधारित ललित निबन्ध है, जिसमें चण्डीथान की देवी को वहाँ के असंस्कृत लोग अपना सर्वस्व मानते हैं, "यहाँ का आसमान, यहाँ का हवा-पानी और यहाँ के पावस-मेघ सभी इसके अधीन माने जाते हैं । अतिवृष्टि, अनावृष्टि सूखा-अकाल, अष्टग्रही, गंगा की उन्मत्त क्रुद्ध वन्या सभी को डाँटने केलिए माताओं द्वारा तेजस्वी प्रजा उत्पन्न करने केलिए हमारे पापों के बावजूद इस क्षमाशील धरती से गेहूँ - जौ और ज्वार-बाजरा जैसे शक्तिशाली शस्य पैदा करवाने केलिए, संक्षेप में प्रत्येक मंगल कामना केलिए यहाँ के निवासी इसी के पास नालिश-फरियाद करते हैं ।"[1] बीच में रायजी अपने स्कूली जीवन का स्मरण करते हैं । इमली के पेड़ में जो बन्दर था, उसके साथ हुए खेलों के मधुर स्मरण में डूब जाते हैं । हिन्दी क्षेत्रों की दैवी उपासना और शैवोपासना का भी वर्णन किया गया है ।

बालकों का मन शंकाओं से भरा हुआ है । किसी भी वस्तु पर वे तरह-तरह के प्रश्न करते हैं और शंका-निवारण करने का प्रयत्न करते हैं । निर्गुण नक्शे : सबुज श्याम धरती" नामक निबन्ध ऐसे एक बालमनोवैज्ञानिक चित्रण से आरंभ होता है । एक नक्शे को देखकर बचपन में रायजी को अनेक शंकायें थीं, "... आकाश नीला है, समुद्र लाल हैं तो इन सबका इस नक्शे के निर्गुण चित्र में लोप कैसे हो गया ।"[2] आगे निसर्ग साहित्य का विस्तृत विवेचन है । साहित्य में निसर्ग की स्थापना छायावाद युग के साथ होती है इसके पूर्व वैदिक युग में निसर्ग उपासना के अंश मिलते हैं । रायजी के अभिमत में वर्डसवर्थ तथा शेली में निसर्ग उपासना दार्शनिक एवं सजीव सत्ता के रूप में है । बीसवीं शताब्दी में निसर्ग-बोध की रूमानी दिशा की चरम परिणति प्रतिबिंबवादी कविता में होती है । आधुनिकतम निसर्ग-कविता प्रतिबिंबवाद और प्रतीकवाद के मेल से उत्पन्न तकनीक में लिखी जाती है और उसकी पृष्ठभूमि अब मात्र संवेदना आश्रित न रहकर चिन्तन-प्रधान हो गई है इसमें रायजी का स्वर कुछ गंभीर है, लेकिन वह रसात्मकता के साथ व्यक्त है ।

---

1. संपाती के बेटे, कु. राय, पृ: 71.
2. निर्गुण नक्शे : सबुज-श्याम धरती, कु. राय, पृ: 97.

"निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया" में वसन्तागमन के साथ-साथ धरती अपनी सारी दरिद्रता को भूलकर एक महाराग में लीन हो गई है । इसमें श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि अलग न होकर एक के भीतर दूसरा समाया जाता है । इस प्रकार महारस की उत्पत्ति होती है, इस परिस्थिति में रायजी महाराग के गड्डलिका प्रवाह से निर्वासित है । वे अनुमानित करते हैं, "वर्तमान युगबोध में निर्वासन का संचारी भाव प्रधान बोध - सा लग रहा है । यह दुःखमय अवस्था है । पर आनेवाले अनाहूत अनागत केलिए दिशा-निर्देश इसी निर्वासन से मिलेगा - एक ऐसा दिशा-निर्देश जो समुद्र संतरण करवायेगा, जो प्रत्यभिज्ञान प्राप्त करवायेगा, स्वर्णपुरी में कैद व्यथापीड़ित सत्यों से साक्षात्कार करवायेगा , और जिससे साहस और वीरता के विकास केलिए अवसर मिलेगा।"[1] साहित्य में निर्वासन स्थायी भाव नहीं, स्थायीभाव है नित्य अकेलापर । निर्वासन बरदाश्त नहीं कर पाता हूँ । अवश्य मुझे अकेलापन चाहिए जहाँ मैं अपने "स्व" के साथ रह सकूँ । पर मुझे यह पसन्द नहीं कि निर्वासन को पीड़ा को रस मानूँ ।"[2] इसमें रायजी वसन्त के महाराग से निर्वासित अवस्था से होकर साहित्य के निर्वासन और अकेलापन तक पहुँचते हैं । मतलब है कि आधुनिक भावबोध पर वे ध्यान देते हैं । इसके आधार पर ही रायजी ने इस संग्रह का नाम "प्रिया नीलकण्ठी" रखा है ।

रायजी ने ललित निबन्धों की रचना केलिए महाभारत, रामायण जैसे स्रोतों की सहायता ली है । उनके अधिकांश निबन्धों में यह देख सकते हैं । "शमी वृक्ष पर लटकते शव" में महाभारत के वनपर्व में प्रतिपादित शमीवृक्ष को आत्मतेज धारण करनेवाली हमारी जातीय संस्कृति का प्रतीक माना गया है । शमी के अग्निगर्भा नाम पर भी प्रकाश डाला गया है । "देवताओं ने अग्नि को शमी से बाहर निकाला और शमी वृक्ष को अग्नि का पवित्र वास-स्थान नियत किया । इसीसे इसे "अग्निगर्भ" कहते हैं ।"[3] रायजी को पेड़-पौधे की ध्वनि अधिक मोहक लगती है । "मुझे लगता है कि बागों की बनी-ठनी लेटी हुई क्यारियाँ और फूलों की महफिलें कलियुग हैं, ये ध्यानस्थ बैठे गाँव के वट-पीपल द्वापर हैं, पर जंगलों के ये लग्धड़-बेमरम्मत, उद्दण्ड खड़े पेड़ त्रेता हैं और ये यदि चल देंगे तो सतयु का साकार रूप सामने आ जायेगा ।"[4] यहाँ रायजी भावना में डूब जाते हैं ।

---

1. निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया, कु. राय, पृः ।।।.
2. वही - पृः ।।2.
3. शमी वृक्ष पर लटकते शव, कु. राय, पृः ।।8.
4. वही - पृः ।।6.

निबन्धकार आशा करते हैं कि आज के धार्मिक नेतृत्व जल्दी ही समाप्त हो जाय तो कितना अच्छा होता, क्योंकि पुरोहित वर्ग सनातन को गलत अर्थ में पकड़ लिया है । उनके अनुसार सनातन का अर्थ जड़ता, अपरिवर्तनवादिता और स्थितिशीलता है । रायजी के मत में, हमें जिसप्रकार एक संविधान चाहिए, एक सरकार चाहिए वैसे ही एक धर्म भी चाहिए । समूह का काम न तो कोरे बुद्धिवाद से चल सकता और न कोरे वैज्ञानिक मानववाद से, जो अध्यात्म निरपेक्ष होता है । अतः अध्यात्मसापेक्ष धर्म चाहिए । यहाँ निबन्धकार का स्वर वैचारिक बन गया है ।

आज मानव छल-कपटी हो गए हैं । वह मानव का आवरण लेकर अन्दर पशु बनकर बहुरूपी जीवन बिताते हैं । "बहुरूपी" शीर्षक निबन्ध में रायजी व्यक्त करते हैं कि पहले तो जंगल में ही घोर जानवर थे, लेकिन आज गाँव-गाँव पर है । समाज में उल्लास और भ्रातृत्व नहीं । इसका कारण गरीबी नहीं, देश का साठ प्रतिशत सनातन से गरीब हैं । औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति के आने से कुछ प्राणवान तत्त्व भी नष्ट हो रहे हैं । वे हैं - ग्रामों की रागात्मक संस्कृति, इनके गीत-नृत्य, उल्लास और भ्रातृत्व के साधन । इस औद्योगिक विकास के युग में सांस्कृतिक प्राण-क्षय को रोकना अनिवार्य है ।

होमर के "ओड़ीसी" महाकाव्य की नायिका पिनोलोपिया और नायक ओद्युसियस पर आधारित है अन्तिम दो निबन्ध - "एक ग्रीक प्रोषितपतिका का आत्मकथ्य" और "यायावर-रस" । यहाँ रायजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हम जिस "गोल"केलिए सारे परिश्रम करते हैं, वह पाने पर एक सूनापन, बासीपन या अजनबीपन प्रतीत होता है । ओड़ीसी के नायक ओद्युसियस को भी यह अनुभव था । हमारे पौराणिक ग्रंथों के नायकों में भी यह देख सकते हैं । जैसे :- राम, युधिष्ठिर आदि ।

"प्रिया नीलकण्ठी" में रायजो की वैचारिक अनुभूति कल्पना पर आश्रित है । इसलिए भाव और मस्तिष्क का समन्वय देख सकते हैं । विभिन्न परिवेशों से निबन्धकार पाठकों के सामने आने के कारण ये दोनों आत्मीय बन गए हैं । रायजी ने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रकट कर सामाजिक समस्या पर गंभीर विचार किया है । विषय चाहे पौराणिक हो, सामाजिक हो, वैचारिक हो या साहित्यिक हो सब कहीं प्रकृति के प्रति मोह है । प्रकृति के प्रति विशेष प्रीति होने के कारण सर्वत्र सौन्दर्य की झलक है । भाषा ललित, मनोरंजक, संवादात्मक, आत्मीय, काल्पनिक और वैयक्तिक है ।

इनकी कल्पना शैली भावनाओं की वैचारिक अभिव्यक्ति केलिए सशक्त बन गई है । गूलर के फूल, हेमन्त ऋतु, वसन्त ऋतु, विभिन्न वृक्ष, चण्डीथान आदि के द्वारा रायजी ने समाज की जिन समस्याओं की ओर ध्यान दिया, वे इस ललित निबन्ध-संग्रह को गरिमा को बढ़ाते हैं ।

रस आखेटक

रस-आखेटक के निबन्ध भी "प्रिया-नीलकण्ठी" के निबन्धों जैसा रस-प्रधान है । किन्तु बोध की दृष्टि से ये कुछ अधिक पुरुष-प्रधान हो गए हैं । इसमें "रस-आखेटक" से लेकर "कवि तेरा भोर आ गया" तक सोलह ललित निबन्ध आते हैं । इन ललित निबन्धों के तत्त्वों को अधिक रागात्मकता और परिचय प्रदान करने केलिए आरंभ में आठ बोधकथायें दी गई हैं । अन्त में होमर, वर्जिल और शेक्सपियर के कवि व्यक्तित्व का आलोचनात्मक विश्लेषण है । इसमें मूलतः धरती के क्रोध, करुणा और वैषम्य व्यक्त है । इसलिए ये ललित निबन्ध का स्वभाव क्षुद्र-ललित हो गया है । रायजी अपने इस निबन्ध-संग्रह की विशेषता पर यह मत व्यक्त करते हैं, "यहाँ इस क्रोध और आर्त्तनाद को मैंने समष्टिगत अनुभव बनाकर इन्हें "रस" में परिणत करना चाहा है ।"[1] रायजी के संपूर्ण साहित्य तो उनके अन्दर का हाहाकार है, जो सारे हिन्दुस्तान का हाहाकार है ।

पहला निबन्ध "रस-आखेटक" अध्यापक-विद्यार्थी संबन्धों पर आधारित है । शिक्षा संस्थाओं में जो अध्यापक काम कर रहे हैं, उनमें कुछ अपनी जिम्मेदारी भूल जाते हैं । रायजी इस पर तीखा व्यंग्य करते हैं, "उन दिनों मैं प्रोफ़ेसर को बड़े ऊँचे दर्जे का जीव मानता था । मुझे क्या पता था इनके पंचानबे प्रतिशत ऐसे हो हैं कि इनको सारी बादशाहत विद्यार्थी जीवन में लिखे गये नोटों पर आश्रित है ... ।"[2]

---

1. रस आखेटक, और, अब अन्त में, कु. राय, पृः 2.
2. वही - पृः 39.

रायजी क्षण का आखेट करते हैं, वैसे वे रस के आखेटक हैं । ये अपने को यायावर कहते हैं । ये रस के आखेटक की तरह धरती के रूप-रस-गन्ध की तलाश कर रहे हैं । "मैं तो बीसवीं शती का रसलोलुप यायावर हूँ । मेरी वैष्णवता सगुण की उपासना और रूप-रस-गन्ध के आस्वादन केलिए ही है, ... ।"[1] रायजी अपनी जन्म भूमि के रूप-रस-गन्ध से अधिक गौरवान्वित हैं ।

रचनाकार के मत में सृष्टि में सर्वत्र नर सुन्दर है । "सृष्टि में यदि गौर से देखा जाय तो सर्वत्र नर ही सुन्दर और गुणवान है, नारी में सृजन सामर्थ्य मात्र है और कुछ नहीं । मयूर, शुक, कुक्कुट, पारावत, वृषभ, मृग आदि सभी नर ही आकर्षक, सुन्दर और गुणवान होते हैं ।"[2] मनुष्य में मन की सहज उपस्थिति से वह आकर्षक है जबकि प्रकृति से पुरुष का आकर्षण भ्रान्ति मात्र है ।

रायजी की भाषा में जो चित्रात्मकता है वह यहाँ व्यक्त है, "ग्रीष्म के अन्तिम भाग में सबसे उत्साहपूर्ण और स्वादिष्ठ काल है सबेरे का झुटपुटा या झलफला, उषा की लालिमा से पूर्व के नीलारुण क्षण ।"[3] इस निबन्ध में धरती के रूप-रस के रसात्मक सौन्दर्य का वर्णन है । अतः इस ललित निबन्ध की भाषा लयात्मक सौन्दर्य से युक्त हो गया है ।

नशा और विष तन में ही है, यह सृष्टि की एक अनोखी बात है । यह रक्त शिराओं और स्नायुजल के भीतर उपस्थित है और शरीर की शोभा को अन्दर से प्रकाशित करता है । निबन्धकार रायजी "तृषा, तृषा ! अमृत-तृषा" में "खसखस द्वारा इस बात को व्यक्त करते हैं । जिसप्रकार हृदय के दहरपुण्डरीक में विष नहीं होता है उसी प्रकार पके खसखस के दाने भी स्नेहगर्भी और स्वादिष्ट एवं हानिरहित खाद्य हैं । इसके बूँद-बूँद पर विष आहरण कर लेने के बादही सूर्य के प्रकाश से यह पका जाता है ।

---

1. रस आखेटक, कु. राय, पृः 40.
2. वही - पृः 44.
3. वही - पृः 46.

नाम और उपमाओं की सार्थकता पर इसमें प्रकाश डाला गया है । "बिंबाधर" विशेषण पर रायजी अपना मत व्यक्त करते हैं । "पकने पर यह फल सचमुच बहुत ही तीव्र सुरंग लाल और खूबसूरत लगता है । आकृति और रंग दोनों के हिसाब से उपमा बिलकुल सटीक है । परन्तु फल को हाथ में लेकर तोड़ते ही घोर दुर्गन्ध मिली और सारी आसक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी ।"[1] सामाजिक संकट पर भी रचनाकार ध्यान देते हैं । पोस्ते का व्यापार और उसके पीछे साम्राज्यवादी शक्तियों का षड्यंत्र आदि इसमें झलकते हैं । बीट कविता या अकविता का मनुष्य अमनुष्य है । प्रकृति उसकेलिए आकर्षण रहित उदासीन हो गई है । इसके फलस्वरूप कल्पना की महत्ता कम हो गई है । उसके बदले कवि अफीम, मारीजुआना या एल. एस. डी को गोलियों को स्थान देते हैं । रायजी आशा करते हैं कि कल्पना को कविकर्म के केन्द्र में पुनः प्रतिष्ठित करना । धरती के सौन्दर्यास्वादन के साथ नयो साहित्यिक रचनाओं पर गहरा विचार व्यक्त किया गया है ।

अगले निबन्ध "देह-वल्कल" में "वल्कल" शब्द का उद्भव, उसका अर्थ और उसकी महत्ता का व्यवस्थित विचार व्यक्त किया गया है । यह रायजी के ललित निबन्धों की एक विशेषता है । "जिस तरह पेड़-पल्लव, डाल-पात की उपस्थिति के कारण गाँव के बाहर की अमराई को वन मान लिया जाता है वैसे ही महज़ मूँज-मेखला के सहवास से सूती कौपीन और उत्तरीय को भी वल्कल की संज्ञा मिल जाती है ।"[2] रायजो के शब्दों में वल्कल (संस्कृत), बाकल (बंगला), बोकला (भोजपुरी हिन्दी) आदि एक ही शब्द हैं, जिसका कोशगत अर्थ छल्लिका या छाल है । हमारे देह-चर्म को भी वल्कल कह सकते हैं । यह सगुण दृश्यमान जगत् भी एक परिधान मात्र हैं, "ये फूल, ये बच्चे, ये नारियाँ, ये मनुष्य, ये पेड-पल्लव, ये कोमल मृग, ये वृक-व्याघ्र, ये कुरूप कुत्सित सर्प सभी के सभी, केवल उस चरम सत्ता का परिधान मात्र हैं ।"[3] ईश्वरानुभव की ओर वे जाते हैं, "इतना तो निश्चित है कि इस धनमय, शिश्न-योनिमय, रिपुमय जगत् के अन्दर जो कोई भाव, ध्यान या अनुभव हमें धन, शिश्न-योनि और रिपु की क्षुद्र सीमा से ऊपर उठाकर किसी अपेक्षाकृत

---

1. तृषा, तृषा ! अमृत-तृषा, कु. राय, पृः 52.
2. देह-वल्कल, कु. राय, पृः 62.
3. वही - पृः 71.

शुद्धतर अनुभूति की ओर ले जाये उसे ईश्वरानुभव की ही एक कोटि माना जाना चाहिए ।" रायजी के मत में निर्गुण ईश्वरानुभव केवल तर्क-जगत् में है, वास्तव में यह कभी भी न घटी और न घट सकती ।

जन्मान्तर के धूम्र-सोपान में रायजी का रस-लोलुप मन प्रत्यक्ष है । उन्हें माघमास की नशीली रात अफ़ीम जैसा लगता है । "बाहर-बाहर माघ का सीपा पड़ता है, पीले से हाथ-पैर ठिठुर कर कठुआ जाते हैं, बाहर-बाहर टप-टप कर के गिरती ओस घने मौन आच्छादन को और रहस्यमय तथा प्रेताविष्ट कर देती है ... ।"[2] यहाँ रायजी की भाषा की काव्यात्मकता और चित्रात्मकता व्यक्त होती है ।

"मृगशिरा" नक्षत्र को लेकर अगले निबन्ध में निबन्धकार ने अपनी वैयक्तिक भावना को सजग बनाया है । मृगशिरा नक्षत्र जेठ और आषाढ़ का नक्षत्र है । "रात्रि के आकाश में पृथ्वी की दृष्टि माप के अनुसार खिंची एक गज़ लंबी सीधी रेखा में तीन तारागण साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं । यही नक्षत्र मण्डल मृगशिरा है ।"[3] जेठ मास के घोर तप का वर्णन भी करते हैं । जेठ में धरती, पेड़-पौधे आदि धूप पीते रहते हैं । तपते जेठ में खोये गए उत्साह का पुनः आविष्कार आषाढ़ में होता है । इस उत्साह का चित्र आगे देख सकते हैं । "प्रत्येक हृदय सीपी के होठों की तरह खुला है । मन एक जलघर है, कभी मछली जैसा रजतवर्ण खूबसूरत, कभी दादुर जैसा बजबजाता घिनौना तो कभी जलशायी हिरण्य गर्भ जैसा तेजस्वी ।"[4] यहाँ रायजी की भाषा में काव्यात्मकता आ गयी है । जेठ-आषाढ़ के वर्णन से यह निबन्ध अधिक भावात्मक और रसात्मक सौन्दर्य से युक्त हो गया है ।

सन्ध्या के समय सब कहीं एक कोमलता, एक मृदु स्वर, एक हल्कापन का अनुभव होता है । यह देखकर रायजी की रसात्मक भावना उभर रही है, "धरती धीरे-धीरे ठण्डी होने लगती, मृत ओषधियों में उनका स्वामी चन्द्रमा धीरे-धीरे प्राण डालता,

---

1. देह-वल्कल, कु. राय, पृ: 73.
2. जन्मान्तर के धूम्र-सोपान, कु. राय, पृ: 76.
3. मृगशिरा, कु. राय, पृ: 96.
4. वही - पृ: 92.

हवा में कोमलता का प्रवेश हो जाता और अन्त में सृष्टि पुनः वैष्णव भाव की ओर लौट आती थी ।"[1] इस वैष्णव पृष्ठ पर एक नयी प्रेमकथा की रचना होने लगी और ऐसी एक पेमकथा लिखने का वातावरण इसलिए महसूस होता है कि चन्द्रमा की वधू रोहिणी आकाश में उतर आयी है । "रोहिणी मेघ" काव्यमय, ललित और कोमलकान्त पदों से युक्त ललित निबन्ध है ।

आगे रायजी कालिदास के "मेघदूत" और "रघुवंशम्" के वर्षा-वर्णन का चित्र प्रस्तुत करते हैं । उनके मत में कालिदास की इन रचनाओं की सफलता इसलिए है कि इनमें वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन की शैली का अनुकरण है । "वास्तव में उपमा, चरित्र-चित्रण और मौलिकता तीनों दृष्टियों से वाल्मीकि कालिदास से बड़े कवि हैं । "उपमाकालिदासस्य" के बावजूद भी सौ में निन्यानबे उपमाओं को कालिदास ने वाल्मीकि से प्राप्त किया है । "मेघदूत" में और जो कुछ भले ही हो पर वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को तरह श्लोक पर श्लोक मेघों की मृदंग और सघन धारासार वर्षा का अभाव है ।"[2] रचनाकार व्यक्त करते हैं कि "मेघदूत" का पूर्वमेघ ऋतुपुरुष और ऋतु प्रकृति की लीला का काव्य है तो उत्तरमेघ पुरुष और नारी की रति का काव्य है । टपाटप बरसनेवाली वर्षा रायजी के मन में ऐसे बहुत से भाव उत्पन्न कर देते हैं और इस ललित निबन्ध की धारा को बहाते हैं भी ।

"एक महाश्वेता रात्रि" में चैत की चाँदनी को देखकर निबन्धकार ऐसा अनुमानित करते हैं कि यह स्तब्ध और मौन रूप में हिनेवाली नदी है । यह आठवीं या नवीं कक्षा की धेनु-कन्या जैसी लगी है । मयूर, पीपल और वृष्भ को हमारी मूल भारतीय परंपरा के प्रतिदान मानते हैं ।

मौन और शब्द का उपकरण एक ही है लेकिन दोनों की अभिव्यक्ति की दिशायें भिन्न हैं । "मुझे अनुभव हुआ कि मनुष्य की भाषा के सारे शब्दों को मौन ने बि कर दिया है । मौन के प्रवेश से उनका स्फोट शान्त हो गया है । ... शब्द के भीतर मौन का प्रवेश ध्यान है । और मन के भीतर शब्द का प्रवेश काव्य, दोनों के उपकरण एक ही हैं । मौन और शब्द, परन्तु

---

1. रोहिणी - मोघ, कु. राय, पृ: 105.
2. वही - पृ: 108.

अभिव्यक्ति की दिशायें परस्पर विरोधी हैं । एक का मुख भीतर होता है दूसरे का बाहर ।[1] शुभ्र चैत की चाँदनी के स्तब्ध वातावरण से मौन और शब्द का विश्लेषण करते हैं । यहाँ रायजी की वैयक्तिक भावना झलकती है ।

"दर्पण विश्वासी" में निबन्धकार दर्पण के द्वारा भावनाओं को जगाते हैं । उनकी दृष्टि में साहित्य भीड़ का दर्पण नहीं, वह यथार्थ को नहीं किसी यथार्थ व्यापी एवं साथ ही यथार्थातीत मर्म को व्यक्त करता है । मानसिक दर्पण की अधिक महत्ता है । "महिमा अकेली दर्पण को नहीं, महिमा एक त्रिकोण में जन्म लेती है और वह त्रिकोण है यह ज्ञात गुणी दर्पण, मैं एक तन्मय भक्त और यह भीड़ का जुलूस या गड्डरिका प्रवाह ।"[2] यह दर्पण हमारे व्यक्तित्व के भीतर निरन्तर निवास करता है और हमारी चेतन-अचेतन की संयुक्त अन्तर-सत्ता का प्रतीक है ।

अगले निबन्ध "सारंग" में निबन्धकार अपने पालित मृग और अन्य तरह-तरह के मृगों का परिचय देते हैं । इसी बीच कालिदास के "शाकुन्तल" पर भी दृष्टि डालते हैं । शाकुन्तल का हिरण तो मोह का प्रतीक है । कालिदास ने उसमें शकुन्तला और सारंग को एकाकार किया है । ये दोनों एक ही निसर्ग-श्री के दो मोहक चेहरे हैं । इसमें "मोह" के अनेक चेहरे को प्रस्तुत करना रायजी का उद्देश्य है । सारंग शब्द के विभिन्न अर्थों का परिचय भी दिया गया है, जैसे :- हंस, चातक, मयूर, कोकिल, मेघ, इन्द्रधनुष, मृग, चित्रशृग आदि । कस्तूरी-मृग की जीवन-रीतियों का वर्णन भी निबन्धकार ने इसमें किया है । यहाँ भी उनका रसात्मक मन प्रत्यक्ष होता है तथा भाषा में काव्यात्म और लालित्य दर्शित है ।

निबन्धकार इस धरती के हर एक चीज़ पर ध्यान देते हैं । यहाँ "वेणुकीचक" इसका प्रमाण है । इसमें बाँस को घास मानते हैं और उसे आर्य-द्राविड, सम्मिलित संस्कृति की श्रद्धा का पात्र मानते हैं । इसे राष्ट्रीय तृण बनाने का प्रयत्न भी करते हैं । वंशी, लाठी वेणु और कीचक बाँस की सर्वश्रेष्ठ सन्तानें हैं । वंशी का आदर

---

1. एक महाश्वेता रात्रि, कु. राय, पृ: 121.
2. दर्पन विश्वासी, कु. राय, पृ: 131.

भारतीय साहित्य में मिलता है । "इस भारत की संज्ञा हिन्दू महाजागरण के दिनों "चिन्मय" भारत दी गयी । उसकी यह चिन्मयता वंशी स्वर की तरह निर्गुण और अरूप होते हुए भी आनन्द अर्थात् जीवन की स्वीकृति से संयुक्त है ।"[1] भारतीय संस्कृति के मूल की व्याख्या यहाँ की गई है ।

माया का मोह-मुद्गर निरन्तर चल रहा है । "मोह मुद्गर" शीर्षक निबन्ध में रायजी स्थापित करते हैं कि हमें अवकाश और कर्म ज़रूरी है । "मुझे लगा कि अवकाश और कर्म दोनों विष्णु की माया के सार्थक मुद्गर हैं । माया का मोह-मुद्गर निरन्तर चल रहा है । इस मोह-मुद्गर से पीटे जाने में एक रस मिलता है ।"[2] यह निबन्ध पूरी तरह से रसास्वादन क्षमता से युक्त है । रायजी आम को महादानी महावैष्णव तरु मानते हैं । "मुझे लगता है कि बीजू आम का आस्वादन वैष्णव प्रेम का आस्वादन है ।"[3] उन्हें लगता है कि कलमी आम खाना कर्म-व्यापार है और बीजू की गोपी घुसना आस्वादन-लीला है ।

हमारे मांगलिक कार्यों का एक अनिवार्य अंग है दूब । यह हमारी संस्कृति का एक भाग है । इस देश के मांगलिक कार्य हल्दी और दूब के बिना अधूरा है । पुत्र-जन्म, विवाह जैसे मुगलकार्यों में आज भी इसकी उपस्थिति अनिवार्य है। "हरी-हरी दूब और लाचार क्रोध" इसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । आज समाज में परंपराओं को छोडने की प्रथा फैल रही है । हमारे पुराने आचार-विचार सब इस मूल्यहीन समाज से हट गई है । इसलिए उसके अच्छे अंशों को स्वीकार करने का प्रयत्न यहाँ रायजी करते हैं । लोकतंत्र कुछ ऐसे अस्पष्ट उलझे और रंगबिरंगे मुखौटे पहने हैं कि इसकी सच्चाई हमारे विश्वास को प्रेरणा नहीं दे पा रही है । "हममें लोकतंत्र के प्रति प्रेम है । हमें यह अपने वर्तमान क्षणों और महान् कार्यों केलिए प्रेरणा न दे पाये, यह और बात है । पर जहाँ कहीं लोकतंत्र आहत होता है वहाँ हमारा मर्म पीड़ित हो जाता है । हम

---

1. वेणुकीचक, कु. राय, पृः 160.
2. मोहमुद्गर, कु. राय, पृः 178.
3. वही - पृः 167.

कृद्ध हो जाते हैं । यह हमारे अन्तर्वासी धीरोद्धत नायक की व्यथा है ।"[1] लोकतंत्र पर विचार करना यहाँ निबन्धकार का मुख्य उद्देश्य है । इसकेलिए दूब को हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है ।

अन्धकार छा जाने पर जंबुक अपने गान का आरंभ करता है । निबन्धकार इस स्वर की प्रतीक्षा में है । क्योंकि आज समाज में सर्वत्र अन्धकार फैल रहा है । रायजी के मत में जुबुक का यह नाद कोई सूचना है । वह इस अन्धकारमय जगत में किसी देवशिशु के अवतरण का मार्ग निर्देशन देता होगा । "जम्बुक" शीर्षक निबन्ध में रायजी हमको सावधान रहने का उपदेश देते हैं, "लगता है कि चतुर्दिक जम्बुक-स्वर उठ रहे हैं । जम्बुक-स्वरों का तंत्र अति गूढ़ है । सभी जम्बुक स्वर अशुभ ही नहीं होते । ऐसी जम्बुक तंत्र की मान्यता है और ऐसा मैं मानता हूँ ।"[2] निरर्थक तो केवल सुन्दर होने पर ही रम्य होता है, जैसे रेखाओं की कल्पवल्ली, केशसज्जा, शिशुभाषा आदि । पर जो अर्थवान है वह दारुण और असुन्दर होने पर भी रम्य लगता है । "मुझे जम्बुक नाद में रम्य दारुण स्वाद मिलता है, तो इसलिए नहीं कि मैं एक अब्नार्मल प्राणी हूँ, बल्कि इसलिए कि उदास-दारुण-कूर के भीतर भी रस की कोई बिंदु विधाता ने भूले-भटके छोड़ दी है, निरर्थक के भीतर भी एक बूंद अर्थ विधि की भूल-चूक से छूट गया है, और मैं उस बूंद को निचोड़ कर पाना चाहता हूँ ... ।"[3] रायजी पूछते हैं कि यह नयी कुद्ध ईंटधारी पीढ़ी जम्बुक की भूमिका ग्रहण कर सकेगी? संपूर्ण चित्र में अतीत का सहस्त्र फण-छत्र, भविष्य का देवशिशु तथा वर्तमान का जम्बुक तीनों परस्पर पूरक हैं । सामाजिक व्यवस्था यहाँ झलकती है ।

"तमोगुणी" नामक निबन्ध अखण्ड प्रकाश और जागरण के उद्देश्य से लिखा गया है । साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि हमारे देश के अन्दर एक ऐसा वर्ग है जो धर्म के नाम पर अज्ञान बेचता है और वह अनजाने सब के अन्दर व्याप्त है । इसलिए हमें जाग्रत होकर आगे बढ़ने का समय आया है और एकत्र होकर अज्ञान को दूर करने का प्रयास बरबाद न करना चाहिए ।

---

1. हरी-हरी दूब और लाचार क्रोध, कु. राय, पृ: 186.
2. जम्बुक, कु. राय, पृ: 195.
3. वही - पृ: 190.

रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रमुख रूप से भाव का स्पष्ट बोध आवश्यक है । मतलब भाव को उसके सारे कोणों से अनुभूत कर लेना चाहिए । यह रायजी के निबन्धों में स्पष्टतः देख सकते हैं । "विरूपाक्ष" में निबन्धकार लाल रंग और काले रंग को अपनी भावना के अनुकूल प्रस्तुत करते हैं । "लाल बच्चों का रंग है और काला सयानों का । सबेरे का सूरज लाल, माँ की साड़ी लाल, माथे का कुंकुम लाल, सारे फूल लाल, जवाकुसुम-सी टहकार भाभी लाल, मुन्ने की भावी बहू भी लाल, और मुन्ने के रोना-चिल्लाने आदि का महाभारत भी लाल । दूसरी ओर सयानों ने "सोबर", "सोरियस" का अर्थ काला नहीं तो काले का धुंधेरा स्लेटी या मौसेरा "ब्लूब्लैक" लगा लिया है । उनके सदाचार के संरक्षक "कानून" की पोशाक काली है, उनके दुराचार के प्रतीक बाज़ार का रंग काला है ।"[1] रायजी स्पष्ट करते हैं कि श्वेत रंग श्रेष्ठ है, पर वह व्यक्तित्वहीन होता जा रहा है । व्यक्तित्व के दो मूल रूप हैं - रुद्ध और ललित । दोनों के परस्पर वरण से व्यक्ति निसर्ग और इतिहास में पूर्णता और स्थायित्व पाते हैं । क्रोध के अनुभव का एक वर्णन है, "क्रोध का अनुभव अपने अन्दर नारायण के विक्रमावतार का अनुभव है । क्रोध की कुछ वैष्णव किस्में भी होती हैं । ऐसे क्रोध का भीतर जैसे-जैसे विस्तार होता है, आदमी अपनी लघुता और मामूलीपन को छोड़ता ऊपर उठता जाता है - उसकी सारी दीनता पीछे छूट जाती है और वह मुक्त अहंकार स्वरूप हो जाता है तो ताल ठोंक कर काल से भी माथा लड़ा सकता है ।"[2] महाभारत, इलियड़ जैसे क्रोध-प्रसंगों से युक्त महाकाव्यों का परिचय भी दिया गया है । भारतीय की मूर्खता पर भी निबन्धकार व्यंग्य करते हैं । वे खेती के नाशकारी शुक, सारिका, कोकिल आदि को दूर करने केलिए अमेरिका से दवा खरीदते हैं । रायजी की काव्यमयी भाषा इस निबन्ध में झलकती है । उन्होंने क्रोध और ललित गुणों का प्रतिपादन कर निबन्ध की भावात्मक गरिमा बढायी है

"कवि, तेरा भोर आ गया" को रायजी ने अपनी भावनाओं के द्वारा एक मूर्तरूप दिया । "अंधेरे में असंख्य मछलियाँ तैर रही हैं और शरारत वश मुझे छू-छू कर भाग रही हैं , मैं अन्धकार की धारा में मौज से लौटा हूँ ।"[3] समाज को जागृत करनेवाले

---

1. विरूपाक्ष, कु. राय, पृः 209-210.
2. वही - पृः 214.
3. कवि, तेरा भोर आ गया, कु. राय, पृः 225.

कुक्कुट का चित्र इसमें देख सकते हैं । रायजी शिकायत करते हैं कि वह सबेरे हमें शय्या से उठाता है, फिर भी उसको साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला ।

"होमर : आत्मकथ्य" में होमर के महाकाव्य "इलियड़" का विश्लेषण है । इसमें आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग है । होमर ने स्वयं आकर अपनी विचारधाराओं को व्यक्त किया है । इलियड मूलतः एक ट्रैजडी है । इसका मूल रस है वीररस । कहीं-कहीं हास और सार्वभौम करुणा का पुट है । उनका महाकाव्य, मिथकीय कथा के रहते हुए भी यथार्थवादी है । भावुकता का जीवन में सीमित स्थान है, इसका प्रतिपादन भी उन्होंने उसमें किया है ।

सिंह द्वार का कवि वर्जिल का भी परिचय निबन्धकार ने अपने निबन्ध "सिंह-द्वार का कवि-प्रेत" में दिया है । उनके "ब्यूकोलिक्स" (वनानी) और "ज्यार्जिक्स" (ग्रामजीवन) का विचार-विश्लेषण इसमें मिलता है । वर्जिल निसर्ग-प्रेम में डूब रहे थे । वे धरती के कवि थे । नगर सभ्यता से दूर गाँव-देहात में ही उन्होंने ज़िन्दगी काट दी ।

"कवि प्रेत ने कहा : शेक्सपियर" में शेक्सपियर की रचनाओं का विश्लेषण है । उन्होंने मनुष्य की उदात्तता और विकृति को विविध स्थिति में रखकर परखा है । प्यार के जितने रूपान्तर संभव हैं, उन्होंने यहाँ प्रस्तुत किए हैं । एकान्त समर्पण (रोमियो एण्ड जूलियट), वासन्ती विदग्धता (एज़ यू लाइक इट), अबोध सुकुमारिता (टेंपेस्ट), तीव्र वासना (एण्टोनी एण्ट क्लियोपाट्रा), वाग्विदग्धता (लब्ज लेबर लॉस्ट), अबोध करुणा (ओथेलो), हेमन्ती वासना (हैमलेट), रिक्त प्रवंचना (ट्रायलस एण्ड क्रिसीडा) आदि । उन्होंने प्रत्येक पृष्ठ पर हृदय को व्यक्त किया है ।

"रस आखेटक" में रायजी का स्वर गंभीर सा हो गया है । समष्टिगत याथार्थ्यों को प्रस्तुत कर उसमें रस प्रदान करने का प्रयास रायजी ने इसमें किया है । ग्रीष्म के वैराग्य रस की नदी में वे रस का आखेट करते हैं । अध्यापक-विद्यार्थी संबन्ध, नशे में मग्न, युवापीढ़ी आदि से वे व्यथित हैं । इन संदर्भों में उनकी वैयक्तिक भावना झलकती है । इनके अतिरिक्त उन्होंने साहित्य में कलपना की महत्ता पर ज़ोर दिया है । कल्पना को साहित्यकार का शक्तियुक्त उपकरण मानते हैं । धरती के रूप-रस-गन्ध का

उनका चित्र इसमें व्यक्त है । नशीले, स्तब्ध और मौन वातावरण से मन कोमल और रोमांस से युक्त हो गया है । आदिम भारतीय संस्कृति के एक-एक कण की महत्ता पर भी उन्होंने ज़ोर दिया है । वस्तुतः उन्होंने इसमें अखण्ड जागरण का प्रयास किया है । "वल्कल" जैसे शब्दों का विस्तृत विश्लेषण कर उन्होंने अपनी ज्ञान-गरिमा का प्रकाशन किया है । रायजी ने अपनी काव्यात्मक अनुभूति से इस संग्रह के रसात्मक सौन्दर्य को बढ़ाया है । सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक वातावरण से निबन्ध संग्रह में आत्मीयता की झलक है । पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव इसके अन्तिम भाग में दर्शित है ।

गन्धमादन"

"गन्धमादन" रायजी का तीसरा निबन्ध-संग्रह है । इसमें पन्द्रह ललित निबन्ध, तीन रिपोर्ताज और चार अनुचिन्तन हैं । पाठकों को इन्हें समझने केलिए बहुत-कुछ घिसना पड़ेगा । इसमें जो अर्थगत गहन संकेत और बौद्धिक आनन्द है, उनसे परिचित होने केलिए कष्टपूर्वक घिसना पडेगा । "ये निबन्ध वाक्यों के चन्दन-काष्ठ हैं, जिनसे भावों और विचारों की सुगन्ध प्राप्त करने केलिए पाठक को थोड़ा सा निर्मल-तरल मन देकर इन्हें कष्टपूर्वक घिसना पडेगा ।"[1] इसमें विषय के विस्तार, गहराई, उदात्तता तथा माधुर्य झलकते हैं । इनको पकडने का प्रयास इसमें किया गया है ।

शब्द स्वयं निष्क्रिय है, प्रयोग द्वारा उसमें जीवन आता है । इस सक्रियता का भी कुछ विधान है, वह व्याकरण के द्वारा संभव है । व्याकरण के पालन से युक्त शब्दों की श्रृंखला वाक्य को जन्म देती है । "शब्द-श्री" शीर्षक निबन्ध में रायजी व्यक्त करते हैं कि यह शब्द दियासलाई की तिली के समान अचानक प्रयोग की रगड़ से जल उठता है । "प्रयोग द्वारा ही जो अनुभव जन-जन के हृदय अंधकार में छटपटा रहा है, उसके चेहरे पर इस शब्द-श्री की संचारिणी दीप का आलोक फेंका जा सकता है, और उस अनुभव को प्रकाशित कर जन-जन को उसके अस्तित्व के प्रति सचेत किया जा सकता है तथा उन्हें अनुभव-चेतना के माध्यम से कर्मपथ पर प्रेरित किया जा सकता है ।"[2] ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति इस शब्द पाने की साधना का नाम है, क्योंकि नाम के ही

---

1. गन्धमादन, अपनी बात, कु. राय, पृः 317.
2. शब्द-श्री, कु. राय, पृः 11.

कारण हमारा व्यक्तित्व है । सभ्यता के बिना हमारा कोई व्यक्तित्व नहीं होता । "नाम व्यक्तित्व के मणि-सर्प की त्रिगुणात्मक मणि है, और आहार-निद्रा, भय-मैथुन के समय भी यह मणि उसके मध्य बाहर-भीतर प्रकाशित करती रहती है ।"[1]

नाम की निरर्थकता पर रायजी व्यंग्य करते हैं । इसकेलिए उन्होंने अपना नाम ही लिया है । उन्हें पढ़ने केलिए एक घोड़ा तक नहीं, और विमान को तो बात ही क्या? वे पूछते हैं ऐसा एक व्यक्ति कुबेर का नाथ कैसा बन सकता? नाम के निरर्थक प्रयोग से उसका वैशिष्ट्य और अर्थ बदल जाता है । शब्द को इस महत्ता पर निबन्धकार ने अपने ज्ञान-विज्ञान का उपयोग किया है । इसलिए इसमें समझने-समझाने को शैली का प्रयोग है । इसमें व्यंग्य की प्रमुखता है ।

"नदी तुम बीजाक्षरा" में सरस्वती नदी को ज्ञान-विज्ञान का प्रतीक मानकर रायजी पहचानते हैं । सरस्वती मात्र नदी नहीं हमारे इतिहास की सुषुम्ना नाड़ी है ।यह हमारी संस्कृति से जुडी हुई नदी है।... । इसलिए निबन्धकार सलाह देते हैं, "प्रिय मित्र तुम भी उस सारस्वत जल का पान करना । इससे तुम्हारा अभ्यन्तर धौत-शुभ्र हो जाएगा ।"[2] उनके मत में वर्तमान भारत ही नहीं, अखण्ड भारत, उससे बढ़कर बृहत्तर भारत की ऐतिहासिक स्मृतियाँ इससे जुड़ी हैं । रायजी मानते हैं कि ईरानी "हरक्वति" और भारतीय "सरस्वती" दोनों किसी प्रागैतिहासिक नदी की स्मृतिवाहक संज्ञायें हैं, जिससे भारत-ईरानी दोनों आर्य कबीले परिचित थे । सिन्धु हिन्दु हिन्दु के समान सरस्वती का प्रतिरूप हरस्वती और बाद में हरक्वती होगा । आज गंगा और यमुना के संगम पर एक सरस्वती कूप में सरस्वती की स्मृति-रक्षा करते हैं । इसमें रायजी ने अपनी भावना के अनुरूप अभिव्यक्ति की । "सरस्वती" शब्द की उत्पत्ति, विकास और विश्लेषण किया गया है । शब्द का विस्तृत विश्लेषण करना ललित निबन्ध की एक विशेषता है । उनकी काव्यमयी भावना यहाँ झलकती है । "इसके किनारे को सगुण और सीमित प्लक्षवन अवरोध दे रहा है, पर इसका आदि है परमपद नील से झरता तुषार और अन्त है मुक्त विरक्त महासमुद्र ।"[3] सरस्वती नदी तट पर निबन्धकार मुग्ध हो जाते हैं ।

---

1. शब्द-श्री, कु. राय, पृ: 12.
2. नदी, तुम बीजाक्षरा !, कु. राय, पृ: 17.
3. वही - पृ: 19.

रायजी गंगा नदी को मतसा गाँव की बाणभूमि मानते हैं । रायजी पर जन्मस्थल और उसकी प्रकृति पर जो प्रभाव है वह यहाँ स्पष्ट है । "अन्नपूर्णा बाणभूमि" में हम गंगा नदी का कलरव सुन सकते हैं । "गंगा का प्रवाह संयमपूर्ण है । उसकी ऊर्मियाँ चाप या चक्राकृति बनती चलती हैं, धीरे-धीरे प्रसाद करती हैं और शान्त भाव से समाप्त हो जाती हैं ।"[1] गंगा नदी को रायजो बाणभूमि इसलिए कहते हैं कि "बाँड" या बाण "वाड्" धातु से बना । "वाड् अर्थात् डूबना, स्नान करना अथवा डूबकर पुनः बाहर निकलना । गंगा तट की यह भूमि प्रतिवर्ष या प्रति दूसरे वर्ष बाढ़ में डूबती है और बाहर निकल आती है ।"[2] कृषि-व्यवस्था और लोक-संस्कृति पर भी ध्यान किया गया है । रायजी की काव्यात्मक और रोचक भाषा की विशिष्टता यहाँ देख सकते हैं । उन्होंने अपनी वैयक्तिक और भावमयी अनुभूतियों से इस ललित निबन्ध की गरिमा को बढ़ाया है ।

"गौरी-मार्ग और कामुक मेघ" में मनमौजी नयी पीढ़ी का चित्र है । इसमें कालिदास के "मेघदूत" का परिचय है । रायजी के मत में यक्ष और मेघ दोनों कामुक और कवि हैं । "जैसे-जैसे यक्ष एक से एक बढ़कर प्रलोभनमय रूप-रस के माया स्रोतों की बात करता जाता है, वैसे-वैसे मेघ उससे अभिन्न, उसका द्वितीय "स्वयं" बनता जाता है ।"[3] रायजी मन के अनुभव सोपान से रसमय आनन्द की प्राप्ति की बात करते हैं । "जीवन की सरसता का अनुभव एकरंगा और श्रृंगार रसात्मक ही नहीं है । यह बहुवर्णी कामरूपी त्रिगुणात्मक सरसता है ।"[4] रायजी यह मानते हैं कि मेघदूत विप्रलंभ के मुखोश में संयोग श्रृंगार का काव्य है । प्रकृति के प्रति मोह इस निबन्ध में है । "आषाढ़ लगते-लगते विन्ध्यारण्य के उस पार एक कुटज-शोभित पर्वत-चूडा पर एक आवारा मेघ दिखाई पड़ा । लगता था कि वह पर्वत के सानुदेश पर जानु टेक, दाँत भिड़ा कर कामोन्मत्त मदस्रावी मत्तगयन्त की तरह उत्खात क्रीड़ा कर रहा हो ।"[5] यहाँ रायजी की कल्पना अनुस्यूत रूप में बहती है, फलतः भाषा में काव्यात्मकता आ गई है ।

---

1. नदी, तुम बोजाक्षरा !, कु. राय, पृः 28.
2. अन्नपूर्णा बाण भूमि, कु. राय, पृः 28-29.
3. गौरी-मार्ग और कामुक मेघ, कु. राय, पृः 44.
4. वही ।
5. वही - पृः 42.

राघवः करुणो रसः" में आज समाज में प्रचलित निर्वासन भाव का चित्र है। "... आज के नये मनुष्य ने अपने आप को "स्व" की कोटर में बन्द कर लिया है। वह धुरीहीन है। उसकी प्रतिबद्धता किसी से नहीं।"[1] नये मनुष्य के ऊपर नाज़ीवाद, कम्यूनिज़्म, महायुद्ध, विभाजन जैसी ऐतिहासिक शक्तियों ने जितना निर्वासन थोपा है, उससे ज़्यादा उसने स्वयं वरण कर लिया है। यहाँ रायजी का स्वर गंभीर हो गया है। निर्वासन की इस अवस्था को स्पष्ट करने केलिए श्रीराम को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। नये मानव के समान राम भी निर्वासित थे। किन्तु राम का व्यक्तित्व निर्वासन सन्दर्भ के भीतर जैसी प्रतिक्रिया करती है वैसे नये मनुष्य का व्यक्तित्व नहीं। नये साहित्य में करुण रस की नयी स्थिति को निर्वासन कहते हैं। राम करुण रस की मूर्ति है। "धीर गंभीर के साथ-साथ स्निग्ध, करुण और श्यामल भाव उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। पर निर्वासन की समस्या के संदर्भ में हमारा तात्पर्य इस स्थल पर उनके व्यक्तित्व के पूर्वोक्त दिक् "अनासक्ति" या तटस्थता से ही है।"[2] नये मनुष्य ने कई प्रकार के मूल्यों के प्रति एक मानसिक अवरोध की रचना कर ली है।

शरद् ऋतु की विभिन्न भावभूमियों का वर्णन रायजी ने "चित्र-विचित्र" में अपनी काल्पनिक अनुभूतियों के साथ किया है। चित्रा, स्वाति और विशाखा शरद् लीला की मुख्य भावभूमियाँ हैं। "पहले चित्रा की वयःसन्धि और रूप आतप, फिर स्वाति का पूर्वराग और अन्त में विशाखा का समर्पण और महाभाव। इसी तरह शरद् की वीणा पर रसों का रस यह महारस स्थायी अन्तरा के साथ प्रतिवर्ष बज उठता है।"[3] यहाँ काव्यात्मकता और भावमय सौन्दर्य व्यक्त हैं। चित्रा, स्वाति और विशाखा को रायजी राम की मैथिली के भिन्न-भिन्न चेहरे मानते हैं। इसमें रायजी ने प्रकृति-सौन्दर्य के द्वारा इसका रसात्मक सौन्दर्य बढ़ाया है। उन्होंने कल्पना के द्वारा इसकी शैली को उत्कृष्ट बना दिया है।

---

1. राघवः करुणो रसः, कु. राय, पृः 61.
2. वही -
3. चित्र-विचित्र, कु. राय, पृः 65.

निबन्धकार पपीहे के "जल दो ! स्फटिक जल दो" की याचना सुनकर कहना चाहते हैं कि पपीहे के समान स्फटिक जल माँगनेवाला व्यक्ति अपने मन को शुद्ध स्फटिक शिला बनाकर ही इस याचना का अधिकारी बनता है । वे शुक्ल और श्याम रंग को प्रधानता पर अपना मत व्यक्त करते हैं । "मेरा ललित मन-मराल ही क्यों, समूचे हिन्दुस्तान का जातीय मन ही इन दोनों के प्रति मुग्धानुरक्त रहा है । उसकेलिए चरम विद्या का वर्ण शुक्ल है और चरम श्रद्धा का वर्ण श्याम ।"[1] भारतीय साहित्य को श्यामलता के प्रति प्रतिबद्धता है, क्योंकि भारतीय साहित्य में पावस, मेघ और आँखों पर सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखा गया है । पावस के माध्यम से रायजी ने अपनी भावात्मक और वैचारिक प्रतिभा को हमारे सामने रखा है ।

फिर निबन्धकार "शरद्-बाँसुरी और विपन्न मराल" में कार्तिक को शरद् पूर्णिमा का अनुभव करते हैं । "मैं जानता हूँ कि यह शरद् पूर्णिमा एक अनामा षोडशी है, सरस्वती जैसा जिसका रूप है, लक्ष्मी जैसा जिसका हृदय है, पार्वती जैसा जिसका मन है, ... ।"[2] यह कार्तिक पूर्णिमा शरद् का सबसे अनुपम काल है । अधिकार वर्ग पर प्रभाव डालनेवाली राजनीति का चित्र रायजी ने इसमें किया है । इसे व्यक्त करने केलिए मराल को पकडा गया है । संस्कृति, साधना, कला, ज्ञान, सामूहिक विवेक आदि के प्रतीक हैं कमल और मराल: । मराल विराट् व्योम में विहार करनेवाला जीव है । "आज वह मराल सुन रहा है कि विराट् व्योम में वह अछूत रहेगा । वह अस्तित्व बचाना चाहता है तो वह पुराने मानसर की सीमा में अपनेआप को बद्ध करके रखे । बूढ़ा क्षीणकण्ठ संविधान कैकेयी को दो वरदान दे चुका है : मराल का निर्वासन अर्थात् सेक्यूलरिज़्म जिसमें प्रतीति-प्रीति की बात करना अपना अवमूल्यन करना है । और दूसरा वर है, भरत को राज्याभिषेक अर्थात् समाजवाद । तथ्य तो यह है कि राम और भरत में— प्रतीति-प्रीति और समाजवाद में-आपसी कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं । पर द्वन्द्व रखना चाहती है और रखेगी, यह मंथरा-कैकेयी सरोखी सत्ता की राजनीति ।"[3] संविधान और समाजवाद के बीच हाथ डालनेवाली राजनीति का चित्र है । प्रतीकों के प्रयोग से भाषा गंभीर और अर्थयुक्त हो गई है ।

---

1. जल दो, स्फटिक जल दो, कु. राय, पृ: 76.
2. शरद्-बाँसुरी और विपन्न मराल, कु. राय, पृ: 86.
3. वही - पृ: 96.

वसन्त ऋतु पर ध्यान देने पर निबन्धकार भावना करते हैं कि यह भी नयी पीढ़ी के समान उजड्ड है । वह बाग-बगीचों में श्रृंगार का दृश्य और श्रव्य काव्य रच रहा है । परम-सत्य केलिए नयी पीढ़ी सारी व्यवस्थाओं का विद्रोह केरती हैं । "हिप्पी सारी दुनियाँ की वर्तमान समाज-व्यवस्था को, आर्थिक राजनोतिक तंत्रों को संपूर्णतः अस्वीकार करके चलता है, क्योंकि ये सभी युद्धकामी, जंगबाज़ और स्पर्द्धा-संभूत व्यवस्थायें हैं और इनके माध्यम से चरम शान्ति का मार्ग पाना संभव नहीं ।"[1] पाश्चात्य सभ्यता के समान हमारी नयी पीढ़ी भी व्यर्थता के आमने-सामने खड़ी है । "उजड्ड वसन्त और हिप्पी जलचर" शीर्षक ललित निबन्ध ने इस तथ्य को हमारे सामने रखा है । इसमें रायजी की भाषा में भाव और बुद्धि का समन्वय है । व्यंग्य का प्रयोग अधिक मनोरम और भावमय है ।

"विकल चैत्ररथी" शीर्षक निबन्ध में रायजी अपने को चैत्ररथी मानते हैं, क्योंकि ईश्वर, नारी और प्रकृति में उनकी घोर आसक्ति है । उन्होंने कल्पना को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । एक नील विहंग को देखकर वे उसे कल्पना और सौन्दर्यबोध का प्रतीक मानते हैं । रायजी के मत में कल्पना ही आत्मशक्ति, सौन्दर्य बोध और ईश्वरीय बोध का मुख्य स्रोत है । भौतिकवाद कल्पना को अपना प्रधान शत्रु मानता है । इसलिए मनुष्य की आत्मा को स्वीकार नहीं कर सकता । रायजी यहाँ हमारा लक्ष्य व्यक्त करते हैं, "भौतिकवाद के हाथ आत्मा न बेचकर भौतिकवाद को आत्मा की प्रगति का रथ बनाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए ।"[2] कल्पना की सर्वाधिक स्पष्ट सगुण अभिव्यक्तियाँ हैं धर्म, उपासना और साहित्य । भौतिकवाद इन पर प्रहार करता रहता है । "इस देश में धर्म को अस्वीकृत करके धर्म निरपेक्षता की जगह धर्महीनता और देश-निरपेक्षता दोनों को बढ़ावा दिया गया है । एक ओर तो धर्म-हीनता के कारण नैतिक आचरण और शीलाचरण का महत्त्व ही समाप्त होता जा रहा है और दूसरी ओर देशी संस्कृति, देशी भाषा और देशी चिन्ता पद्धति जिसे कभी-कभी हिन्दू विशेषण भी दिया जाता है, निरन्तर तिरस्कृत की जाती है ।"[3] रायजी व्यक्त करते हैं कि कल्पना तब

---

1. उजड्ड वसन्त और हिप्पी जलचर, कु. राय, पृः 103.
2. विकल चैत्ररथी, कु. राय, पृः 112.
3. वही - पृः 116.

तक वह प्रकृति, नारी और ईश्वर को अस्वीकार करती है । जीवन और साहित्य में कल्पना को जो महत्ता है वह रायजी के निबन्धों में प्रत्यक्ष है । इसलिए उनके निबन्धों की काव्यात्मक भूमिका और शैली अधिक ओजस्वी है ।

"किरण सप्तपदी" में नीलारुण जैसे लाल रंग के सौन्दर्य का आस्वादन करते हुए निबन्धकार फासिस्टों और कम्यूनिस्टों तक पहुँच जाते हैं । उनका कहना है कि वसन्त ऋतु का अरुण रागरंजित है, रक्तरंजित नहीं । रक्त-लाल तो उदार-झाँवर होता है और क्रूर, क्षुधापरक और अशुभ लगता है । इसके विपरीत रागारुण मंगल, सौभाग्य तथा लालित्य का सूचक लगता है । "लाल रंग हमारा राष्ट्रीय रंग है । सिन्धु घाटी की सभ्यता से लेकर आज तक इसे हमने प्राण, स्नेह, ज्ञान, वाक् और सौभाग्य का प्रतीक मानकर ग्रहण किया है । ... परन्तु जिस तरह से नाज़ियों ने हमारे पुरुषार्थ और वाङ्मय के प्रतीक "स्वस्तिक" को छूकर अपवित्र कर दिया, वैसे ही हमारे अरुण वर्ण को कम्यूनिस्टों ने स्पर्श करके अपावन कर दिया ।"[1] ये मनुष्य की दया, करुणा, उदारता, कोमलता, प्रेम, सौन्दर्यबोध आदि शान्तिमय विशेषताओं को कमज़ोरी मानते हैं तथा कर्ममय विशेषताओं यथा साहस, संघर्षशीलता, परिश्रम और उत्पादन क्षमता को ही मानवीय गुण या सद्गुण मानने को तैयार है । इसमें रायजी की भावात्मक और वैचारिक प्रतिभा झलकती हैं ।

"मायावी शिखरों के पेक्षागृह" में निबन्धकार टॉमसमान के प्रसिद्ध उपन्यास "मैजिक माउंटेंस" का परिचय देते हैं । देवास के स्वास्थ्य केन्द्र को उस उपन्यास की नायिका सेतेंब्रिनी मृतात्माओं के अन्धकारमय लोक के रूप में देखती है, जहाँ जीवन की मृत छायायें ही रहती हैं । इसलिए वह हैन्स कास्तार्प से पूछती है, "ओ हो, ऐसा? तब तुम हम लोगों में नहीं हो? केवल मेहमान हो, तीन सप्ताह केलिए? जैसे ओदेसियस मृतात्माओं के देश में उतरा था । पर हो बहादुर कि मृतात्माओं के इस अन्धकारमय लोक में आने का साहस कर लिया।"[2] यहाँ सेतेंब्रिनी मानववादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जो देवास के जाल में आकर पस्त हो गई है । इसमें संवाद शैली का प्रयोग है ।

---

1. किरण सप्तपदी, कु. राय, पृः 127.
2. मायावी शिखरों के पेक्षागृह, कु. राय, पृः 137.

"सनातन नदी : अनाम धीवर" में निबन्धकार का रस-आखेटक मन प्रत्यक्ष होता है । वे भगवान् बुद्ध के महाभिषज् और महाधीवर रूप का परिचय देते हैं । "विश्व दुःखी है, सृष्टि बीमार है, सभी कामना के ज्वर से पीड़ित है, अतः भगवान् का अवतरण भिषज् या वैद्यरूप में हुआ है । ... दूसरी ओर बुद्ध महाधीवर हैं और आवागमन भवसरिता में, जन्म-मरण की नदी में कामना के मीनों को प्रज्ञा के जाल में फँसाते हैं और मत्स्य आखेट करते हैं । ये कामना के जलचर इस नदी के जल को अपावन, मलिन और अशुद्ध कर रहे हैं । अतः बुद्ध एक धीवर हैं, जो निरन्तर अखण्ड मत्स्य-आखेट कर रहे हैं ।"[1] बुद्ध के माध्यम से रायजी अपने मन को देखते हैं । "हमारे और बुद्ध के आखेट स्वभाव में परस्पर विरोध हैं । बुद्ध का आखेट कामना का आखेट है और मेरा आखेट रस-आखेट है । बुद्ध कामना की मछलियों का शिकार करते हैं प्रज्ञावारि के शोधन केलिए और मैं रूप-रस को मछलियों का शिकार करता हूँ आस्वादन केलिए ।"[2] निबन्धकार अपने गाँव की "पगला दै" नदी से आखेट-लीला करते हैं । वे वक्त काटते हैं, और वक्त उन्हें काटता है, यही है उनकी लीला । उनके रस-लोलुप मन का चित्र इसमें दर्शित है ।

अगले निबन्ध "छप्पन भोगों की इतिहास नदी" में भोजन की चर्चा है । "भोजन चाहे कितना भी कवित्वहीन विषय क्यों न हो, जीवन की समग्रता का वृत्त इसके बिना अधूरा है और महाकाव्यों के कवि समग्रता के वृत्त को पूरा-पूरा व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, अतः ऋतुचर्या, नगर चर्या की तरह भोजन चर्या भी महाकाव्यों का मुख्य विषय रही है ।"[3] रायजी व्यक्त करते हैं कि मौन होकर भोजन करना सहज आस्वादन है । इसमें हमारी पाक-कला पर भी बहुत कुछ लिखा गया है । पाक-कला और व्यंजनावली में हिन्दू, बौद्ध, जैन सबकी संयुक्त परंपरा है । यह हमारी समन्वित संस्कृति का प्रमाण है । इसमें रायजी की भाषा मनोरंजक हो गई है । व्यंग्योक्तियों से आधुनिक सुख-सुविधाओं का चित्र रायजी ने इसमें खींचा है ।

---

1. सनातन नदी : अनाम धीवर, कु. राय, पृः 149.
2. वही - पृः 150.
3. छप्पन भोगों की इतिहास नदी, कु. राय, पृः 162.

"स्नानः एक सहस्रशीर्षा अनुभव" में रायजी यह व्यक्त करते हैं कि किसी तरह का स्नान हो, उसकी हर एक स्थिति हमारे मन को रजोमुक्त कर लेती है । "स्नान को मैं पंचम पुरुषार्थ का सहोदर मानता हूँ । वैष्णवों ने चारों पुरुषार्थों से परे ईश्वर साक्षात्कार को पंचम पुरुषार्थ के रूप में देखा है । स्नान की सुखद अनुभूति भी ईश्वर साक्षात्कार के क्षण-भोग जैसी ही होती है।"[1] हिन्दुस्तान में स्नान को भोग और श्रृंगार माना गया है, साथ ही साथ धर्म और तपस्या भी । इसमें सात प्रकार के स्नानों का परिचय दिया गया है - भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण, मानस और मान्त्र स्नान । निबन्धकार का मन भावों से भरता है - "वाङ्मय में गोता लगाना एक अपूर्व बौद्धिक स्नान है और काव्य, साहित्य और चिन्तन के सहस्रशीर्षा समुद्र के तट पर खड़े होकर लहरें प्राप्त करने में, उनसे सराबोर होने में मुझे अपूर्व आनन्द आता है ।"[2] इसकी भाषा मनोरंजक और काव्यात्मक है तथा निबन्धकार का मन भाव लहरियों में डूब गया भी

आगे तीन निबन्ध रिपोर्ताज शैली पर लिखा गया है । "दृष्टि-जल" में हमारी सत्ता संघर्षवाली राजनीति की दिशा-हीनता पर दृष्टि डालती हैं । आज उसमें सत्य केलिए कोई स्थान नहीं, केवल सत्ता केलिए राजनीतिज्ञ लड़ाई करते हैं । कुछ ईमानदार चेहरे केलिए निबन्धकार तृषा करते हैं । "आज कवि किसे पुकारे? महान् नेता को, प्रजातंत्र को, संविधान को, विरोधी दल को, विनोबा के सतोगुणी प्रेतों को या अपने अस्तित्ववाद को, आधुनिकता को, मार्क्सवाद को? कम से कम हिन्दुस्तान के परिवेश में ये सभी निरर्थक हैं ।"[3] हम संघर्षवाली राजनीति की सन्तान होने के कारण अस्तित्वहीन हो गए हैं । काल के परिवर्तन के अनुसार जीवन-रीतियों में जो बदलाव आया है, उसका विवरण भी इसमें है । निबन्धकार अपने गाँव की दुर्गापूजा में हुए परिवर्तन पर दृष्टि डालते हैं । यहाँ उनका स्वर कुछ गंभीर हो गया है ।

---

1. स्नानः एक सहस्रशीर्षा अनुभव, कु. राय, पृः 178.
2. वही - पृः 184.
3. दृष्टि-जल, कु. राय, पृः 197.

"दृष्टि अभिषेक" एक यात्रा विवरण है । प्रकृति तो रायजी की दुर्बलता है और उससे उनकी भाषा अधिक आत्मीय और काव्यात्मक हो गई है । "यह नीलगगन भी बडा पाजी दोस्त है । जब मैं काम में लगा रहता हूँ, तो यह मोह के दाने फेंकता है और वंशी बजाता है ।"[1] प्रकृति पर रायजी अपना मन खो बैठते हैं ।

"कजरी वन में जीवहंस" में भी प्रकृति का आस्वादन है । प्रकृति से जुड़े निरीह ग्रामीणों का परिचय भी इसमें दिया गया है । इसकेलिए रायजी ने एक मुस्लिम ग्रामीण बालिका को हमारे सामने रखा है ।

आगे रायजी के निबन्ध अधिक चिन्तनात्मक हो गया है । "उन्नीसवीं शती की आधुनिकता अर्थात् पुरानी-आधुनिकता के संस्कारों का जन्म मूल्यों के द्वारा होता है और वे स्वत: भी नये मूल्यों के जनक हैं । पर इस बीसवीं शती की आधुनिकता का जन्म ही सब प्रकार के मूल्यों के प्रति मोहभंग से हुआ है ।"[2] पुरानी आधुनिकता समूह सत्यों से निरपेक्ष व्यक्ति सत्यों पर ही आधारित है ।

"आधुनिकता: अकर्म से कर्म की ओर" निबन्ध में निबन्धकार व्यक्त करते हैं, "भारतीय संदर्भ में आधुनिकता को अस्तित्ववाद का अकर्म-प्रधान दर्शन अस्वीकार करके कर्म-प्रधान दर्शन की खोज करनी होगी ।"[3] रायजी अपना मत यों स्पष्ट करते हैं कि यहाँ न केवल आत्मिक स्तर पर, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी कर्म और अकर्म के बीच की स्थिति भयानक प्रश्न चिह्न है । अकर्म से कर्म की ओर प्रस्थान करने को दो दिशायें हैं ध्यान और विद्रोह ।

विविध सामूहिक आन्दोलन और नई राजनीति पर दृष्टि रखने पर यह प्रमाणित होता है कि विश्व का पुनर्जन्म हो रहा है, धरती पुन: शिशुता की ओर लौट रही है । "शिशु-वेद" में निबन्धकार इस बात को प्रमाणित करते हैं । आगे शुद्ध कविता और शिशुवेद की तुलना की गयी है । "शुद्ध कविता वह कविता है जिसका महत्व और

---

1. दृष्टि अभिषेक, कु. राय, पृ: 207.
2. आधुनिकता : नयी और पुरानी, कु. राय, पृ: 261.
3. वही पृ: 283.

प्रभाव अर्थ पर नहीं बल्कि उसके काव्यत्व पर अर्थात् बिंबों और लयात्मक संबन्धों पर निर्भर हो और जो अर्थ के तकाज़े को उपेक्षित करती चले । शिशुवेद के बोल बहुत कुछ इस शुद्धकाव्य की तकनीक का अनजाने में पालन करते हैं ।"[1] शिशुवेद में दो अंग विशिष्ट हैं लालिका और प्रहेलिका । शिशु तो लालिका का रसिक और श्रोता मात्र है, काव्य-रचना करती है माँ या बहन । जैसे :- "मैं बाबू कहती हूँ, चन्दन रगडती हूँ, चन्दन {मारे शर्म के} थोडा हो जाता है क्योंकि मेरे बच्चे का मुँह गोरा है ।" रायजी कहते हैं कि शिशुचर्यापद या शिशुवेद ही नर्सरी राॅइम का सही प्रतिशब्द है ।

इसमें वस्तुतः रायजी सामाजिक याथार्थ्यों पर रस का आखेट करते हैं । गंभीर विषय सरलता से प्रस्तुत करना रायजी की सृजनात्मक प्रतिभा की विशेषता है । प्रकृति-वर्णन, मानव की करुणा, उदारता, प्रेम, सौन्दर्य बोध आदि गुणों का वर्णन, नयी पीढ़ी पर विचार, सांस्कृतिक चित्रण, आधुनिकता पर विचार आदि इसके दृष्टान्त हैं । भाषा में लयात्मक सौन्दर्य इस ललित निबन्ध-संग्रह की विशेषता है ।

विषाद योग

यह पूर्ववर्ती संकलनों से अधिक विचार प्रधान है । पर इसमें साथ ही रस और बोध का समान भाव से वितरण किया गया है । "मैं ने बोध और रस के बीच अंश-भेद देखा है तत्त्वभेद नहीं । जब अनुभव "सद्" और "चिद्" की अवस्था में रहता है तो "बोध" है वही, जब उससे ऊर्ध्व उठकर परमपद में स्थित हो जाता है तो "आनन्द" की संज्ञा पाकर "रस" हो जाता है ।"[2] इस निबन्ध-संग्रह में रायजी वर्तमान समाज के हृदय में व्याप्त आत्मघात, अन्धी आस्था और निरर्थक शब्द-मोह की ग्लानियों को तोडकर पुनः नये कर्मयोग का आविष्कार करने के प्रयत्न में हैं । इसमें आधे ललित निबन्ध और आधे सादे निबन्ध हैं ।

---

1. शिशु वेद, कु. राय, पृः 299.
2. विषादयोग, अन्त में अपनी बात, कु. राय, पृः 245.

स्थान भेद के अनुसार ऋतुओं के आगमन पर भी परिवर्तन होता है । "मुकुलोद्गम" शीर्षक निबन्ध ऋतु-प्रधान है । निबन्धकार अपने गाँव के वसन्तागमन का वर्णन करते हैं । "आम के माथे पर बौर झाँकर "सरसोई अर्थात् नन्हे-नन्हे दानों में बदलने जा रही है । शीशम के मस्तक पर नयी हरियाली फूट रही है वासन्ती फुहार के साथ-साथ ।"[1] प्रकृति का यह सौन्दर्य रायजी के निबन्धों की विशेषता है । ऋतु परिवर्तन के अनुसार भिन्न मासों के नामकरण पर भी निबन्धकार ध्यान देते हैं । मार्च से ऋतु चक्र और संवत्सर चक्र का आरंभ मानते हैं । मार्च या मार्स मंगलमास है । मुकुलों का उद्गम अप्रैल में होता है । मई फूलों की देवी माया के नाम से जान जाता है । वस्तुतः भारतीय मासों का नामकरण वैज्ञानिक है । जून का नामकरण सम्राट जूनियस के नाम पर तथा जुलाई जूलियस के नाम पर और आगस्त ऑगस्तस के भी नाम पर और आगस्त ऑगस्तस के भी नाम पर हुआ । सेप्टेम्बर सप्तम मास, आक्टोबर अष्टम मास, नवंबर नवम मास और डेसेम्बर दशम मास हैं । इन नामों के अनुसार संवत्सर मार्च से आरंभ होता है । जनुअरी "जेनस" से निकला है, जो विगत और आगत दोनों संत्सरों की ओर उन्मुख हैं । फ़ेब्रुअरी फ़ेब्रुअस नामक स्नानपर्व से जुड़ा है । यहाँ इस निबन्ध में संवत्सर के आने की चर्या का उद्देश्य यही स्थापित करना है कि प्रत्येक जन्म के पीछे, चाहे वह व्यक्ति का हो या संवत्सर का हो या ऐतिहासिक युग का हो, कोई-न-कोई बलिदान या तप ज़रूर होता है । यहाँ रायजी के रसात्मक और वैचारिक बोध, झलकते हैं ।

वर्षा ऋतु की अन्तिम नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी है । "उत्तराफाल्गुनी के आसपास" नामक दूसरे निबन्ध में उत्तराफाल्गुनी को प्रतीकात्मक दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है । यह प्रतीक हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था से जुड़ा है । "हमारे जीवन में गदहपचीसी सावन-मनभावन है, बड़ी मौज रहती है, परन्तु सत्ताइसवें के आते-आते घनघोर भाद्रपद के अशनि-संकेत मिलने लगते हैं और तीसी के वर्षों में हम विद्युन्मय भाद्रपद के काम, क्रोध और मोह का तामिस्र सुख भोगते हैं । इसी काल में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हमारी सिसृक्षा कृतार्थ होती है । फिर चालीसवें के लगते-लगते हम भाद्रपद की अन्तिम नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी में प्रवेश कर जाते हैं और दो-चार वर्ष बाद अर्थात्

---

1. मुकुलोद्गम, कु. राय, पृ: 5.

उत्तराफाल्गुनी के अन्तिम चरण में जरा और जीर्णता की आगमनी का समाचार काल-तुरंग दूर से ही हिनहिनाकर दे जाता है ।"[1] हम तीस और चालीस के बीच सार्थक, कर्मठ और सतर्क जीवन बिताते हैं । जो सर्जक और सृष्टिकर्ता है वह चिर युवा है । तीसवें वर्ष में हमें जीवन के प्रश्न चिह्नों को पूरा-पूरा समाधान करना ही पड़ता है । दरअसल चालीस से ज़्यादा जीना असभ्यता, अश्लीलता और अनैतिकता है । व्यंग्य बाण और प्रकृति-सौन्दर्य से निबन्ध भावमय बन गया है ।

"परास्त नरक" में धोबी-धोबिन के लोकगीतों पर प्रकाश डाला गया है, जिनकी पंक्तियों का अर्थगत पूर्वापर संबन्ध ढ़ीला होता है

"अरे धोबी धोबे अड़ही गड़ही, धोबिन धोवे बिय धार
अरे बाबू, धोबिन धोवे बिय धार,
आधो रात गहन गहराइल, सोरह किरन पसार
अरे बाबू, सोरह किरन पसार ।
. . . . . .
. . . . . ।"[2]

यह निबन्ध भी प्रतीकात्मक है । धोबी ताल {तालाब} के चारों ओर मल-मूत्र-गोबर और कचरा-कीच भरा पड़ा है । इस तलाब को निबन्धकार हमारे मन के अवचेतन का प्रतीक मानते हैं । "कुल मिलाकर यह ताल हमारे मन के अवचेतन का प्रतीक है, जिसमें हमारी इच्छायें एवं विस्मृमुखी वासना इन्हीं जलचरों की तरह विहार करती हैं और कभी-कभी स्वप्न या तन्द्रा के मध्य सतह से ऊपर कामरूपी चेहरा निकालकर झाँक जाती हैं । यही धोबी-घाट इस ताल के औघड़ व्यक्तित्व का चेहरा बनाता है और इसको गरिमा को व्यक्तिवाचक स्तर पर पहुँचाकर इसे एक नाम अथवा एक संज्ञा प्रदान करता है । इसी घाट पर कीच-कर्दम दुर्गन्ध के मध्य कर्म के जागृत पीठ की तरह धोबी-पाट या धोबी-शिला स्थापित हैं ।"[3] धोबी-शिला यहाँ कर्म-प्रतीक है । यहाँ प्रतीकों के द्वारा निबन्ध गंभीर हो गया है तथा लोकगीतों से लोकजीवन का परिचय भी दिया गया है ।

---

1. "उत्तराफाल्गुनी के आसपास", कु. राय, पृः 12.
2. परास्त नरक, कु. राय, पृः 25.
3. वही - पृः 22.

"कैक्टस-वन की नायिका" में "कैक्टस" हमारी आदिमता का प्रतीक है । पुराने फूल हमारे लिए कुरूप हो गये हैं क्योंकि उनकी आकृति में कैक्टस की जैसी आदिमता का बोध नहीं । "आप हमारा नारा है : "लौटो आदिम की ओर । हम पुनः नये सिरे से आरंभ करेंगे ।" कैक्टस इस नारे का जीवन्त प्रतीक है ।"[1] कैक्टस के आधार पर जो लोकविश्वास चल रहा है उसका वर्णन भी निबन्धकार ने इसमें किया है । किरातवंशीय लोग इसे तुलसी के समान पवित्र मानते हैं । यह फणिमनसा और सीजूमनसा दो प्रकारों से विभक्त है । असम और बंगाल के कछारी और बोड़ों वर्गों के लोग इसे सर्पों की देवी मनसा का पीठस्थान मानते हैं । और ये इस वृक्ष को अपने आँगन में रोपते हैं । वज्रपात रोकने की शक्ति भी इसमें है । धार्मिक दृष्टि से भी इसकी महत्ता है । पूर्वी उत्तर-प्रदेश में नवजात शिशु के गृह में अग्नि के साथ-साथ सेंहुड़ की एक शाखा रखने की परंपरा है । आर्यों की अग्नि के साथ निषाद और किरातों द्वारा पूजित वनस्पति का आशीर्वाद नवजात शिशु की सुरक्षा केलिए आवश्यक मानते हैं । अमेरिका और अफ्रीका की विविध जातियों में भी कैक्टसों को धार्मिक महत्व प्राप्त है । नागफनी या फणिमनसा दोनों शब्द जन-कल्पना में नागों से एवं सर्पकुल की देवी मनसा से संयुक्त है । इसमें लोक जीवन का सम्यक् चित्रण है ।

यक्ष की गणना किन्नर, गंधर्व आदि के साथ होती है तथा उप देवताओं से और यह कुबेर का अनुचर है । कुबेर यक्षेश्वर कहा जाता है । "यक्ष पूजा" शीर्षक निबन्ध में दीपावली को यक्षपूजा कहा गया है । दीपावली के दिन गणेश-लक्ष्मी के साथ इन्द्र और कुबेर की भी पूजा होती है । कुबेर निधियों के स्वामी थे तो गणेश अष्ट सिद्धियों और ऋद्धि के । "कुबेर-लक्ष्मी युग्म के स्थान पर जन मानस एवं वाङ्मय दोनों में "गणेश-लक्ष्मी" की स्थापना एक बौद्धिक सांस्कृतिक परिवर्तन का द्योतक है जो मसीही संवत् के प्रारंभ में घटित हुआ था ।"[2] अगले निबन्ध "व्यथा-तीर्थ" मूलतः ईश्वर के नये दिक् का अन्वेषण है । यह नये दिक् तो कोमल और निरीह वृत्तियों को शक्ति के एक नये आयाम के रूप में प्रस्तुत करना है । वैष्णवों और ईसाइयों ने यही किया है और

---

1. कैक्टस वन की नायिका, कु. राय, पृः 40.
2. यक्ष रात्रि, कु. राय, पृः 43.

उन्होंने एक बहुत ही मीठे, बहुत ही मोहक ईश्वर का आविष्कार किया । "वैष्णव प्रधानतः प्रेम-समुद्र में गोता लगाकर निहाल होता रहता है और ईसाई करुणा-सागर में डुबकी लगाने का आदी है । वैष्णव आनन्द रस का पान करता है और ईसाई पश्चात्ताप रस का । वैष्णव राधा को आलंबन के रूप में चुनता है तो ईसाई को ।"[1] शब्दार्थ की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के तीन स्तर की भाँति प्रत्येक घटना का एक अभिधार्थ होता है और उस अभिधार्थ के पीछे अनेक लक्ष्यार्थों और व्यंग्यार्थों की परतें होती हैं । रामायण का "बोध" या प्रतीकार्थ या आदर्शगत अर्थ सत्य है या असल ? रायजी इस प्रश्न के उत्तर ढूँढ़ने के प्रयत्न में हैं । "किसी भी काल या किसी भी समाज-व्यवस्था में शील, सदाचार, चारित्रिक सौन्दर्य और धर्म-अधर्म की रामायण में प्रतिपादित मूल्य परंपरा बासी या मिथ्या नहीं हो सकती है । ऐसी अवस्था में हम कैसे कह सकते हैं कि रामावतार असत्य और मिथ्या गप्प है ? राम चाहे जो हों, पर "रामत्व" विवादों से परे सनातन सत्य है और इसी की हम उपासना करते हैं । साहित्य और धर्मशास्त्र इस अभिधा के मायाजाल को काटकर कालातीत तात्विक सत्य का दर्शन करते हैं और वहाँ पर ही उन्हें भगवान का दर्शन होता है ।"[2] इसमें विविध बोधों का रसात्मक वर्णन है ।

"मेघ, मण्डूक और आदिम मन" मुख्यतः वर्षा ऋतु, वैदिक धर्म और भौतिकव पर दृष्टि डालता है । वैदिक धर्म मूल रूप में प्राणवादी है । वैदिक कविता में मधु का अर्थ प्राण स्तर पर अनुभूत "तृप्ति" और "सुख" होता है । "घृत" का अर्थ भी "प्राण रस" या "प्राणदाता ऊर्जा" होता है । "वनस्पतियाँ जीवन अर्थात् प्राणरस और ऊर्जा सूर्य-किरणों से ग्रहण करती हैं । इसी से सूर्य "मधुमान" है, सूर्य-मण्डल के हृदय में मधु है, तभी तो सूर्य मण्डल द्वारा प्राण पुष्ट होता है, प्राण सबल होता है, प्राण हरित होता है और इसके फलस्वरूप देह और मन भी निरुज और स्वस्थ होते हैं । इस तरह वैदिक ऋषि की दृष्टि सीधे-सीधे भाववादी या आध्यात्मिक न होकर प्राणवादी है । प्राणोपासना का ही आगे चलकर विकसित रूप हुआ "योगशास्त्र" ।"[3] शास्त्र में वर्षारंभ चैत्र शुक्ल

---

1. व्यथा तीर्थ, कु. राय, पृः 49.
2. वही - पृः 53.
3. मेघ, मण्डूक और आदिम मन, कु. राय, पृः 64.

प्रतिपदा से है । परन्तु व्यवहार में नये वर्ष का अनुभव वर्षा से ही वे भी करने लगे । मेघ जल देता है और शस्य-लक्ष्मी प्राणवन्त होती है । सूर्य उसको पकहर बनाता है । इसलिए व्यवहार में गांगेय आर्य संवत्सर का प्रारंभ वर्षा से करने लगा तथा अन्त ग्रीष्म से । निबन्धकार के मत में, "तथ्य तो यह है कि सजल-निर्मल, मेघ-मेदुर, शस्य-श्यामल वर्षा ऋतु के आकर्षण ने ही उन व्रात्य-यायावर आर्यों को सीधे-सादे निष्पाप कृषकों में परिवर्तित कर दिया ।"[1] रायजी भौतिकवाद को अधर्म नहीं प्रतिधर्म मानते हैं, क्योंकि यदि यह स्वस्थ भौतिकवाद है तो इसमें स्वैराचार या आत्म-व्यभिचार केलिए कोई जगह नहीं । परन्तु ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य साहित्य को वे अपधर्म मानते हैं । इसमें रायजी की वैचारिक और भावगत अनुभूति का समन्वय है ।

"नारायण और प्रतिनारायण" शीर्षक निबन्ध लिखने का उद्देश्य यह स्थापित करना है कि रावण हीन पात्र नहीं है । राम नारायण है तो रावण प्रति नारायण है । महाभारत के दुर्योधन और शकुनि अधर्म, असत्य और छल का केन्द्र परन्तु केवल सीता-हरण के प्रसंग को छोड़ दें तो रावण कहीं भी हीन, क्षुद्र और नहीं । वे आगे कहते हैं कि राम नारायण हैं । उनका जीवन-दर्शन अस्तित्व प्रत्यभिज्ञान पर आश्रित है । रावण प्रतिनारायण है । उसका जीवन-दर्शन त तात्कालिक सद्य अनुभूति पर आश्रित है । अस्तित्व जिस रूप में तत्काल, स है, वह रूप भौतिक है - भौतिक स्पर्श, भौतिक स्वाद आदि । पर अस्ति प्रत्यभिज्ञान और अस्तित्ववाद का द्वन्द्व है ।"[2] वाल्मीकि की दृष्टि ऋ और इस दृष्टि ने रावण को कहीं हीन या क्षुद्र रूप में नहीं अंकित किय तुलसीदास ने कहीं-कहीं ऐसा किया है । तुलसीदास भक्त थे और उन दृष्टि । ऋषि-दृष्टि सत्य से प्रतिबद्ध रहती है और भक्त-दृष्टि भा और प्रतिनारायण दोनों को तप का बल है । दोनों साधनावस्था भाव से जीतते हैं, बल्कि सिद्धावस्था में विपरीत स्वभाव का वि माया को जीतकर फिर माया का पशु बन जाता है । रायजी विवेचन करके रावण की महिमा पर प्रकाश डाला है ।

---

1. मेघ, मण्डूक और आदिम मन, कु. राय, पृ: 58.
2. नारायण और प्रतिनारायण, कु. राय, पृ: 69.

प्रतिपदा से है । परन्तु व्यवहार में नये वर्ष का अनुभव वर्षा से ही वे भी करने लगे । मेघ जल देता है और शस्य-लक्ष्मी प्राणवन्त होती है । सूर्य उसको पकहर बनाता है । इसलिए व्यवहार में गांगेय आर्य संवत्सर का प्रारंभ वर्षा से करने लगा तथा अन्त ग्रीष्म से । निबन्धकार के मत में, "तथ्य तो यह है कि सजल-निर्मल, मेघ-मेदुर, शस्य-श्यामल वर्षा ऋतु के आकर्षण ने ही उन व्रात्य-यायावर आर्यों को सीधे-सादे निष्पाप कृषकों में परिवर्तित कर दिया ।"[1] रायजी भौतिकवाद को अधर्म नहीं प्रतिधर्म मानते हैं, क्योंकि यदि यह स्वस्थ भौतिकवाद है तो इसमें स्वैराचार या आत्म-व्यभिचार केलिए कोई जगह नहीं । परन्तु ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य साहित्य को वे अपधर्म मानते हैं । इसमें रायजी की वैचारिक और भावगत अनुभूति का समन्वय है ।

"नारायण और प्रतिनारायण" शीर्षक निबन्ध लिखने का उद्देश्य यह स्थापित करना है कि रावण हीन पात्र नहीं है । राम नारायण है तो रावण प्रति-नारायण है । महाभारत के दुर्योधन और शकुनि अधर्म, असत्य और छल का केन्द्र है । परन्तु केवल सीता-हरण के प्रसंग को छोड़ दें तो रावण कहीं भी हीन, क्षुद्र और दीन नहीं । वे आगे कहते हैं कि राम नारायण हैं । उनका जीवन-दर्शन अस्तित्व के शुद्ध प्रत्यभिज्ञान पर आश्रित है । रावण प्रतिनारायण है । उसका जीवन-दर्शन अस्तित्व की तात्कालिक सद्य अनुभूति पर आश्रित है । अस्तित्व जिस रूप में तत्काल, सद्य और निकट है, वह रूप भौतिक है - भौतिक स्पर्श, भौतिक स्वाद आदि । पर अस्तित्व अपने शुद्ध प्रत्यभिज्ञान और अस्तित्ववाद का द्वन्द्व है ।"[2] वाल्मीकि की दृष्टि ऋषि-दृष्टि है, और इस दृष्टि ने रावण को कहीं हीन या क्षुद्र रूप में नहीं अंकित किया है । लेकिन तुलसीदास ने कहीं-कहीं ऐसा किया है । तुलसीदास भक्त थे और उनकी दृष्टि भक्त-दृष्टि । ऋषि-दृष्टि सत्य से प्रतिबद्ध रहती है और भक्त-दृष्टि भक्ति से । नारायण और प्रतिनारायण दोनों को तप का बल है । दोनों साधनावस्था में माया को समान भाव से जीतते हैं, बल्कि सिद्धावस्था में विपरीत स्वभाव का विकास होता है । रा माया को जीतकर फिर माया का पशु बन जाता है । रायजी ने रामायण पर विस्तृ विवेचन करके रावण की महिमा पर प्रकाश डाला है ।

---

1. मेघ, मण्डूक और आदिम मन, कु. राय, पृः 58.
2. नारायण और प्रतिनारायण, कु. राय, पृः 69.

क्रौंच-वध के माध्यम से रामायण महाकाव्य में एक विशिष्ट प्रकार की तकनीक प्रस्तुत है । रामायण की थीम "पौलस्त्य-वध" का सूचक वृत्त है क्रौंच-वध । पूरे महाकाव्य का संकेत इसी वृत्त में निहित है । प्रतीक में काव्य-वस्तु और प्रतीक दोनों परस्पर समानान्तर चलते हैं । पर सूचक संकेत ही देता है । क्रौंच-युग्म राम-सीता का प्रतीक नहीं मान सकते क्योंकि रावण द्वारा राम-सीता बिछुड़ जाते हैं, राम की मृत्यु नहीं । "एक महाकाव्य का जन्म" इस तथ्य पर आधारित निबन्ध है । इसमें रायजी की सृजनात्मक प्रतिभा स्पष्ट है ।

"लंका की एक रात" में हनुमान-प्रसंग है । सीता को खोज केलिए हनुमान लंका में विचरण करता है । "एक कामविद्ध पुरी है । उस पर काम-रूपी रात अपनी उदार, विदग्ध और विकृत तीनों भूमिकाओं के साथ उतरती है और इसी मायामय वातावरण में एक स्थितधी पुरुष निराहार व्रतबद्ध रूप में, खंड-प्रति-खंड, कोण-प्रति-कोण दबे-पाँव सावधानी से चल रहा है ।"[1] रायजी वाल्मीकि की श्रेष्ठता पर भी ध्यान देते हैं । वे कहते हैं कि कभी-कभी वाल्मीकि का एक ही वाक्यांश बहुत बड़ा संकेत दे देता है । रावण के विलास-कक्षाओं को "समुद्रमिव गंभीर समुद्रमिव निः स्वनं" कहा गया है ।

इस निबन्ध-संग्रह का दूसरा खण्ड है "अनुचिन्तन" । इसमें मुख्यतः अस्तित्ववाद पर गंभीर चिन्तन प्रस्तुत है । "अस्तित्ववाद : पथ का नया दावेदार" पर निबन्धकार यह स्थिर करते हैं कि अस्तित्ववाद चिन्तन से अधिक अपनी अनुभूति पर आश्रित दर्शन है । यह अस्तित्ववाद बीसवीं शती तक आनेवाले दर्शन के दोनों ध्रुवों - प्रत्ययवाद और भौतिकवाद - को अस्वीकृत करता है । प्रत्ययवाद के अनुसार जो कुछ है वह प्रत्यय है । प्रत्यय के अतिरिक्त शेष सब मिथ्या है । भौतिकवाद तो अपने को वैज्ञानिक चिन्तन मानता है । इसके अनुसार प्रकृति की सारी घटनायें एवं मन की सारी क्रियायें बंधे हुए सुदृढ़ प्राकृतिक एवं मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार घटित होती हैं । यह मनुष्य को हीनरूप में देखता है । अस्तित्ववादी भुक्तभोगी जीव है, वह व्यवहार में जो अनुभूत करता है उसे ही मानता है । मानव समुदाय नयी स्थिति पर है । ईश्वर उनसे दूर हो गए हैं तथा फ्रॉयडवाद, मार्क्सवाद और गत महायुद्ध ने आकर सारे मूल्यों को समाप्त कर

---

1. लेका की एक रात, कु. राय, पृः 82.

दिया जो शिव, सुन्दर एवं सत्य के रूप में समाज में प्रतिष्ठित थे । इस स्थिति से बचाने का मार्ग भी निबन्धकार देते हैं - एक आत्मघात और दूसरा विद्रोह । सबके आगे निष्क्रिय होकर पड़े रहना आत्मघात है तथा नये मूल्यों की सृष्टि और अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करना विद्रोह है । मानवीय स्थिति या अस्तित्व प्राथमिक है और उसकी मूल प्रकृति या एसेन्स का महत्त्व द्वितीय है । अस्तित्ववाद के संबनध में आस्तिक और नास्तिक दोनों पक्षों का मत यही है । अस्तित्व के बारे में आस्तिक पक्षों ने एक अन्य व्याख्या दी है । प्रत्येक काल-बिंदु पर भूत-वर्तमान और भविष्य एकत्र हैं । वर्तमान के साथ अतीत जुडा है । हमारी वर्तमान स्थिति में भविष्य की स्थिति का बीज है । किर्केगार्द ने कहा है कि मनुष्य सदैव हो रहा है" या "बन रहा है" की अवस्था में है । "अतः सदैव उसमें निरन्तर विकसित होने की आशा वर्तमान है । इस प्रकार कीर्केगार्द हमारेलिए इस सिद्धान्त के अन्दर अनंत एवं सतत विकासशील आशावाद का प्रतिपादन करता है ।"[1] कीर्केगार्द आस्तिक पक्ष के आदि गुरु थे । उन्होंने मनुष्य को निरन्तर विकासमानता के आधार पर अपना आशावादी दर्शन प्रतिष्ठित किया ।

"नयी आस्तिकता : पुरानी धुरी" में मनुष्य की पराजय एवं मानवीय मूल्यों के पतन और ध्वंस से प्रेरित होकर अस्तित्व के संबन्ध में मौलिक प्रश्न उठाये गए हैं । कीर्केगार्द के मत में ईश्वर और अतिमा दोनों का अस्तित्व है । प्लेटो से लेकर हेगेल तक के दार्शनिकों ने ईश्वर को एक प्रत्यय मानकर चला है । अस्मिता की उपलब्धि अनुभू के द्वारा हो सकती है । कीर्कगार्द व्यक्ति के स्वातंत्र्य को प्रधानता देते हैं । ईश्वरेच्छ ऋतचक्र है । इस ऋत चक्र के नीचे व्यक्ति अपना स्वतंत्र-निर्णय कर सकता है । इससे व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग हो जाता है । व्यक्ति के जीवन में सौन्दर्य, नैतिकता और धार्मिकता {अध्यात्म} सन्तुलित रूप में रहती हैं । वैष्णव धर्म साधना और कैथोलिक साधना में सौन्दर्य, सत्य और अध्यात्म को समान स्थान मिला है । ये सब अस्तित्ववादी चिन्तन का आस्तिक दृष्टिकोण है । आगे "नये त्रिशंकु : नयी कर्मनशा" शीर्षक निबन्ध अस्तित्ववादी नास्तिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालता है । यह दृष्टिको नीत्शे से प्रारंभ होता है । ईश्वर नष्ट होने का अर्थ है मनुष्य का अकेला पड़ जाना ।

---

1. अस्तित्ववाद पथ का नया दावेदार, कु. राय, पृः 99.

नास्तिक अस्तित्ववाद कहता है कि अब मानव को सुपरमैन बनना तथा भयंकर शौर्य और अदम्य साहस दिखाना है । सार्त्र भी इस मत में है । मनुष्य की स्वतंत्र स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है । यह स्वतंत्रता सुखमय नहीं है । हमारे मन में सदैव यह विचार होता रहता है कि हम अकेले हैं और निराश्रय हैं । सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद तीन विशिष्ट विधाओं से अनुभूत करते हैं, वे हैं मानसिक पीड़ा, उपेक्षित एवं अभिशप्त भाव और हताशा । हमारे उत्तरदायित्व बोध से एक मानसिक पीड़ा उत्पन्न होती है, क्योंकि हम चिन्तित हैं कि इस कार्य केलिए हम उपयुक्त हैं? ईश्वर और कोई चरम मूल्य नहीं है तथा कोई आदर्श या पूर्वनिश्चित मानदंड भी नहीं । हम अकेले सब का भार कैसे ढ़ोते? इससे उपेक्षित एवं अभिशप्त भाव उत्पन्न होता है । हम स्वतंत्र और अधिकारी है, पर दूसरी ओर हमारी हद भी बंधी गयी है । इससे हताशा का जन्म होता है । सार्त्र स्थापित करते हैं कि यह अस्तित्ववाद मानववाद और कर्मवाद दोनों है । लेकिन निबन्धकार यहाँ प्रश्न करते हैं, "मानववाद यह कैसे हुआ जबकि यह सारे पूर्वरत मानव-मूल्यों एवं आदर्शों को अस्वीकार करता है, एवं शिव-अशिव का अन्तर ही नहीं मानता? कर्मवाद यह कैसे हुआ जबकि मनुष्य को अकेली "अभिशप्त" अवस्था में ऊपर तीन मानसिक स्थितियों में ही रहकर कर्म करना है?"[1] रायजी के मत में कुछ पूर्व निश्चित मूल्यों के आधार पर कर्मवाद एवं क्रांति का निर्णय होता है ।

कामू के अनुसार विश्व में सब कुछ विसंगत है और यह विसंगति ही कामू के अस्तित्ववाद का आधार है । कामू ने विसंगतियों को "स्व" या "व्यक्ति" के दायरे से हटाकर "समूह" के दायरे में ले लिया है । अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद की कुछ समानतायें भी प्रस्तुत की गई हैं । ये दोनों समान रूप से सनातन मूल्यों को अस्वीकार करते हैं और मार्क्सवाद तथा नास्तिक अस्तित्ववाद ईश्वर को नहीं मानते । रायजी इस पर अपना मत व्यक्त करते हैं, "अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का झगडा उतना ही स्वाभाविक है जितना दो सहोदर बन्धुओं में खेलते-खेलते अचानक हो जाता है । पर हैं वे दोनों बन्धु ही । मार्क्सवाद ने व्यक्ति की सत्ता अस्वीकृत कर दी और इस

---

1. "नये त्रिशंकु : नयी कर्मनाशा", कु. राय, पृः 112.

अस्तित्ववाद ने समुदाय की । कामू के नये सगुण विद्रोह दर्शन को छोड़कर सार्त्र आदि का समुदायगत विद्रोह केवल "गप्प" भर है ।"[1] मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद पर रायजी विस्तृत विश्लेषण करते हैं ।

अगले निबन्ध क्रान्ति, विसंगति और कामू का विद्रोह दर्शन में बीसवीं शती के पराजित मन को विद्रोह करने की प्रेरणा देते हैं । विसंगतियों के बीच में रहकर नये मूल्यों की सृष्टि करने का उपदेश देते हैं । कामू के विद्रोह-दर्शन की व्यक्तिपरक चिन्तन-दृष्टि "मिथ ऑफ सिसिफस" में देख सकते हैं और इसकी समष्टिपरक चिन्तन-दृष्टि "विद्रोही" (द रिबेल) में । वे कहते हैं कि मनुष्य की इस विसंगत स्थिति की संहिता के दो मुख्य तथ्य हैं पारदर्शकता (स्पष्ट दृश्य) और सरलता (निर्दोष) । कामू इन दोनों को मूल मानव-स्वभाव का धर्म मानते हैं । तत्काल अनुभूति की कसौटी पर नये मूल्यों की स्थापना ही सच्चा विद्रोह है । विद्रोह की मूल प्रवृत्ति के साथ दो और प्रवृत्तियाँ भी मनुष्य में स्थित हैं - वरण स्वातंत्र्य या कर्मस्वातंत्र्य और प्रगाढ़ जीवन की लालसा । निबन्ध की दृष्टि में, "यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि ये प्रवृत्तियाँ जिस जगत में क्रियाशील होगी वह भी निश्चय ही विसंगतियों का जगत् है । ऐसी हालत में न तो चरम् विद्रोह हो सकता है और न चरम वरण-स्वातंत्र्य या चरम प्रगाढ़ जीवन ।"[2] सापेक्ष मूल्यों पर आधारित क्रान्ति को ही कामू विद्रोह कहते हैं और यह विद्रोह ठोस परिस्थितियों को लेकर चलता है ।

अस्तित्ववाद की नास्तिक धारा के मूल व्याख्याता ज्याँपाल सार्त्र हैं । "मनुष्य" या "घटना" मूलतः प्रथम अस्तित्व में आते हैं और उनका यह अस्तित्व या "है" निरन्तर विकासमान, निरन्तर "हो रहा है" की स्थिति में है । उन्हें खेद है कि देश जनता और बुद्धिजीवी दोनों ने अपने अनुभव के आधार पर सोचना छोड़ दिया है और वे आयात किये हुए को रटते हैं । रायजी "ज्याँपाल सार्त्र : नव्य मार्क्सवाद की ओर" शीर्षक निबन्ध में इन बातों पर विचार करते हैं । सार्त्र केवल अस्तित्ववादी ही नहीं,

---

1. नये त्रिशंकु : नयी कर्मनाशा, कु. राय, पृः 117.
2. क्रांति, विसंगति और कामू का विद्रोह-दर्शन, कु. राय, पृः 123.

सन् 1960 ई. के बाद नव्य मार्क्सवाद की ओर भी जाते हैं । जिस प्रकार वे व्यक्ति स्वातंत्र्य की व्याख्या करने केलिए अस्तित्व वाद का मार्ग चुनते हैं, वैसे समूह की अर्थात् इतिहास की विचारधारा को समझने केलिए मार्क्स की चिन्ताओं को पकड़ते हैं । इस प्रवृत्ति को निबन्धकार रायजी इसप्रकार देखते हैं, "यह बहुत कुछ वैसे ही हुआ जैसे परमार्थिक स्तर पर अद्वैत बुद्धि और व्यावहारिक स्तर पर छुंआछूत ।"[1] सार्त्र मार्क्स के दर्शन को कई स्तरों पर अस्वीकार करते हुए भी मार्क्स के उद्देश्य शोषण-मुक्ति पर मुग्ध भाव से देखते हैं । "मार्क्सवादी भौतिक, ऐतिहासिक नियमों के आधार पर मनुष्य को निकषित करना और रूपान्तरित करना चाहता है । फल होता है, प्रमुखता पा जाते हैं वे नियम, सिद्धान्त या प्रत्यय-समूह और उनके आधार पर कल्पित कार्यक्रम तथा इन सब का लक्ष्य मनुष्य गौण होकर उनका क्रीतदास हो जाता है । यही मार्क्सवाद की विडंबना है । अब सार्त्र का प्रस्ताव है कि मार्क्सवाद को उलटा चलना होगा । पहले मनुष्य को उसकी संपूर्ण सत्ता में स्वीकार करना होगा, तब उसके आधार पर समूह, इतिहास या भौतिक प्रकृति को समझना तथा वरण करना होगा ।"[2] दोनों का मतलब सार्त्र और मार्क्स का लक्ष्य मनुष्य ही है ।

इस निबन्ध में निबन्धकार सर्वोदयी विचारकों और सार्त्र की विचार-धारा पर भी दृष्टि डालते हैं । भारतीय वेदान्ती का आधुनिक संस्करण है "सर्वोदय", तथा इनका विचार भी "मनुष्य से प्रारंभ करो" और "व्यक्ति से प्रारंभ करो" है । लेकिन प्रत्ययवाद की स्थिति पर सर्वोदयी विचारकों और सार्त्र में मौलिक भेद है । वेदान्त के अनुसार चरम सत्ता ब्रह्म है । किन्तु सार्त्र के संबन्ध में चरम मूल्य कुछ है ही नहीं । सार्त्र तात्कालिक अनुभूति को एकमात्र सत्य मनते हैं, वेदान्त इस पर विश्वास नहीं करते । सार्त्र व्यक्ति-चैतन्य की मुक्त भूमिका स्वीकृत करते, पर सर्वोदय व्यक्ति-चैतन्य की भूमिका स्वीकृत करते तो भी उसका लक्ष्य शोषण-मुक्ति से भी एक पग आगे हैं । सार्त्र अपने "क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न" में अपनी विशिष्ट अस्तित्ववादी पद्धति और निजी मौलिकता से

---

1. ज्याँपाल सार्त्र : नव्य मार्क्सवाद की ओर, कु. राय, पृ: 134.
2. वही - पृ: 135.

संपृक्त तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं । उन्होंने भौतिकवादी दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त "मनुष्य भी पशु ही है" को अस्वीकृत कर लिया । उनके अनुसार मनुष्य अवश्य एक प्राणी है, कोई जड़ वस्तु या कीट-पतंग नहीं । मार्क्स द्वारा स्थापित इतिहास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या को सार्त्र अंशतः ठीक मानते हैं । मनुष्य की शोषण और दासता से मुक्ति ही मार्क्स की राजनीति और अर्थशास्त्र का मौलिक लक्ष्य है । इसे वे स्वीकार करते हैं, लेकिन इसकेलिए पार्टियों के प्रति नतमस्तक होना उन्हें स्वीकार्य नहीं है । सार्त्र अस्तित्ववाद में नये मूल्यों का सृजन करते हैं, जिससे आज के ये मानव रक्षा पा सकते हैं । सार्त्र अपने द्वन्द्वशास्त्र का निर्माण करते हैं । "वे पूंजीवाद का प्रतिषेध समाजवाद को मानते हैं, परन्तु उनका ज़ोर वर्ग-संघर्ष पर नहीं । उनके अनुसार वर्ग-संघर्ष या श्रेणी-संघात का अस्तित्व है अवश्य । परन्तु यही मानव-इतिहास की संचालक-शक्ति नहीं । मानव-इतिहास के पीछे संचालिका शक्ति है, "अभाव" या "अपर्याप्तता" (SCARCITY) तथा उससे उत्पन्न "आवश्यकता" या "माँग" का अनुभव ।"[1] हमें इस अभावबोध से कर्म करने की प्रेरणा मिलती है । मनुष्य के अभावों की पूर्णतः पूर्ति नहीं होगी । अभाव-पूर्ति के प्रयत्न में एक प्रतिद्वन्द्वी का सामना करना पड़ता है । इतिहास निरन्तर गतिमान रहेगा और साथ ही सदैव सनातन रूप में मनुष्य का वैरी मनुष्य रहेगा, जो वैरी संसार का अंग बनकर सक्रिय रहेगा । एक ही प्रकार के अभावों से ग्रस्त अनेक मनुष्य एक दल तैयार करके, अभाव को दूर करने को वचनबद्ध है । व्यष्टि और समष्टि का योग मनुष्यों के सहयोग से होता है और वह भी दलबद्ध सहयोग से । पंक्तिबद्ध योग में प्रत्येक व्यक्ति या तो तटस्थ है, नहीं तो एक दूसरे का प्रतियोगी । इसके विपरीत "दल" का अपना एक निजी व्यक्तित्व है, निजी चरित्र है और अपना एक निजी चेहरा है ।

मार्क्सिस्ट और लेनिनिस्टों द्वारा प्रदर्शित समाजवाद, मानव के महत्व की अस्वीकृति, पुराने मूल्यों का तिरस्कार, राष्ट्रीयता की अस्वीकृति आदि का पुर्जा है । मार्क्सवाद की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि मज़दूर अन्तर्राष्ट्रवाद के स्वप्न के नशे में यह तथ्य भूल जाता है कि राष्ट्रवाद अब भी शक्तिशाली है । इस परिस्थिति में समाजवाद साहित्यिक जगत् में कोई स्थाई भूमिका नहीं कर सकेगा, क्योंकि साहित्य का

---

1. ज्याँपाल सार्त्र : नव्य मार्क्सवाद की ओर, कु. राय, पृः 139.

मूल्य सार्वकालिक है । मार्क्सवाद ने व्यक्ति को "समूह मानव" के रूप में प्रतिष्ठित किया है । निबन्धकार के मत में, "इसमें सन्देह नहीं कि परिवार" के स्थान पर समूह {कॅम्यून} की स्थापना एक बहुत बड़ी भाव-क्रांति लायेगी । प्रेम, करुणा, श्रृंगार आदि भावों की धुरी ही बदल जायेगी । उदाहरण केलिए श्रृंगाररस का स्तर सदैव ऐन्द्रिक ही रहेगा । उल्लास का रसबोध भी ऐन्द्रिक स्तर ही होगा । पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव समाप्त हो जाएगा, जिसके आधार पर अतीन्द्रिय प्रेम की अनुभूति होती है " एक केलिए " एवं निजत्व का लोप हो जाने से एवं पत्नी और प्रेमिका के स्थान पर समूह नारी और सबकी भोग्या के आ जाने से अतीन्द्रिय प्रेम एवं एकान्त आत्मसमर्पण का प्रश्न ही समाप्त हो जाएगा ।"[1] आज व्यक्ति साँप की तरह कुण्डली मारकठ स्वकेन्द्रित एवं विषधारो हो गया है । राष्ट्रीयता के भावात्मक पहलू पर ज़ोर देकर उसे हम गरलहीन बना सकते हैं एवं राष्ट्रशक्ति का उपयोग रचनात्मक कार्यों केलिए कर सकते हैं । "साहित्य की उत्तरकालीन दिशा - समाजवाद " शीर्षक निबन्ध में मुख्यतया समाजवादी साहित्य का गंभीर विचार हो है । आगे रायजी कहते हैं कि भारतवर्ष के समाजवाद मार्क्सिस्ट और लेनिनिस्ट नहीं । समाजवादं भाव-विकास के दो विभाजन किये जा सकते हैं : समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के पूर्व वर्ग-संघर्ष काल और दूसरा उसके बाद । "यह संघर्षकालीन साहित्य-जिसके विषय आस्था, विश्वास, जन-सहानुभूति एवं नैतिक-संकट की समीक्षा होंगे, अन्त में चलकर मुक्ति-प्रधान समाजवादी साहित्य में विलीन हो जायेगा । समाजवाद की स्थापना के बाद या तो मानव मुक्ति होगी, नहीं तो मानव का मशीनीकरण होगा । पहली अवस्था में साहित्य की दिशा सर्वोदय की ओर मुड़ेगी । दूसरी अवस्था में साहित्य का दमन होगा ।"[2] इस निबन्ध में निबन्धकार साहित्यरूपों का विभाजन इस प्रकार करते हैं - लोकमंगल और रसप्रधान । रस प्रधान के तथ्यवादी और शैलीवादी जैसे दो उपविभाजन भी किए गए हैं । समाजवादी साहित्य का विकास-पथ लोकमंगल प्रधान हो और व्यक्ति को अभिरुचि की वृद्धि रस के द्वारा ही होती है । तथ्यवादी रस साहित्य से भी समाजवादी उद्देश्यों का गहरा संबन्ध है । समाजवादी साहित्य की विधा का कोई निश्चित रूप नहीं ।

---

1. साहित्य की उत्तरकालीन दिशा - समाजवाद' कु. राय, पृः 151-152.
2. वही - पृः 154.

जो कोई विधा सोद्देश्य और तथ्यपूर्ण है वह समाजवादी साहित्य बनने में समर्थ है । समाजवादी साहित्यकार की मुख्य समस्या भाषा की स्वाभाविकता को रक्षा करना है ।

"समाजवादी सिसृक्षा और अभिव्यक्ति संकट" शीर्षक निबन्ध हमारे अतीत जीवन-मूल्यों को प्रधानता पर आश्रित है । तथा समाजवादी संस्कृति को समन्वित संस्कृति, जिससे सामाजिक एकता संभव है, उसका प्रतिपादन भी करते हैं । प्रत्येक राजनीतिक सामाजिक परिवर्तन अपने साथ अभिव्यक्ति का संकट लाता है । अतीत में प्रस्थापित जीवन मूल्यों की सहायता से यह संकट दूर कर सकते हैं । आधुनिक भारतीय साहित्य आमूल परिवर्तन (रेडिकल आदर्श) के मोह में पड़कर यही अवस्था भोग रही है । युगानुरूप स्वतंत्रचेता मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहेगा, लेकिन अभिव्यक्ति नहीं बदलती ।

"श्रमिक संस्कृति और सिसृक्षा-तोष" नामक निबन्ध में लोक संस्कृति, जन संस्कृति और श्रमिक संस्कृति के सूक्ष्म अन्तर को व्यक्त करते हैं । परम्परागत संस्कृति के दो उपभेद अभिजात और लोकसंस्कृति है । यह अभिजात संस्कृति भी लोक संस्कृति या कृषक संस्कृति का ही विदग्ध और परिष्कृत रूप है । समाजवादी सभ्यता को अर्थात् वैज्ञानिक, औद्योगिक सभ्यता की "श्रमिक संस्कृति" कुछ और चीज़ है । उस श्रमिक संस्कृति का तात्पर्य टाटा, राउरकेला, भिलाई में विकसित होती हुई श्रमिक संस्कृति और सिद्धान्ततः इसका लोक-संस्कृति से या तो कोई संबन्ध नहीं हो सकता, अथवा होगा भी तो अवसर-विशेष के मनोरंजनार्थ मात्र ।

"समाजवाद, अमलातंत्र और साहित्यकार" शीर्षक निबन्ध में स्वर्ग और नरक के बीच जो "उपनरक" है, उस उपनरक में रहनेवाले के समान, वर्तमान समाजवादी रूस में रहता है । समाजवाद की ट्रैजड़ी यह है कि समाजवाद के प्रबल और स्थायी होने के साथ-साथ उसी परिमाण में अमलातंत्र भी प्रबल और स्थायी होता जाता है । समाजवाद व्यवहार में सर्वत्र ही "अमलातांत्रिक समाजवाद" है । यहाँ निबन्धकार यह कहना चाहते हैं कि अमलातंत्र की शक्ति को नियंत्रित करना अनिवार्य है । इसकेलिए लेनिन के मत में अमलातंत्र के उपेक्षणीय अंश को उपेक्षित करना तथा माओत्सेतुंग के अनुसार जनता में स्थित विकृत के संभावित छूत को रोकना । सिद्धान्त में जो स्पष्टीकरण या सरकारी स्वामित्व है व्यवहार में वह अमला स्वामित्व है । इसलिए माओ और लेनिनके प्रयत्न समाजवाद को अमलातंत्र से बचाते नहीं । "समूची भारतीय राजनीति ही ऊपरी स्तर पर व्यक्तिगत

निष्ठा, व्यक्तिगत संबन्धों की भावुकता पर गठित हुई थी । उसे सिद्धान्त की लीक पर तर्कबुद्धि के अधार पर विकसित नहीं होने दिया गया और बार-बार सत्य के साथ सौदाबाजी होती रही । यह इतिहास का एक कटु सत्य है ।"[1] गाँधीजी ने अमलातंत्र की शक्ति को सीमित करने की एक मौलिक परिकल्पना "विकेन्द्रीकरण" पहले से ही कर रखी थी । क्षमता यदि विकेन्द्रित रहेगी तो अमलातंत्र कभी भी शक्तिशाली नहीं होगा । और उन्होंने यह भी कहा है कि युवावर्ग को इस अमलातंत्र की अन्यायमुखी चेहरे के विरुद्ध प्रतिकार का स्वर उठाने की प्रेरणा देनी चाहिए । प्रत्येक क्रान्ति के बाद एक अवकाश का क्षण है और उसे ढँकने केलिए अमलातंत्र का उपयोग है । यह अमलातंत्र सदैव बुद्धिजीवि और श्रमिकवर्ग को परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बनाये रखता है । बड़े से बड़े बुद्धिजीवि को गिराने केलिए, श्रमिक जनता का विश्वासघात करना पर्याप्त कारण है । यह सोवियत् स्थिति है । सोवियत जनता के आदर्शों के प्रति बफादारी लेखक का सबसे बड़ा कर्तव्य है । हम भी समाजवाद को शपथ ले चुके हैं, इसलिए व्यवहार में सोवियत् प्रशासनिक और सांस्कृतिक पर्यटन ही हमारा आदर्श है ।

आगे "नव्य वाम चिन्तन और हरबर्ट मारक्यूज़" नव्य-वामचिन्तन पर लिखित निबन्ध है । मार्क्सवादी चिन्तन का आधुनिकतम रूप है नव्य वाम । पुराने वाम और नव्यवाम की दृष्टि में थोड़ी भिन्नता है । नव्य वाम किसी पार्टी के प्रति नतमस्तक नहीं । यह आर्थिक शोषण से अधिक आत्मनिर्वासन की समस्या को मूलभूत और महत्वपूर्ण मानता है । यह मज़दूर वर्ग को स्थापित व्यवस्था के बुर्ज्वा अंश का ही एक अंग मानता है जिसकी सारी लड़ाई अपनी सुख-सुविधा केलिए है । हिंसा केलिए इसमें काफी जगह है । नव्य वाम के प्रवर्तकों में ज्याँपाल सार्त्र और हरबर्ट मारक्यूज़ प्रमुख हैं । मारक्यूज़ ने दिखाया कि क्रान्ति पुराने वामपन्थी अर्थ में अब मूल्य खो-चुकी है । मार्क्स के समय से आज की अर्थ-व्यवस्था का रूप भिन्न है । आज सर्वहारा का वह रूप नहीं रहा जो उसके समय में था । क्रान्ति की आवश्यकता का एक अधिक मौलिक आधार ढूँढ़ने की ज़रूरत है । इस औद्योगिक संस्कृति में शोषक-शोषित का अन्तर घटता जा रहा है ।

---

1. समाजवाद, अमलातंत्र और साहित्यकार, कु. राय, पृ: 179.

"अतः अधिक आधारभूत, मौलिक एवं चरम बात हुई "अवदमन से मुक्ति", सामाजिक-आर्थिक-नैतिक-आत्मिक सब प्रकार के अवदमनों से मुक्ति । शोषण खतम हो जाता है । पर अवदमन रह जाता है और उद्धारक स्वयं उस अवदमन से संपृक्त रहने के कारण शोषण की एक नयी तकनीक को जन्म देता है । अतः आवश्यकता है मूल पर कुठाराघात करने की और वह मूल है अवदमन । यह कार्य मार्क्स को अस्वीकार करके नहीं, बल्कि मार्क्स की चिन्ता को ही एक नया आयाम देकर संभव होगा ।"[1] मारक्यूज़ के अनुसार यह ज़रूरी है कि क्रान्तिकारी स्वयं को उस प्रक्रिया और उस इच्छा से मुक्त रखे जिसके विरुद्ध वह लड़ने चला है । आगे मारक्यूज़ की रचनाओं का विश्लेषण है । "युक्तिवाद और क्रान्ति" (Reason and Revolution) (1940) में मारक्यूज़ एक नव्य हेगेलवादी के रूप में ही सामने आते हैं । हेगल का दर्शन युक्ति और बुद्धिवाद पर आधारित है और व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार करता है । मारक्यूज़ इस युक्ति और बुद्धि की माँग को क्रान्ति कहते हैं । दूसरी रचना "कामवृत्ति और सभ्यता" (Eros and Civilisation) (1955) में मारक्यूज़ ने क्रान्ति की आवश्यकता को नया आधार दिया है अवदमन से मुक्ति का । "आज की सभ्यता एकमात्र अवदमनों की सभ्यता है और ये अवदमन इस सीमा तक हावी हैं कि मनुष्य एक भयावह एलिएनेशन (Alienation) की स्थिति में आ गया है ।"[2] इस प्रक्रिया को रोके बिना मनुष्य का विकास असंभव है । मारक्यूज़ फ्रॉयड के सिद्धान्तों का संशोधन करते हैं : अवदमन दो तरह के हैं मौलिक और अतिरिक्त । मारक्यूज़ मौलिक (basic) अवदमनों की आवश्यकता स्वीकार करके अतिरिक्त (surplus) अवदमनों को हटाने की बात करते हैं । अतिरिक्त अवदमन हटा दिये जायें तो मौलिक अवदमनों का विषाक्त अंश भी परिवर्तित हो जाएगा । उनका फ्रायड के सिद्धान्तों का दूसरा संशोधन मनुष्य के सुख का है । "एक आयामी मनुष्य" (One Dimensional Man) 1964 नामक तीसरी पुस्तक में एक आयामी अर्थात् सुख-सुविधा की गुलामी मनुष्य की चर्या है । आज मानव की इच्छा खाने पहनने और रतिक्रिया करने से जुड़ी है । चौथी रचना "शुद्ध सहिष्णुता की आलोचना" (A Critique of Pure Tolerance) (1966) ने साठोत्तरी के युवामन को बहुत प्रभावित किया है ।

---

1. नव्य वाम चिन्तन और हरबर्ट मारक्यूज़, कु. राय, पृः 193.
2. वही - पृः 197-198.

आगे निबन्धकार ने कुछ टिप्पणियाँ दी है । पहली टिप्पणी मानविकी की महत्ता के प्रति आज जो उपेक्षा मनोभाव है, उसे व्यक्त करते हैं । शीर्षक "माघे मेघे गतं वयः" नाम पर है । आज मूल्यों पर आधारित विद्या का कोई महत्त्व नहीं । संख्या और परिमाण पर आश्रित विद्या ही हमारी दृष्टि में महत्वपूर्ण है । भौतिकता के बाज़ार में कालिदास, तुलसीदास जैसे महानों के कला-साहित्य का मूल्य नहीं । लेकिन इनकी उपलब्धि मानसिक है । शरीर से भी महत्वपूर्ण है मन । मन शरीर का चालक है । इससे मानविकी की क्या महत्ता है, स्पष्ट है । हमारा क्लासिकल साहित्य व्यक्ति को स्वस्थ, सबल और सहज बनाता है । व्यक्ति को स्वस्थ, सबल और सहज बनाना साहित्य की पाज़िटिव भूमिका है । "हमारा क्लासिकल साहित्य इसी भूमिका की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और इसीलिए मुझे "माघे मेघे गतं वयः" की कामना महत्वपूर्ण लगती है क्योंकि इस दृष्टि से हमारा आधुनिक साहित्य, विशेषतः सद्य आधुनिक साठोत्तर साहित्य, मुझे विपथगामी लगता है ।"[1]

"विपथगा" नामक दूसरी टिप्पणी में साहित्य की श्रेष्ठता पर जो बातें पहले निबन्ध में कही गयी है उसका पुनः विश्लेषण है । "अति नये कवि" और "अतिशय नये कथाकार" की रचना के संबन्ध में रायजी का मत हैं कि ये उनकी क्षमता और रुचि के बाहर की बात है । उसका कारण भी वे बताते हैं । इन्हें पढ़ने पर उनके मन में कोई तीव्र-बोध की सृष्टि नहीं होती । रघुवंश, टेंपेस्ट जैसे ग्रंथों का एक पृष्ठ पढ़ने पर जो मानसिक स्वस्थता मिलती है, वह इन अत्यंत नयी दस-बीस रचनाओं को पढ़कर नहीं मिलता । पत्रकारिता आविष्ट सातवें दशक के नवलेखन में नकारात्मक दृष्टि का सर्वांगीण प्राधान्य है, इसकी कमज़ोरी यह है कि वह जल्दी ही चुक जाती है । नवलेखन में भाषागत वायवीयता या दुःसाध्य प्रेषणीयता है अथवा अनगढ़ फूहड़ता और अश्लीलता है । सबसे अधिक खटकनेवाली बात है इनमें निष्पक्षता और सच्चाई का अभाव । "मुझे अद्यतन टटके साहित्य में {साठोत्तर दशक के साहित्य में} न तो कोई "रस" मिलता है और न बोध ।

---

1. माघे मेघे गतं वयः, कु. राय, पृः 212.

सामूहिक मन में पल रही आतंक और हताशा को, एवं क्षोभ तथा घृणा को जिस सीमा तक "मुक्तिबोध" व्यक्त कर गये हैं और जिस क्षमता से व्यक्त कर गये हैं उसको इनका नवलेखन अभी भी छू नहीं पाता है और उससे आगे जाकर कुछ नया पाने-कहने की तो बात ही नहीं उठती ।"[1] रायजी का विश्वास है कि साहित्य आलू-गोभी या आम कटहल भले ही न हो पर यह निश्चय ही तुलसी गाछ है, ताम्बूल वल्लरी है और महामहिम अश्वत्थ है ।

मनुष्य के भविष्य का अस्पष्ट और आकृतिहीन रूप का चित्र है "कविर्मनीषी परिभूस्वयं भू" में । आर्य भाषाओं में प्रारंभ से ही कवि को "ऋषि, पैगंबर और ईश्वरीय आविष्ट पुरुष माना गया है । इसी तथ्य को द्योतक है "कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू" नामक उक्ति । आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी कामचोर और विलासी तथा दायित्व-बोध से शून्य है । इनके मन में मूल्यगत अनिश्चयता है । हम इस दुर्भेद्य अनिश्चयता को बेधने में असमर्थ है । "हमारे पीछे अतीत की शक्तिशाली टॉर्च है, उसकी रोशनी के "फोकस" द्वारा इस अगम-अगोचर भविष्य की तमसा को बहुत दूर तक बेध सकते थे, सामने का सैकड़ों गज रास्ता साफ हो सकता था । परन्तु उस "टॉर्च" को हमने अस्वीकार कर दिया है । उस टॉर्च के प्रतिकूल चलने केलिए हम प्रतिबद्ध हो गए हैं क्योंकि हमें शंका हो गई है कि इस टॉर्च की रोशनी भ्रांति या मृगतृषाओं को रच रही है ।"[2] भारतीय समाज का मूल "कृषक" और संस्कृति का मूल धर्म है । ये भी आज ह्रासोन्मुखी है । साहित्य और संस्कृति की पराजय और लोप का प्रत्यक्ष प्रभाव मानवीय मन के भविष्य पर और मानवीय विकास की संभावनाओं पर पड़ेगा ।

"देहाश्रयी युग-चेतना और साहित्य" में मानसिक स्वस्थता केलिए साहित्य की महत्ता तथा इकहरे व्यक्तित्ववाले मनुष्य का चित्र है । चित्त की अविकल और समाहित अवस्था को रायजी मोक्ष मानते हैं "साहित्य भी एक अर्थ में मोक्ष है, क्योंकि यह भी इसी प्रकार की मनोभूमि उपलब्ध कराता है, यद्यपि अल्पकाल केलिए हम विकलता, उत्तेजना, भय और निराशा की व्यक्तिगत कथाओं की अतृप्तियों से ऊपर उठ जाते हैं,

---

1. विपथगा, कु. राय, पृः 219.
2. कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू, कु. राय, पृः 229.

ऐसी मनोभूमि में जहाँ कुछ करने या पाने की "विकलता" नहीं रहती बल्कि एक स्वादिष्ट शान्ति और सुखद निष्क्रियता (still centre) का अनुभव होता है । इसी से मैं शिल्प और साहित्य के माध्यम से उपलब्ध आनन्द को या तो चुतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष का सहचर मानता हूँ, अथवा पंचम पुरुषार्थ मानता हूँ ।"[1] साहित्य और शिल्प हमारी मानसिक उल्लास की पुष्टि करते हैं । आज हमारे देश में एक विशिष्ट वर्ग है, जिसको भौतिक सुख के आगे कोई चिन्ता नहीं । भौतिक सौन्दर्य ही उनका सब कुछ है । यह इकहरा व्यक्तित्व हमारी मानसिक संस्कृति और बौद्धिक ऋद्धि केलिए बाधा है । हम में "अन्तस्थता" या "ध्यान" का बडा स्थान है ।

इस निबन्ध-संग्रह के पहले दस ललित निबन्धों में रायजी का स्वर मधुर, ललित तथा गंभीर हैं । ऋतुओं के माध्यम से मानव की प्रत्येक अवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है । "परास्त नरक", "कैक्टस वन की नायिका", "यक्ष रात्रि" जैसे निबन्धों में लोकविश्वासों पर विचार प्रस्तुत किया गया है । "नारायण-प्रतिनारायण", "लंका की एक रात" और "एक महाकाव्य का जन्म" मिथकों का नये सन्दर्भ के अनुकूल प्रयोग है । दूसरे भाग के दस निबन्धों में व्यापक दार्शनिक दृष्टि का तर्कसंगत विश्लेषण है । प्रमुख दार्शनिकों के विचारों पर गहरा विचार प्रस्तुत किया गया है और समाज पर उनका क्या प्रभाव है वह भी स्पष्ट कर दिया है । आगे चार निबन्धों में आधुनिक मानव और आधुनिक साहित्य का मधुर विश्लेषण है ।

पत्र मणिपुतुल के नाम

यह मुख्यत: पत्र-विधा में लिखा गया ललित-निबन्ध संग्रह है । इसमें गाँधीजी ने अपने जीवनकाल में जो कुछ कहा, लिखा और किया, उनको घरेलू वातावरण के मध्य से प्रस्तुत किया गया है । मूलत: इसमें गाँधीजी के भोजनपान की चर्या को लेकर उनकी रस-दृष्टि और शील-दृष्टि तक का फैलाव है । स्वयं रायजी के शब्दों में "ये पत्र शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ हैं और प्रथम पत्र के बाद की मणिपुतुल एक काल्पनिक प्रतोक

---

1. देहाश्रयी युग - चेतना और साहित्य, कु. राय, पृ: 234.

कुछ घटनाएँ "व्यक्तिगत" और सही होते हुए भी अपनी "समूहगत" और "रचनात्मक" आकृति और भूमिका में प्रस्तुत की गई हैं । ललित निबन्ध का धर्म ही यही है । इसमें "मैं" का उपयोग जातिवाचक रूप में होता है ।"[1] निबन्धकार व्यक्त करते हैं कि नयी पीढ़ी के प्रतीक के रूप में उनके भ्रातृ-वधू मणिमुतुल अनुयोज्य है, इसलिए उन्होंने उसे प्रतीक के रूप में लिया है ।

पहला निबन्ध "पाँत का आखिरी आदमी" विशेषतया बेकारी की समस्या पर अधिष्ठित है । आजकल नियुक्तियाँ पूर्व निश्चित होती हैं । इस परिस्थिति में सच्चाई का अस्तित्व नहीं । कोई सच को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करे तो, वह विद्रोही बन जाता है । ये सब व्यक्ति के अन्दर अवदमन की सृष्टि करते हैं । "कभी सच्चाई "गुहा" में निवास करती थी और उसका अन्वेषण करनेवाले अमृत पाकर दार्शनिक बन जाते थे । अब सच्चाई सर्प की बाँबी में निवास करने लगी है और उसका अन्वेषण करनेवाले "दंश" पाकर "विद्रोही" हो जाते हैं ।"[2] सच तो यह है कि मनुष्य की आधुनिकता का मूलाधार ही है अवदमन । तरह-तरह के अवदमन । ऐन्द्रिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक अनेक अनेक अवदमनों के आधार पर आधुनिक संस्कृति के सारे क्रियाकलाप विकसित हो रहे हैं कभी वाम-भाषा में तो कभी दक्षिण भाषा में । रायजी उपदेश देते हैं कि अवदमन को शिकार न होकर पांत के आखिरी आदमी की स्थिति को समझना है, जो अपनी प्रतिभा का प्रकाशन नहीं कर सकता । अब राजनीति आश्रित शासन में जनता की राय प्रधान नहीं । जनप्रतिनिधियों की राय जनता की राय नहीं बनती । इसका कारण यह है कि प्रतिनिधि "चालू व्यवस्था" के सदस्य हैं और ये अपने स्थापित स्वार्थों को भाषा को ही जनमत कहकर चलाते हैं । जब तक हमारी चिन्ता-शैली में आखिरी आदमी को जगह नहीं तब तक राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था के परिवर्तन से कोई फायदा नहीं होता । मणिमुतुल के द्वारा रायजी अपनी रस-दृष्टि व्यक्त करते हैं ।

दूसरे निबन्ध "शांतं सरलं सुन्दरम्" में "खादी" के माध्यम से स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल देते हैं । उनकी शिकायत है कि नयी पीढ़ी आप्त-प्रमाणों पर हँसी उड़ाती हैं । वे अपने को युक्तिवादी घोषित करते हैं । इसलिए निबन्धकार

---

1. पत्र, मणिमुतुल के नाम, कु. राय, भूमिका ।
2. पाँत का आखिरी आदमी, कु. राय, पृ: 9.

हमसे अनुरोध करते हैं कि सारी समस्या पर खुले मन से और मुक्त दृष्टि से विचार करना चाहिए । गाँधीजी के सौन्दर्य-बोध के प्रतीक के रूप में भी खादी का चित्रण यहाँ किया गया है । "गाँधीजी के सौन्दर्य-शास्त्र यानी "ऐस्थेटिक्स" का मूल सूत्र है : "शान्तम्, सरलम्, सुन्दरम्" । इस शताब्दी में तीन महापुरुष भारत में पैदा हुए जिनके अन्दर मौलिक रस-दृष्टि या सौन्दर्य दृष्टि थी । एक तो योगी अरविन्द जिनको सौन्दर्य दृष्टि का सूत्र था, पुराना उपनिषदों वाला सूत्र, "शान्तम्, शिवम्, सुन्दरम्" । दूसरे थे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जिन्होंने स्वीकार किया था "सत्यम् शिवम् सुन्दरम् । परन्तु इन दोनों से मौलिक, सहज और जनसाधारण के दैनन्दिन जीवन से जुड़ा हुआ सूत्र गाँधीजी का था, "शान्तम्, सरलम्, सुन्दरम्" ।[1] खादी इसी शान्त-सरल-सुन्दर सौन्दर्यबोध का प्रतीक है । रायजी की सौन्दर्य दृष्टि यहाँ प्रत्यक्ष है ।

"नयी सरस्वती का आह्वान" शीर्षक तीसरे निबन्ध में नयी पीढ़ी को जागृत करने का प्रोत्साहन देते हैं । नौकरी के क्षेत्र में कपटाचरण होने के कारण युवा लोग निराशा में डूब रहे हैं । आधुनिक शिक्षा से प्राप्त जीवन दर्शन विचित्र है । श्रम, सादगी और सरलता को हम हास्यास्पद मानते हैं और हमें सुख का असली स्रोत तो चमकीला बाह्य सौन्दर्य ही है । आधुनिक शिक्षा इस प्रकार हमारी आत्मिक ट्रेजडी को जननी है । प्रेस्टिज या सम्मान-बोध वे हमारी सारी सहजता और औचित्य को नष्ट कर दिया है । इस परिस्थिति में निबन्धकार स्पष्ट करते हैं कि बीसवीं शती में नौकरी तो याकरी भिक्षाटन ही है, उसकेलिए ये लोग प्रमाण-पत्र जुटाते हैं । अपने पास जो है उसका सदुपयोग करता भी नहीं । शिक्षित बेकारों में पच्चीस प्रतिशत की अवस्था यही है । इसीलिए निबन्धकार इस निबन्ध में चित्रित प्रतीक मणिपुतुल में निरन्तर परिश्रम का बिंब देखते हैं । निरन्तर सक्रिय दो हाथ रायजी की चेतना में विशिष्ट बिंब बनकर आते हैं । "अपने ज्वरावेश में तुम्हारे निरन्तर सक्रिय दो हाथों का बिंब बार-बार देखकर मुझे लगा कि मेरे भीतर की जीवनी शक्ति अपनी सक्रियता को बाह्य दृश्य में उपस्थित कर रही है, दो हाथ जीवन के नीले धागों को निरन्तर बुनते जा रहे हैं, जबकि देह के भीतर जीवन और मृत्यु का तुमुल संग्राम चल रहा है ।"[2] प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं के कपटाचरण में न

---

1. "शांतं, सरलं, सुन्दरम्", कु. राय, पृ: 21.
2. नयी सरस्वती का आह्वान, कु. राय, पृ: 25.

फँसाकर अपने खेती-खलिहान की रक्षा करने का उपदेश देते हैं, जिससे समाज का पोषण भी संभव हो सकता है । और शरीर का थकावट भी दूर हो जाता है । शिक्षा तो वस्तुतः जीवन का दिल मात्र है । "यदि देश को और अपनी आत्मा को बचाना है तो इस निष्ठा और ललक का त्याग करके एक रचनात्मक और सहज-सरल भंगिमा को अपनाना होगा, श्रम-विरोधी, कर्म विरोधी तथा सादगी विरोधी मानसिक अवरोधों का ध्वंस करना होगा । अन्यथा उद्धार असंभव है ।"[1] इस धरती से प्रेम करो, फिर परिश्रम करो, इसकेलिए शिक्षा अनिवार्य है । नौकरी की खोज में जीवन व्यर्थ करना अन्याय है । इसमें रायजी के रसात्मक और व्यावहारिक स्वरों का सम्मिलन है ।

सहज और सात्विक वस्तुओं का भोजन स्वास्थ्य केलिए ज़रूरी है । यह भोजन शुद्धता से ठीक-ठीक पकाया होना चाहिए । "अन्न-ब्रह्म की उपासना" में भोजन की इस विशिष्टता पर ध्यान देते हैं । "स्वाद के नाम पर मिर्च मसालों की अतिशयता द्वारा "अन्न ब्रह्म" के साथ व्यभिचार करने पर ब्रह्महत्या का पाप शरीर को तो भुगतना पड़ेगा ही ।"[2] भोजन पाने में एक निश्चित मात्रा है, उससे अधिक पाने पर अन्न भीतर जाकर भक्ष्य के साथ भक्षक भी बन जाता है और हम रोगी बन जाते हैं । भोक्ता और भोग दोनों एक-दूसरे का परस्पर भक्षण करते हैं । भोक्ता बाहर-बाहर खाता है तब भोग भीतर प्राण-शक्ति और जीवन-शक्ति का भक्षण करता चलता है । इस निबन्ध में निबन्धकार ने गाँधीजी के भोजन-पान की रीति भी व्यक्त की गई है । वे स्वाद केलिए नहीं जीवनी-शक्ति केलिए खाते थे । उनको दृष्टि में सन्तुलित अनुशासित भोजन की मात्रा ये हैं : दो पौंड गाय का दूध, छः औंस अन्न (मोटी दाल आदि), तीन औंस हरे शाक, पाँच औंस अन्य सब्जियाँ, एक औंस कच्चा सलाद, दो औंस मक्खन या घी तथा डेढ़ औंस मीठा (गुड़ या चीनी अथवा मधु) । इसके बाद कुछ ताजे फल । उनके मत में जो इस शील का पालन करता है वह रोग व्याधि से अभय को प्राप्त हो जाता है । गाँधीजी की सारी प्रवृत्तियों में, चाहे सत्याग्रह हो, ग्रामोद्धार या अहिंसा हो या ग्रामोद्धार सब कहीं यही

---

1. नयी सरस्वती का आह्वान, कु. राय, पृः 30.
2. अन्न-ब्रह्म की उपासना, कु. राय, पृः 38.

अभय देख सकते हैं । रायजी यह सलाह भी देते हैं कि औपचारिकता केलिए कोई काम न करना हो, सन्तोष के साथ श्रद्धा से काम करना ही समीचीन है, वही सफल बन जाता है । यहाँ सरल भाषा से गंभीर तथ्यों की स्थापना की गई है ।

समूची युवापीढ़ी गाँधीजी को सस्ता, दरिद्र, रसहीन और अनाकर्षक मानती हैं, ऐसा है निबन्धकार का विचार । अतः उन्होंने "वे रसमय पुरुष थे" शीर्षक पत्र में गाँधीजी की रस-दृष्टि पर कुछ विचार स्पष्ट किया है । "जो कुछ सीधा, सरल और ऋजु है, जो कुछ स्पष्ट है वह हमें प्रभावित नहीं कर पाता, क्योंकि हम 20 वीं सदी की यांत्रिक जटिलता के जीव हैं । इसी से प्रसन्न-गंभीर कुछ भी हमें उथला मालूम होता है ।"[1] गाँधीजी के प्रेम की धारणा अहिंसा की अविकल, धीर, निर्मल स्थिति में प्रीति बनकर उदित होती है । वे रामायण को प्रेमकाव्य मानते थे । राम-सीता का प्रेम, भावात्मक हिंसा के द्वन्द्व से ऊपर उठा हुआ है तथा अचल-निर्मल-प्रीति में स्थित है । हिन्दुस्तान की हर-एक माँ अपनी बेटी सीता बनने से आनन्दित हैं, लेकिन शकुन्तला या राधा [illegible] बनना नहीं चाहती । गाँधीजी भारत के कोने-कोने में व्यक्तिगत रूप से बापू, श्वसुर और पितामह थे । इसीसे स्पष्ट है कि वे वस्तुतः रस से भरपूर थे । गाँधीजी की दृष्टि में नकली वेष-भूषा धारण करनेवाली महिलाओं का जीवन भी नकली ही है । उन्होंने बताया है कि पुरुष का अस्त्र लोहे का होता है तो नारी का अस्त्र पवित्रता का है । यह नारी-सौन्दर्य के बारे में उनकी धारणा थी । रायजी के भावात्मक विचार और मनावता के प्रति मोह इसमें सुनियोजित हैं ।

भारत के दो महान हस्ताक्षर गाँधीजी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति निबन्धकार अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं । पैगंबर और महान कवि का यह चित्र प्रस्तुत करता है "एक महामनुष्य और एक महाकवि" शीर्षक निबन्ध । रायजी के मत में "महात्मा" शब्द को ज्ञानी महत्ता इसलिए है कि वह गाँधीजी से जुड़ा गया है । यह महात्मा उपाधि सचेत भाव से उनको दी गई है, जो ईश्वर या परमात्मा का वाची है । गाँधीजी और रवीन्द्रनाथजी दोनों एक दूसरे के पूरक थे । गाँधीजी सत्य को पकड़कर चलते थे तो

---

1. वे रसमय पुरुष थे, कु. राय, पृः 44.

रवीन्द्रनाथजी सौन्दर्य को । एक तपस्या का प्रतीक था तो दूसरा आनन्द का । निर्मल, शुद्ध, निर्विकार आनन्द तप के ही द्वारा मिलता है । चरम स्थिति में आनन्द और तप एक हो हो जाते हैं । "गाँधीजी थे पैगंबर, रवीन्द्रनाथ थे कवि । परन्तु हर एक पैगंबर थोड़ा-बहुत कवि ज़रूर होता है और हर एक महाकवि एक तरह से पैगंबर ही होता है क्योंकि बिना दिव्य-दृष्टि के उच्च कोटि की कविता संभव नहीं । यही कारण है कि बाइबिल, कुरान या गीता की भाषा में आग की तरह विशुद्ध निर्मल कविता वर्तमान है और तुलसी-कबीर के भीतर मानवीय इतिहास को पुनर्निर्मित करने की पैगम्बरी शक्ति ।"[1] दोनों जीवन को सरल, सहज और निर्मल रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न करते थे । आधुनिक शिक्षा प्रणाली हमारे आन्तरिक जीवन को और अधिक विखण्डित, असहज और जटिल करती है । गाँधीजी कहते थे कि आधुनिकता मनुष्य को जटिल, कृत्रिम और नकली बनाती जा रही है । इसलिए बाहरी कृत्रिमता को दूर करना ही मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करने का उपाय है । रवीन्द्रनाथ कहते थे कि आधुनिक यांत्रिक संस्कृति मनुष्य के अन्तराल को जड़ीभूत करती जा रही है । अतः आन्तरिक जड़िमा से मनुष्यत्व की रक्षा केलिए सहजता और भावुकता अनिवार्य है । इसमें सत्य और सौन्दर्य की महिमा का उद्घाटन है ।

आगे "गाँधीजी की शिल्प-दृष्टि" शीर्षक निबन्ध में शिल्प और कला-कौशल के सन्दर्भ में गाँधीजी की रसदृष्टि की चर्चा है । गाँधीजी को, शिल्प पर सही दृष्टि का उदाहरण निबन्धकार देते हैं । मामूली चीज भी सौन्दर्य-रचना में सहायक है । निबन्धकार शिल्पाचार्य नन्दलाल बसु का उद्धरण देकर इसे स्पष्ट करते हैं । एक अश्वत्थ पत्र की आकृतिवाले ढक्कन गाँधीजी की दृष्टि में - "देखो सुन्दर है न ! इस पर प्रकृति की छाप है और साथ ही इसे गाँव के एक लोहार ने मुझे गढ़कर दिया है" कला का संपूर्ण गांधी दर्शन, शिल्प पर सही गाँधीवादी दृष्टि इन दो वाक्यों में निर्भर है । वे प्रकृति को ही सबसे बड़ा कलाकार मानते हैं । इसे इस गाँव के लोहार ने गढ़कर दिया है अर्थात् वह देशी है और लोक-शिल्प है, इसलिए उपयोगी भी है । कला के अन्दर शिल्प की तीन कसौटियाँ हैं - स्वदेशी हो लोकायत जीवन से जुड़ा हो और उपयोगी हो ।

---

1. एक महामनुष्य और एक महाकवि, कु. राय, पृः 52.

"उपयोगी" पर ज़ोर देने का कारण यह है कि गाँधीजी की शिल्प-दृष्टि एक ओर तो "सहज सौन्दर्य" से जुड़ी है जो उनके "लालित्य शास्त्र" (एस्थेटिक्स) का मूलाधार है, दूसरी ओर जुड़ी है कुटीर उद्योग के अर्थशास्त्र से ।"[1] प्रकृति और देश के प्रति प्रेम करने का प्रोत्साहन देते हैं ।

"सच बोलना ही कविता है" शीर्षक निबन्ध में गाँधीजी के सत्य पर अधिष्ठित साहित्यिक-दृष्टि व्यक्त है । उन्होंने जीवन को "सत्य प्रयोग" कहा था और इस सत्य प्रयोग के अन्तराल में उनका शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और साहित्यशास्त्र छिपा है । उनका जीवन ही कर्म का महाकाव्य था । "मेरी समझ से गाँधीजी को समझने की कुंजी तीन शब्दों में है : सत्य, अहिंसा और अभय । उनकी प्रत्येक विचारधारा में तीनों मौजूद हैं, पर विषयानुसार ज़ोर कभी-एक पर है तो कभी दूसरे पर ।"[2] जीवन का संपूर्ण विधान सत्य पर अधिष्ठित है, साहित्य जीवन की झलक है, इसलिए वह भी सत्य है । जो ऋषि यानी कवि है, वह सत्य बोलता है । आदमी गलत और सही दोनों तरह के हैं, उसी प्रकार साहित्य भी गलत और सही दोनों किस्म के हैं । लेकिन गलत साहित्य अल्पकालीन है । एक धारणा है कि साहित्यकार द्वारा उपलब्ध सत्य "जनमत" के विरुद्ध है । इस पर निबन्धकार अपना मत यों व्यक्त करते हैं - "जिसे हम लोग जनमत कहते हैं, वह वस्तुतः किसी पार्टी या व्यक्ति के विचारों का ही प्रेस-अखबार-रेडियों एवं संगठित प्रचार-प्रशिक्षण के फलस्वरूप, एक विचार मात्र होता है ।"[3] जनता की राय सर्वदा सत्य है । यहाँ रायजी ने सामाजिक समस्याओं की ओर प्रकाश डाला है ।

गाँधीजी की साहित्य-संबन्धी धारणा "स्वच्छ और सरल" नामक निबन्ध में प्रकाशित है । उनकी राय में साहित्य तब उपयोगी होता है, जब वह स्वच्छ, सरल और उच्चगामी होता है । साहित्य में ऐसी सरलता अनिवार्य है जो अलंकारहीन होने के

---

1. गाँधीजी की शिल्प-दृष्टि, कु. राय, पृ: 60.
2. सच बालना ही कविता है, कु. राय, पृ: 64.
3. वही - पृ: 69.

साथ-साथ सप्राण और स्वस्थ भी है । रायजी इस सरलता को व्यक्त करने केलिए कई उदाहरण भी देते हैं - " A call to the Nation " केलिए "देश के प्रति पुकार" अनुवाद निर्जीव लगता है, इसके स्थान पर "आह्वान" हो तो एक सहजता निहित है । "Flower Valley " का सरल अनुवाद "नन्दन वन" है । यह "सरलता" साहित्य को अभिव्यक्ति क्षम बनाती है और सजीव भी । सरल शैली में भी गंभीर बात कही जा सकती है । ईमानदारी से अभिव्यक्त शब्द सदा सरल होता है । गाँधीजी की दृष्टि में सरल प्रथमतः सादा और अकृत्रिम है, द्वितीयः पारदर्शक या निष्कपटों । वे ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीनों गुणों से प्रसाद को एक तीसरा गुण नहीं मानते तथा प्रसाद को ओज और माधुर्य से विच्छिन्न करके नहीं देखते । अलंकरणहीन, सहज स्वाभाविक प्राकृतिक सरलता में तीनों गुणों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए । गाँधीवादी सरलता पर रायजी व्यापक परिचय देते हैं । श्री. भवानी प्रसाद मिश्र की बात दृष्टान्त के रूप में यहाँ द्रष्टव्य है -

"जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख ।"

गौतम बुद्ध के "धम्मपद" से ली गई पंक्तियाँ समझने योग्य हैं -

"चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी
एतेसं गन्ध जातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ।"

§चन्दन, तगर, कमल या वार्ष्णिकी अर्थात् जुही, ये सभी गन्ध देते हैं, पर इन सबकी गन्ध से भी उत्कृष्ट होती है शील की गन्ध ।§

रायजी स्वच्छ और सरल पर मार्मिक और सप्राण अभिव्यक्ति के प्रसंग में "महाभारत" की भाषा को लेते हैं । इसकी भाषा होमाग्नि-शिखा जैसी सरल, सुन्दर और तेजस्वी है । नायिका द्रौपदी अग्नि संभवा है, उसी प्रकार "महाभारत" की भाषा अलंकरणहीन, सादी पर होमशिखा जैसी तेजस्वी है ।

स्वच्छता को निबन्धकार स्पष्ट करते हैं । स्वच्छता अर्थात् निर्मलता का संकेत वे सरलता के सन्दर्भ में इस निबन्ध में ही कर चुके हैं । यहाँ एक दूसरे दिक् से स्वच्छता को प्रस्तुत करते हैं । क्रोध-मोह के अवदमनों से मुक्त बोध को स्वच्छ बोध कहता है । इस बोध के बिना साहित्य में नैतिक सौन्दर्य यानी शील-सौन्दर्य नहीं आ सकता ।

"रामचरितमानस" के "राम" और "महाभारत" के युधिष्ठिर में इस शील-सौन्दर्य का दर्शन है । अवदमन-मुक्त सौन्दर्य बोध सरल और पवित्र होता है । "गीतांजलि" के गीतों में यह देख सकते हैं । भवानीप्रसाद मिश्र-गाँधीजी की स्वच्छ-सरल-उच्चगामी दृष्टि का उत्तम दृष्टान्त है -

"भव्यता में एक नहीं हो सके हम
तो दिव्यता में एक हो जायं ।
भव्य होना सबके वश का नहीं ।
दिव्य होना है "

रायजी स्वच्छ, सरल साहित्यों के निर्माण करने के प्रयत्न में हैं ।

साहित्य को ललित, व्यापक, गहन् और श्रेष्ठ होना चाहिए । स्वच्छता और सरलता के बाद रायजी इस उच्चगामी तत्त्व पर दृष्टि डालते हैं । इसकेलिए "साहित्य उच्चगामी हो ।" शीर्षक निबन्ध उपयुक्त है । "मृग को कस्तूरी उसकी नाभि में होती है, तो नारी की कस्तूरी उसके हृदय में, पुरुष की कस्तूरी उसकी वाणी में और राष्ट्र की कस्तूरी उसके साहित्य में होती है । यह कस्तूरी दुर्गन्धमयी न हो, इसका ख्याल रखना होगा, पुरुष को, नारी को और राष्ट्र को ।"[1] गाँधीजी की क्लासिकल दृष्टि ब्राह्मण दृष्टि नहीं थी जैन दृष्टि या श्रमण थी । "श्रमण दृष्टि से आत्मिक बल आत्मिक ऋद्धि और आत्मिक सौन्दर्य ही प्रमुख है । जबकि ब्राह्मण-दृष्टि बल, ऋद्धि और सौन्दर्य की दैहिक और आत्मिक दोनों आकृतियों में मंजूर करके चलती है । चाहे गाँधीजी का यह अधूरापन ही क्यों न हो, पर यह उनकी विशिष्टता है कि वे साहित्य में क्लासिकल दृष्टि से जुड़े थे और उनकी दृष्टि की प्रकृति ब्राह्मण नहीं, जैन या श्रमण प्रकृति वाली थी ।"[2] गाँधीजी के अनुसार साहित्य का उच्चगामी होना ज़रूरी है, अर्थात् विषय का उत्कृष्ठ आशय होना चाहिए । उनके जीवन और साहित्य में यह श्रमण दृष्टि का प्रभाव पडा है । साहित्य में अभय, करुणा, शीलाचार, संयम और आत्मा के विस्तार की अभिव्यक्ति होने से वह उच्चगामी बनता है । उच्चगामी संवेदना आध्यात्मिक और

---

1. साहित्य उच्चगामी हो, कु. राय, पृ: 85.
2. वही - पृ: 84.

लौकिक अर्थात् पवित्र और सेक्यूलर दोनों क्षेत्रों से ली जा सकती है । इसमें भी रायजी ने अपनी साहित्यिक अनुभूतियों को स्पष्ट किया है ।

अगले निबन्ध "काम-वृश्चिक और वेदना की गली" में गाँधीजी के जीवन में घटित दो-एक घटनाओं का वर्णन है, और वह तो मार्मिकता के सन्दर्भ में । इसमें रायजी व्यक्त करते हैं कि भारतीय मन्दिर जोवदेह का प्रतीक है । "भारतीय मन्दिरों में सज्जा बाहरी दीवार पर रहती है और भीतर का गर्भ-गृह सादा और शून्य रखा जाता है । यह जीवदेह का प्रतीक है । भीतर है भगवान और बाहर माया वल्कल का श्रृंगार ।"[1] गाँधोजी 1927 ई में बेलूड (मैसूर राज्य) के प्रसिद्ध विष्णुमंदिर की शिल्प-कला देख रहे थे । अचानक एक नारी मूर्ति, जो अभी-अभी अपना एकमात्र वस्त्र फेंक दिया हो, को देखकर स्तंभित हो गया । उस नारी की सिकुडन के भीतर एक अति स्पष्ट बिच्छू अंकित था । गांधीजी को इसमें शुद्ध शान्त रस दिखाई दिया । "उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया कि साड़ी में छिपा बिच्छू काम-वृश्चिक है । नारी "आत्मा" है । वह अपने माया आवरण में छिपे काम-वृश्चिक के दर्शन से पीड़ित रही है । आवरण को फेंक कर निर्वसन हो गई है । नग्नता विरति या निर्वेद का प्रतीक है ।"[2] अब यह आत्मा प्रभु के साक्षात्कार केलिए योग्य है । सन् 1931 ई. में वे इंगलेंड गए थे । रोम के सिस्टिन चपैल में "सलीब पर ईसा" वाली मूर्ति को देखकर उन्होंने साश्रु कण्ठ से कहा, "इसे देखकर आंसू न आ जाना असंभव है"। सलीब पर चढ़ा हुआ ईसा मनुष्य जीवन में निहित संपूर्ण यातना भोग का प्रतीक है । इस प्रतीक के माध्यम से जिस करुणा का बोध होता है यह महाकरुणा है । समस्त जगत से विषाद का एक ही साथ । एक ही जगह पर बोध देनवाली करुणा है ।[3] कामुक और लालसामय मूर्तियाँ जो राधा-कृष्ण या शिव-पार्वती के माध्यम से उनमें दिव्यता भराने का प्रयत्न है, इन से गाँधीजी प्रभावित नहीं होते थे । क्योंकि उन मूर्तियों की भावयात्रा "काम" से शुरू होकर धर्म तक जाती है, फिर "काम" पर ही लौट आती है । गाँधीजी की मर्मस्पर्शी कला-दृष्टि यहाँ स्पष्ट हुई है ।

---

1. काम-वृश्चिक और वेदना की गली, कु. राय, पृ: 92.
2. वही - पृ: 91-92.
3. वही - पृ: 92-93.

"बाज बटेर एक लडाऊँ !" में गाँधीजी की दो प्रिय कविताओं का वर्णन है, जो रवीन्द्रनाथजी की है - (गीतांजलि)

"जीवन जरवन शुकाये जाय
करुणा धाराय एसे
. . . . . ।"

जीवन शुष्क हो जाय तो तुम करुणाधारा के साथ आओ । ऐसा शुरु होता है काव्य । गाँधीजी में कर्म के साथ भाव-तृषा भी थी । "मैं कल्पना करता हूँ कि गाँधीजी के कर्म-संकुल जीवन में एक ललक रही होगी भाव-तृषा की । ... कर्म की रोटी-दाल के साथ एक गिलास भाव जल की प्यास उनमें आदि से अन्त तक रही ।"[1] राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में जितने जनांदोलनों का नेतृत्व गाँधीजी ने खुद संभाला उतना किसी ने नहीं किया । असहयोग आंदोलन, स्वदेशी आंदोलन, नमक आंदोलन, सविनय अवज्ञा, भारत छोडो आदि । गुरुगोविन्द सिंह और गाँधीजी दोनों के इतिहास-प्रवेश में समानता गुरुजी ने एकान्त तपस्या करके और गाँधीजी ने अफ्रीका में सत्याग्रह करके इसकेलिए आत्मिक तैयारी की । गाँधीजी की शिल्प-कला के प्रति रस-दृष्टि और सामाजिक-कला पर दृष्टि डाली गई है ।

"सच्ची कला" शीर्षक निबन्ध में तालस्तॉय की साहित्य-दृष्टि का विचार है । "अन्ना-करीना" और "वॉर एण्ड पीस" उनके श्रेष्ठतम उपन्यास हैं । अन्ना विश्वसाहित्य की करुणतम नायिका है । "वॉर एण्ड पीस" नैपोलियन के रूसी आक्रमण पर आधारित है । जीवन के इतिहास का निरपेक्ष शाश्वत प्रवाह जिसमें रोज़मर्रा के सुख-दुःख है और सब कुछ घरेलू, सरल और मामूली है । जीवन के अन्तिम काल में तालस्तॉय की साहित्य और कला संबन्धी धारणाओं में मौलिक परिवर्तन आ गया । "उन्होंने कहा कि श्रेष्ठतम कला का सही कला होना आवश्यक है और सबसे सही कला मिलती है लोक-कथाओं और उपदेश कथाओं में । इन्हीं से लोकमानस की रचना होती है और वे ही उसका परिष्कार करती हैं ।"[2] इसमें उनकी एक कहानी का वर्णन है जो

---

1. बाज बटेर एक लडाऊँ, कु. राय, पृ: 101.
2. सच्ची कला, कु. राय, पृ: 109.

एक किसान के जीवन पर आधारित है । अर्जन के साथ वर्जन को, ग्रहण के साथ अपरिग्रह को जोड़ना ज़रूरी है, यह है इस कहानी का मतलब ।

अन्तिम निबन्ध "वे एक सही हिन्दू थे" में निबन्धकार हिन्दुत्व के ज़मीन पर उतरे हैं । "इस अन्तिम पत्र में उनकी {गाँधीजी की} शीलाचारिकी {इथिक्स} और रसदृष्टि {एस्थेटिक्स} से संबन्धित बातों के उपसंहार रूप में उस ज़मीन की ओर इशारा करना चाहता हूँ जिस पर वे अंकुरित हुए थे, बढ़े थे और शाखा-दर-शाखा फूट कर अक्षयवट बने थे और यदि दुनिया को सुन्दर तथा सुखी होना होगा, तो इस युग के बाद भी वे निरन्तर विस्तार करते जायेंगे । पुतुल वह ज़मीन है "हिन्दुत्व" ।"[1] गाँधीजी एक सही हिन्दू थे । उन्होंने हिन्दुत्व को उसके व्यापक और समग्र अर्थ में स्वीकार किया था । हिन्दू धर्म की पहचान केलिए इन बातों का प्रतिपादन है - हिन्दू वेद-पुराण में विश्वास, अवतारवाद में विश्वास, पुनर्जन्म में विश्वास, वर्णाश्रम की मूलभूत धारणा में विश्वास, गोरक्षा और मूर्तिपूजा के प्रति अविरोध । गाँधीजी महामानव थे । वे धर्मों का समान रूप से आदर करते थे । निबन्धकार यह व्यक्त करते हैं कि "सही हिन्दू" और "सही मानववादी" दोनों व्यवहार में पर्यायवाची ठहरते हैं ।

रायजी ने गाँधीजी को मर्यादापुरुषोत्तम कहा है । उनकी जीवन-दृष्टि, समाज के प्रति समर्पण भाव, आदि इन निबन्धों का विषय है । भारतीयता को व्यक्त करने केलिए गाँधीजी को ही उन्होंने हमारे सामने प्रस्तुत किया है । गाँधीजी की रस-दृष्टि और शील-दृष्टि की झलक भी इनमें देख सकते हैं । साहित्य संबन्धी उनके विचार का भी उल्लेख है । इनको व्यक्त करने केलिए उन्होंने गाँधीजी को माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया है तो भी धरातल समूहगत ही है । गाँधीजी को व्यक्तिगत रूप में नहीं, समूहगत रूप में ही उपस्थित किया गया है । इन वैचारिक विषयों पर भी रायजी का स्वर ललित है । इनकी भाषा में लालित्य, भावात्मकता, आत्मीयता, उदात्तता और मनोरंजकता इस निबन्ध में सर्वत्र दर्शित है । प्रतीकों के प्रयोग से भाषा "रसात्मक बन गई है । प्रतीकों की इस महत्ता के कारण इस ललित निबन्ध संग्रह ने पाठकों से तादात्म्य

---

1. वे एक सही हिन्दू थे, कु. राय, पृ: 116.

स्थापित कर लिया है । साहित्य और समाज की रस-दृष्टि और शील-दृष्टि पर गहरा विचार व्यक्त किया गया है । इसमें रायजी का मुख्य उद्देश्य पाठकों को रस और शील-दृष्टि प्रदान करना है । भाषा अधिक सरल और पत्रात्मक शैली में होने के कारण पाठक अधिक लाभ उठा सकते हैं ।

दृष्टि अभिसार

इसमें निबन्धकार की अन्तर्दृष्टि निसर्ग धरती और भारतीय संस्कृति के प्रति अभिसार-रत होती है । इस संग्रह में मानव के हृदय को पकडने का प्रयास दर्शनीय है । "दृष्टि अभिसार" में नौ ललित निबन्ध हैं, तीन रिपोर्ताज हैं, एक प्रबंध और एक टिप्पणी भी हैं । साहित्य के संबन्ध में रायजी ने अपना विचार इसमें व्यक्त किया है और ललित निबन्ध की विशेषताओं पर भी ध्यान दिया गया है । ललित निबन्ध अति स्वतंत्र विधा होने के कारण इसमें बहुरूपी विषयों की प्रस्तुति है ।

"पशुपति की संध्यांजलि" शीर्षक निबन्ध रायजी के लालित्य बोध का प्रमाण है । "मैं ने रक्तमंदार को नग्न अपर्णा डाल की ओर देखा । मुझे लगा कि यह मेरा वनस्पति प्रतिवेशी रक्तमंदार एक कवि है ।"[1] निबन्धकार ने कल्पना के द्वारा अपनी प्रतिभा को प्रस्तुत किया है । सामाजिक समस्याओं के प्रति वे अधिक सजग हैं, "हवा-हवा में क्रोध है । क्रोध आत्मा में नरक रच देता है ... इसीसे हमारी शताब्दी का धर्म हिंसा बन गया है ।"[2] पुराने लोग कवि थे, उनकी वाणी कवियों जैसी थी । लेकिन नये लोग समझदार तो हैं लेकिन उन्हें यह कवि-भाषा अपरिचित है । यहाँ पशुपति की संध्यांजलि काल या इतिहास की संध्यांजलि है । उसमें प्रतिबिंबित गौरी-मुखचन्द्र हमारी परमा स्मृति है । निबन्धकार उसकी स्तुति करते हैं । इस ललित निबन्ध में वैचारिक और भावात्मक बोध का समन्वय है ।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय भारतीय संस्कृति में हुआ । "गंगा-यमुना-सरस्वती" शीर्षक निबन्ध में रायजी यह स्पष्ट करते हैं । गंगा, यमुना और सरस्वती की धारा से यह सामंजस्य

---

1. पशुपति को संध्यांजलि, कु. राय, पृ: 2.
2. वही - पृ: 2.

प्रकट होता है । "मैं उसकी त्रिवेणी धार को देखकर प्रायः विस्मित होता हूँ कि इतनी दूर तक सफेद और नीला दोनों वर्ण साफ-साफ साथ-साथ चलते हैं । श्वेत गंगा और नीली यमुना । और सरस्वती' वह निरंजन रूप में गंगा-यमुना के बीच स्थित है ।"[1] रायजी ने इसे प्रतीक रूप में हमारे सामने रखा है । वे मानते हैं कि "त्रिवेणी" से यह "त्रिवेणा" रूप में अर्थवान है । ""वेणा" अर्थात् "वेना" जो वाणी या वाक् की वैदिक संज्ञा है । "निरुक्त" के अनुसार "वेना" और "धेरा" दोनों का अर्थ होता है "वाक्" या "सरस्वती" । वाक् वेणुरूपा है और धेनुरूपा भी । दोनों रूपों में यह सरस्वती है । सरस्वती अर्थात् जलवाली, यानी नदी । त्रिवेणा या त्रिवेना का अर्थ होगा तीन-तीन सरस्वतियों का संगम । सरस्वती तो सरस्वती है ही, गंगा-यमुना भी सरस्वती अर्थात् जलवाली ही है । अन्य दृष्टि से भी गंगा वाङ्मयी सरस्वती है तो यमुना भावमयी । तीनों नदियाँ ही भारतवर्ष की चैतन्यधारा के तीन रूपों की प्रतीक हैं ।"[2] इसलिए भारत वर्ष की गरिमा बढ़ाने वाली इस संगम को रायजी अधिक महत्ता देते हैं ।

"आधीरात के नवजातक" में रायजी एक उज्ज्वल भविष्य कास्वप्न देखते हैं । इस अस्वस्थ समाज में नवजातक का अवतरण अनिवार्य है, जिसप्रकार श्रीकृष्ण जन्म द्वारा द्वापर समाज का उद्धरण हुआ । आज प्रत्येक मन में वह द्वापर उपस्थित है । मानव क्षुद्र राजनीति से जड़ीभूत हैं । "आज युग-चेतना ईश्वरविहीन होने में गौरव करती है । ... ईश्वरविहीन अर्थशास्त्र का चरम लक्ष्य मनुष्य नहीं बाज़ार है । ईश्वरविहीन राज-व्यवस्था का चरम लक्ष्य "मनुष्य" नहीं दीर्घकालीन क्षमता है और वह सहज एवं मौलिक मानवीय अधिकारों को मनुष्य का जन्मजात अधिकार न मानकर सत्ताधारी की "मर्जी" या "अनुग्रह" मानती है और यह सब मनुष्य की प्रगति केलिए !"[3] इसके फलस्वरूप सब के मन में अनिर्णय और घोर संशय उपस्थित है ।

---

1. गंगा-यमुना-सरस्वती, कु. राय, पृः 6.
2. वही पृः 22.
3. आधीरात का नवजातक, कु. राय, पृः 34.

आगे निबन्धकार महाकवि व्यास और महाकव्य महाभारत पर दृष्टि डालते हैं । "दावाग्नि का महाकवि" इसका चित्र प्रस्तुत करता है । इसमें सारे भारत में और इतिहास के हृदय में अविराम जलती हुई दावाग्नि का चित्र है । इसकी नायिका भी अग्नि संभवा है और इसमें अनेक अग्नि बिंब हैं - "दीप्तां अग्नि शिखामिव", "दीप्तां इव कालाग्नि", "भस्माच्छन्न इवानल" आदि । व्यासजी को महाकव्य पूरा करने के बाद जो संतोष और मानसिक विराम मिलना चाहिए था वह न मिल पाया । "मन विकल का विकल ही रहा । भीतर-भीतर एक हाहाकार गूंजता रहा । भीतर-भीतर एक अनामा अपूर्णता, एक न्यूनता या अधूरेपन का अनुभव होता रहा । "जो कुछ लिखा वह तो एक दावाग्नि का हाहाकार मात्र है । भीतर कुछ छूट गया है जो तृषार्त्त है !"[1] निबन्धकार इसमें अधर्म की तमसाच्छन्न रात में आत्मा का दीपोत्सव देखते हैं ।

"चण्डीथान ! पुनः चण्डीथान !" मूलतः लोकसंस्कृति परक निबन्ध है । इसमें भारतीयता का मूल दर्शन है । देवीथान के सरोवर तट पर बैठकर निबन्धकार के मन में भाव ऐसा उमड़ आता है, "मैं इतिहास के काल-सिंधु के तट पर बैठा हूँ और देवी-थान के उस नन्हे से चबूतरे पर समस्त जंबूद्वीप सिमट आया है ।"[2] इसमें अनेक लोकप्रचलित शब्दों का परिचय दिया गया है, जो रायजी के ललित निबन्धों में व्यापकतया देख सकते हैं । "सोहर" मांगलिक स्वर है, जिसे घेरो, घोहरा या सोहरा कहा जाता है । विन्ध्यारण्य, दक्षिण बिहार और काशी के दक्षिण भाग में इसका प्रचलन था । "कोल" शब्द यक्ष, गंधर्व, अप्सरा आदि से जुडा था । "कोहल" या "कोल" शब्द मदिरा केलिए पार्वत्य जातियों ने प्रयुक्त किया था ।

"भोर का कवि" शीर्षक निबन्ध में कुक्कुट और शुक्र तारा कवि के रूप में आए हैं । "भारतीय आर्य का सौन्दर्यबोध पुरुष प्रधान था । अतः प्रातःकालीन इस शुभ्र प्रकाशमान ज्योति-पिण्ड को उन्होंने नारी रूप में न देखकर उसे पुरुष प्रधान आवाहनमयी उदात्त छवि के रूप में देखा और उसे शुक्र तथा कवि कहकर पुकारा ।"[3] यह वैदिक

---

1. दावाग्नि का महाकवि, कु. राय, पृः 38.
2. चण्डीथान ! पुनः चण्डीथान ! कु. राय, पृः 45.
3. भोर का कवि, कु. राय, पृः 59.

कवियों की अरुंधती है, ग्रीकों की "रति", रोमनों की -वीनस" तथा जर्मनों की फ्रिआ, अंग्रेज़ों की फ्राइड़े हैं । यह चन्द्रमा के बाद आकाश का सबसे सुन्दर तारा है । ज्योतिष के अनुसार यह ग्रह है । इसमें रायजी का स्वर मनोरम और व्याख्यात्मक है ।

मणिपुरी संस्कृति का चित्र "सहस्र फणों का मणि-दीप" में मिलता है । "काबुई" मणिपुर प्रदेश की एक जाति है जो उत्तर भारत के चारणों या भाटों की तरह गीतों और कथाओं की परंपरा की वाहक है । "मैं कहता हूँ कि यहाँ की शिला-सन्तान मिट्टी और शिला सरोरुह जैसे तीक्ष्ण सुन्दर और परिश्रमी नारी-पुरुष अद्भुत प्राण और अपूर्व रस की क्षमता से संपन्न हैं ।"[1] इतिहासकारों के अनुसार ये बर्मी किरात हैं जो बहुत प्राचीनकाल में लुशाई पर्वत (मिजोरम) और मणिपुर में आकर बस गए थे । मणिपुर के गीत-नृत्यों का विस्तृत वर्णन है । "मणिपुर मूलतः शिव के -रास-नृत्य" की भूमि रहा है । इसी शिव-रास पर वर्तमान कृष्ण-रास का आरोपण और विकास तो हाल की घटना है, अठारहवीं शती की । मणिपुर के अन्दर शताब्दियों से प्रचलित सारे कोमलवृत्ति प्रधान "नृत्य" इसी के अन्दर अंतर्भुक्त कर दिये गये ।"[2] मणिपुर की प्रकृति का मोहक चित्र भी इसमें मिलते हैं । इसप्रकार शैली मनोरम और आत्मीय बन गई है । काबुई-जीवन रीतियों के चित्रण में यह रोचकता हम देख सकते हैं और हम उनसे अधिक परिचित हो जाते हैं ।

"पाकड़ बोली रात भर" शीर्षक निबन्ध वार्तालाप शैली में लिखा गया है । रायजी वैशंपायन बनकर एक बूढ़ी पाकड से बातें करते हैं । यह बूढ़ी पाकड़ हमारा परमास्मृति रूपी लोकमन है । वैशंपायन तो हम स्वयं हैं । "व्यक्तिगत स्मृतियों के मूल में बैठी यह परमास्मृति हमारे जातीय लोकमानस में हज़ार-हज़ार वर्षों से विकसित होती रही है और हमें यह आनुवंशिक उत्तराधिकार के रूप में मिली है ।"[3] हम निरन्तर भाषा की तलाश में हैं, बहुरूपी, बहुवाणी, और बहुमुखी भाषा की तलाश करते हैं । उपमा अलंकार से भाषा अधिक प्रवाहमयी और अलंकृत बन गई है ।

---

1. सहस्र फणों का मणि-दीप, कु. राय, पृ: 64-65.
2. वही - पृ: 69.
3. पाकड़ बोली रात भर, कु. राय, पृ: 94.

"भाषा बहता नीर" में रायजी ने अपनी रचनाओं में जिस तरह की भाषा का प्रयोग किया है उसका परिचय है । "मैं ने अपने लेखन में न केवल बाजारू हिन्दी बल्कि भोजपुरी से भी, जो मेरी अपनी बोली है, शब्द, मुहावरे, भंगिमाओं की अभिव्यक्ति को मांग के अनुसार बेहिचक ग्रहण किया ।"[1] उनके मत में जो शब्द जन-समाज के कंठ से निकला है वह कभी भी अपवित्र नहीं । संस्कृत भाषा की महत्ता पर वे अधिक ध्यान देते हैं और कहते हैं कि वह भाषा-नदी को जल से सनाथ करनेवाला पावस मेघ है, अपितु कूप-जल मात्र नहीं ।

"दृष्टि अभिसार" रिपोर्ताज शैली पर लिखा हुआ निबन्ध है । इसमें रायजी ने अपने स्वदेश असम को हमारे सामने रखा है । गोहाईं कमल अलि के निर्माण का चित्रण है और कूच बिहार से नारायणपुर तक 350 मील लंबी यह सडक 1549 में बनकर तैयार हुई थी । यह कहीं-कहीं वर्तमान ग्रैंड ट्रंक रोड़ से मिलती है और सरभोग-नलबारी-बरमा अंचलों की अनपढ़ जनता वर्तमान राजपथ को भी गोहाईं कमल अलि कहती हैं । अनेक लोकविश्वासों का परिचय भी दिया गया है ।

"यम-द्वारे महाघोरे" भी रिपोर्ताज है । इसमें रायजी एक पिकनिक का वर्णन करते हैं । वे असम, बंगाल और भूटान की सीमा पर स्थित यमद्वार देखने केलिए जाते हैं । "हम पंचजन के द्वारा "सुख का खेदा" या रस-आखेट प्रारंभ हुआ । हम सुख और रस को खदेडते "यमराज के दरवाज़े" तक जाकर पकड़ने केलिए तत्पर हो चल दिये ।"[2] यहाँ रायजी की भाषा की रोचकता दर्शित है । यात्रा के बीच प्रकृति का जो मनोहर दृश्य था उसका विवरण भी देते हैं । "कहीं धान की खुंटियों से भरे हुए स्वर्ण-धूसर खेत और उनमें सिल्ले बिनती हुई आकृतियाँ और उन पर मंडराती हुई वक पांति, नीचे यत्र-तत्र इक्के-दुक्के फुट्टैल बदस्प जांघिल ।"[3] यम-द्वार या भोट देश पर जाने केलिए एक वैतरणी पार करना था । उसका चित्रण भी किया गया है । रायजी के मत में केवल

---

1. भाषा बहता नीर, कु. राय, पृ: 98.
2. यम-द्वारे महाघोरे, कु. राय, पृ: 122.
3. वही, पृ: 123.

कवि मन के सकाम शवत्व को अक्षुण्ण रखते हुए वैतरणी पार कर सकता है । यहाँ रायजी के भावात्मक और रसात्मक सौन्दर्य देख सकते हैं ।

"महाकान्तार" भी यात्रा विवरण है । काजीरंङ्गा के अभयारण्य का विवरण दिया गया है । "काजीरां" शब्द पर विश्लेषण भी रायजी ने किया । "काजोरां" अर्थात् नागा लोगों का स्वर्ग । "न" गा" बोलियों से यह शब्द बनता है और अर्थ होता है "स्वर्गोधान" । काजीरंङ्गा या काजीरां के अभयारण्य का चित्र अधिक सुन्दर है - "चारों ओर वृत्ताकार, नीलभट्टीरुहों का सघन चक्रवाल ! उसके पीछे नील वर्ण निकिर पहाड़ों का हाशिया । यह अभयारण्य एक ओर तो मिकिर पहाड़ियों से घिरा है, दूसरी ओर ब्रह्मपुत्र नदी से । वस्तुतः यह सुरमाघाटी तक फैले "नामवर" हाबो का ही एक छोर है ।"[1] इस यात्रा में रायजी प्रकृति की हरीतिमा पर डूब जाते थे । भोड़ में वे इसलिए अकेले थे । अकेले वे प्रकृति-सौन्दर्य पर विलीन हो गए थे ।

"प्रजागर पर्व में साहित्यकार" मूलतः प्रबन्ध है । इसमें समसामयिक समस्याओं का विवरण है । आज ईमानदार और निष्ठावान कर्मचारियों का अभाव सत्रत्र देख सकते हैं । सरकारी और विरोधी दोनों दल के राजनीतिज्ञ तरह-तरह के आकर्षक नारों से समाज को अपने-अपने कोल्हू में बांधते हैं ।

रूढ़ि और परंपरा के प्रति गहरा विश्लेषण इसमें दिखाई देता है । इस देश में एक ओर परंपरावादी लोग हैं जिनका विचार है सही और गलत दोनों किस्म की परंपरायें रक्षणीय है । दूसरे नवशिक्षित आधुनिक बुद्धिवादी अंध-अविश्वास से अंधी है । निबन्धकार के मत में यह अंध-अविश्वास उस अंध विश्वास से भी "खतरनाक साबित हो रहा" जो ले देकर लोक-शक्ति को एक तरह से आज तक टिकाऊ बनाये रहा ।

इस प्रबंध के दूसरे भाग में साहित्य और राजनीति का संबन्ध व्यक्त है । रायजी व्यक्त करते हैं कि साहित्य की व्यक्तिनिष्ठ और सामूहिक भूमिका विशेष प्रकार के राजनीतिक दर्शनों के दबाव में आकर साहित्य और अभिव्यक्ति को मौलिक और सहज प्रकृति को तोड़-मरोड़ कर प्रश्न करना है । इसके तीसरे भाग में साहित्य की मारक, उत्प्रेरक और धारक भूमिका का चित्र है । संक्रमण काल में जो "मारक" है, सर्जन के काल

---

1. महाकान्तार, कु. राय, पृः 139.

में उत्प्रेरक बन जाती है और तीसरी धारक भूमिका युद्ध और शक्ति , संक्रमण और संरचना दोनों प्रकार के कालखंडों में व्याप्त है । चौथे भाग में यह कहा गया है कि साहित्य में इच्छा शक्ति या संकल्प की प्रधानता है और परिस्थिति बोध का गौण स्थान है ।

"रामचरित मानस" में संशोधन?" में रायजी ने तुलसीदासजी के रामचरित मानस की महत्ता पर प्रकाश डाला है । इसमें भाई भाई, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र, शत्रु-मित्र, पति-पत्नी, शत्रु-शत्रु के बीच में जो व्यवहार होना चाहिए उसका चित्र है । इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माने जाते हैं । गीता, कुरान और बाइबल में बडो-बड़ो बाते हैं । कई सन्दर्भों और अर्थों में रामायण से उनका महत्व ज़्यादा है । पर उपर्युक्त उद्देश्य केलिए रामायण ही आगे है ।

इस संग्रह से अधिकांश निबन्ध लंबे हैं । विषय की विस्तृति केलिए अनेक स्रोतों से सामग्री जुटाने के कारण ये लंबे हो गए हैं । अतः शिथिलता नहीं है । भाषा अलंकार, प्रतीक और मुहावरों का प्रयोग भी है । इसलिए निबन्ध लालित्य और रोचकता से युक्त हो गए हैं । प्रकृति के प्रति विशेष लगाव है । इसलिए भाषा भावात्मक और आत्मीय हो गई है ।

निष्कर्ष

वस्तुतः इन संग्रहों में रायजी ने अपने सौन्दर्य बोध को वैचारिकता में मिला दिया । उनके निबन्धों की रसात्मकता की विशेषता यहाँ व्यक्त है । सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के विश्लेषण में रायजी की वाणी भविष्य मुखी है । केवल आनन्द प्रदान करना नहीं, अपितु अवबोध प्रदान करना भी रायजी का उद्देश्य है । इसकेलिए बिंब और प्रतीक एक गंभीर भूमिका निभाते हैं । सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में अलंकार का प्रमुख स्थान है । उपमा और मानवीकरण का प्रयोग अधिक मात्रा में है । अनेक देशी शब्दों के प्रयोग से निबन्ध में परिस्थिति और संदर्भों के सजीव चित्र अंकित किए गए हैं और भाषा में आत्मीयता आ गई है । भाषा की इस विशेषता रायजी पाठकों को शुद्ध-प्राण देते हैं, पाठकों से रस का आखेट करते हैं, शब्दों को

अतिशय अभिव्यक्ति से उन्हें मादक बनाते हैं, पुरातनता का नवीन संदर्भों से मेल कराते हैं, शील और रस का समन्वय करते हैं तथा अभिसार गत दृष्टि प्रदान करते हैं । रसात्मक अभिव्यक्ति के विभिन्न स्रोतों से रायजी ने अपनी प्रतिभा का काव्यमय चित्र खींचा है । काव्यात्मकता उनकी भाषा की विशेषता है जिससे उनकी भावात्मक और कल्पनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सप्राण बन गई है ।

अध्याय - तीन

कुबेरनाथ राय के लोकसंस्कृति परक ललित निबन्ध

लोकसंस्कृति का चित्रण ललित निबन्धों की एक उल्लेखनीय विशेषता है । कुबेरनाथ रायजी अपने निबन्धों में भारतीयता को पहचानने का प्रयास करते हैं । उनके कुछ निबन्ध-संग्रहों में हमारी सभ्यता के मूल उद्गम को पकडने का प्रयास है । आर्य-द्राविड-किरात - निषाद रूपी चतुरानन दर्शनीय है । ग्राम संस्कृति , कृषि-सभ्यता, कला-शिल्प आदि के पीछे जिनका हाथ है, उसका विवरण इन ललित निबन्धों में है ।

रायजी के ललित निबन्धों में पाँच लोकसंस्कृतिपरक हैं । वे हैं "निषाद बांसुरी", "पर्णमुकुट", "कामधेनु", "मन पवन की नौका", और "किरात नदी में चन्द्र मधु" । इनमें भारतीयता के मूल की प्रासंगिकता व्यक्त है जिसे विभिन्न स्रोतों द्वारा स्पष्ट किया गया है । विभिन्न संस्कृतियों से परिचित होकर उसका सम्मिलन मूल संस्कृति में किसप्रकार हुआ[1] यह हम देख सकते हैं । भिन्न देशवासी लोगों के आचार-विचार में जो मूल एकता है, उसका चित्र- इनमें द्रष्टव्य है ।

निषाद-बाँसुरी

इसमें निबन्धकार ने अपनी चिन्ता को अधिक विस्तृत और बहुमुखी करने का प्रयत्न किया है । स्वयं कुबेरनाथ रायजी के शब्दों में "इसके भीतर मैं ने नृतत्व-शास्त्र भाषा-विज्ञान, भूगोल आदि सगुण विषयों को अन्तर्भुक्त किया है । फलतः मेरी दृष्टि इसमें कुछ अधिक वस्तुगत हो उठी है । परन्तु ये निबन्ध इतिहास-भूगोल या भाषा विज्ञान पर लिखे गये निबन्ध नहीं । ये हैं शुद्धतः ललित निबन्ध और इनका मूल उद्देश्य है रस ।"[1]

---

1. निषाद बाँसुरी, कु. राय, अपनी बात

वे कहते हैं कि इन निबन्धों को शास्त्र रूप में न देखकर रचनात्मक ललित साहित्य के रूप में देखना चाहिए । नृतत्वशास्त्र और भाषा-विज्ञान की स्थापनाओं पर भविष्य में खण्डन हो सकता है लेकिन लोकसंस्कृति जो इन निबन्धों का आलंबन-उद्दीपन है और रस जो इन निबन्धों की उपलब्धि है, ये दोनों अखण्ड सत्तायें हैं । उन्होंने इस निबन्ध संग्रह के द्वारा ललित निबन्ध के क्षेत्र का विस्तार करने की चेष्टा की है । स्वयंगतता और वस्तु गतता के आन्तरिक अनुपात में विषय तथा रचनाकार के व्यक्तित्व के अनुसार भेद होता है । इस संग्रह में भारतीयता के प्रत्यभिज्ञान का पुनराविष्कार करने का भी प्रयास किया गया है । इसमें प्रतिपादित नाम, व्यक्तिवाचक संज्ञायें व्यक्ति-विशेष न होकर समाज सापेक्ष है । यहाँ तककि इसमें "मैं" का प्रयोग भी स्वयं निबन्धकार केलिए नहीं ।

"लोकसरस्वती" शीर्षक निबन्ध में सरस्वती की आईडिया एक भिन्न एवं विशिष्ट रूप, स्वाद और बोध से संपन्न हो गयी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है । इस निबन्ध-संग्रह में हमारे पुराने विचारों की दृष्टि में कुछ परिवर्तन लाने का प्रयास देख सकते हैं । यह लोकसरस्वती उपनिषदों और पुराणों में वर्णित पराविद्या या शुद्धज्ञान की देवी नहीं । "यह हमारे काशिक क्षेत्र की लोकसरस्वती की प्रतिमा है । यह हमारे अर्धमागधी क्षेत्र अर्थात् भोजपुरी क्षेत्र की सुजला-सुफला-शस्यश्यामला मही माता की प्रतीक है ... वह शिल्पी जिसने इस लोक-सरस्वती की प्रतिमा को स्थापित किया था, बड़ा सावधान कलाकार रहा होगा । हमारी यह लोकसरस्वती संस्कारों के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषों से ही संबन्धित है ।"[1] रायजी ने स्वयं कहा है कि उनकी सारी सर्जना के पीछे उनका अर्ध-मागधी मन सक्रिय है, यह बात यहाँ स्पष्ट है । वास्तव में लोकसरस्वती द्वारा प्राप्त विद्या किताबी नहीं, "उपनिषद्" अर्थात् पास में बैठकर सीखी जानेवाली विद्या है । इनसे कुछ पाने केलिए निरन्तर प्रवहमान लोकजीवन में डूबना होता है और उस अवगाहन के बाद सही बोध उत्पन्न होता है । हम लोकजीवन में सहजता से डूबने पर स्वतः उसमें लीन हो जाते हैं, क्योंकि यह कर्ण या श्रुति आश्रित लीन हो जाते हैं, क्योंकि यह कर्ण या श्रुति आश्रित है, अक्षराश्रित नहीं । इस लोकसरस्वती का कोमलतम और बहुचर्चित चेहरा लोकगीत है ।

---

1. लोक-सरस्वती, कु. राय, पृः 8.

इसमें लोकसंस्कृति और श्रमिक संस्कृति का अन्तर भी व्यक्त करते हैं । "वास्तव में संस्कृति के दो भेद हैं परंपरागत और आधुनिक । परंपरागत संस्कृति के दो उपभेद हैं - अभिजात और लोकसंस्कृतियाँ । लोकसंस्कृति का केन्द्र है कृषक और जन्मभूमि है ग्राम । अभिजात संस्कृति का केन्द्रीय पुरुष है नागरिक और जन्मभूमि है नगर । ... इसके विपरीत आधुनिक संस्कृति का केन्द्र है मशीन और उससे जुड़ा है श्रमिक, मध्यवर्ग (बुर्ज्वा) और पूँजीपति । ... आधुनिक संस्कृति के दो उपभेद हैं व्यक्तिवादी बुर्ज्वा संस्कृति और समूहवादी श्रमिक संस्कृति ।"[1] रायजी के मत में हम लोग असावधानो के कारण इन दोनों को समानार्थक मानते हैं । इस असावधानी का कारण है वामपंथियों के वैचारिक स्वैराचार का प्रभाव जिसके अनुसार "जनता" का अर्थ है "पार्टी" और "लोक" का अर्थ है "श्रमिक" । इस तरह निबन्धकार के वैयक्तिक विचार का प्रस्फुटन है यह निबन्ध ।

इसमें हमारी संस्कृति का अन्न, प्राण और मन के कोषों के संयुक्त प्रतीक लोक-सरस्वती का उद्घाटन है । शक्ति, बल, ताकत और सहज प्राणवत्ता अर्थात् मानसिक-दैहिक स्वास्थ्य का स्रोत लोक संस्कृति ही इस निबन्ध की अन्तर्धारा है ।

गंगा नदी के किनारे बैठे-बैठे निबन्धकार उसकी स्वर-लहरी में विलीन हो जाते हैं और स्वयं अपने मस्तिष्क में भी उसका अनुभव कर लेते हैं । "विरजा नदी और मधुमय सूर्य" में वे इस अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं । "मैं अनुभव करता हूँ कि यद्यपि देखने में नदी एक है पर वास्तव में यह दो रूपों में प्रवाहित हो रही है एक है जल-प्रवाहरूपा भागीरथी और दूसरी है मेरे मानसलोक की चिन्मयी विरजा, जो इसी नदी का घट-घटव्यापी सूक्ष्म रूप है ।"[2] रायजी यहाँ यह भी व्यक्त करते हैं कि विभिन्न स्रोतों में "मधु" शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हो गए हैं । "छान्दोग्य उपनिषद्" में आदित्य देवताओं का मधु है । "विष्णुसहस्रनाम" में विष्णु के तीन नाम मधु, माधव और मधुसूदन "मधु" से संबन्धित है । हमारी मूल संस्कृति में नदी का जो स्थान है उसे व्यक्त करना रायजी का उद्देश्य है । यहाँ उनका भावात्मक सौन्दर्य प्रत्यक्ष हो गया है ।

---

1. लोक-सरस्वती, कु. राय, पृ: 14.
2. विरजा नदी और मधुमय सूर्य, कु. राय, पृ: 25

भारत वर्ष रूपी बछडे केलिए हमारी संस्कृति की प्रतीक "गंगा" धेनु की तरह रंभाती-दौडाती आती है । आनेवाली उस "गंगा" की ध्वनि को "गं" "गं" कहा गया है । "गं गं गच्छति गंगा" में निबन्धकार व्यक्त करते हैं कि जिसप्रकार आर्यों ने सरस्वती नदी की प्रवाह ध्वनि को सुनकर "ॐ" की ध्वनि का आहरण किया है उसीप्रकार गंगा की प्रवाह-ध्वनि को सुनकर "ग्वं" को सीखा है । गंगा नदी तो मूलतः निषादों की नदी है, परन्तु आर्य संस्कृति ने अपनी खाली जगहों को निषाद और द्राविड संस्कृतियों के तत्त्वों से भरा है । आज इतिहास के मध्य यह गंगा भारतीय आर्यत्व का प्रतीक हो उठा है । निषादों के बाद आर्यों के संसर्ग में आकर इसका उदार-धीर-पवित्र वैष्णव-चरित्र हमारे साहित्य में दिन पर दिन विकसित होता गया । निबन्धकार इस नदी में आदिम निषाद-मन ही देखते हैं । "नदी भगवती है, आद्या रूपिणी है, उसे बलि चाहिए चाहे मिष्ठान्न की हो अथवा जोड़ा हंसों की हो । इस बलि को नदी की सगोत्रा निषाद-वधू ही खा सकती है, हम नहीं । आर्य वंशीय हमें इसे खाने का अधिकार नहीं और इस तथ्य पर इतिहास के मध्य अदृश्य बैठा आदिम निषाद मन ही मन मुसकुराता है ।"[1] रायजी ने निषादों के जीवन के द्वारा आदिम लोकसंस्कृति पर विचार किया है । गंगा नदी और निषादों का संबन्ध ललित और भावमय भाषा में व्यक्त किया गया है । प्रकृति सौन्दर्य का आस्वादन करके लोक-तत्त्वों के सौन्दर्य पर रायजी मुग्ध हो जाते हैं । हमारे अन्तर्मन का चित्र यों प्रकाशित हुआ है, "तुम्हारे मन में एक नदी बहती है, इस बाहरी नदी के समानान्तर । तुम्हारे मन में दूध, फूल, अक्षत और लौंग-धार अर्पित होते हैं, इस तुम्हारे बाहरी समर्पण के समानान्तर । और तुम्हारे मन में एक सहस्रशीर्षा भाव समुद्र है, इस बाहरी जलधि के समानान्तर या उससे भी बृहत्तर ।"[2] यह हमारा आदिम मन है, हमारी आदिम मूल संस्कृति है । यहाँ रायजी की भावमयी प्रतिभा झलकती है ।

"निषाद बाँसुरी" शीर्षक निबन्ध में रायजी मूल्यों के विघटन पर ध्यान देते हैं । रायजी अपने बाल-सखा द्वारा आदिम-मन की ओर मुड़ते हैं । "मैं इनका आतिथ्य ग्रहण कर कृतकृत्य होता हूँ और ये मुझे नौका-नयन के दो-चार गीत सुनाते हैं, और सबसे बढ़कर चन्द्रविगलित ज्योत्सना में नदी के एकान्त वक्ष पर झिझर खेलने का

---

1. गं गं गच्छति गंगा, कु. राय, पृ: 31.
2. वही - पृ:31.

अवतार देते हैं, तब मेरा आदिम निषाद-मन मुझे कुछ क्षणों केलिए पुनः इस जन्म में भी मिल जाता है ।"[1] इस प्रकार वे कर्तव्य और कर्म का भार लदे हुए धर्म के घाट पर पहुंचते हैं । यहाँ रायजी के भावगत और काव्यात्मक बोध प्रस्फुटित होते हैं ।

"निषाद बाँसुरी" में निषादों के जीवन, उनके विश्वास, आचार-विचार, गीत आदि का विस्तृत वर्णन है । भारतीय संस्कृति का बुनियाद ही ये निषाद हैं । इस धरती का आदि-मालिक निषाद ही थे । आज उसकी आकृति में काफी परिवर्तन हो गया है । आधुनिक विद्वानों में ऐसा एक मत है कि भारतीय संस्कारों में अवतारवाद का प्रवेश इन निषादों से हुआ है । वाल्मीकि को रामायण लिखने का प्रलोभन एक निषाद द्वारा किये गये क्रौंचवध के फलस्वरूप {मा॰ निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीसमाह॰ यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्} ही संभव हुआ था । निषाद जाति बहुत काल से ही एक परम पुरुष की प्रतीक्षा में थी । आगे गंगातीरी निषादों के गीतों का परिचय भी है । उनके सात कुलों- केवट, चाँई, बथवा, धीवर, तीयर, सोरहिया और मुण्डार - का विवरण भी प्रस्तुत है । आर्य लोग चन्द्रमा को औषधियों का स्वामी मानते थे । इसका आधार भी निषाद वर्ग ही है । उन्होंने चन्द्रमा की कलाओं के आधार पर तिथिगणना की थी । इसप्रकार आदिम संस्कृति का मूल आधार ये निषाद थे ।

"पाहन नौका" में नौकावालों का रहन-सहन, उनके विश्वास, गान, बात करने की रीति अर्थात् उनका सच भी बड़ा आनन्ददायक होता है तो झूठ की तो कोई बात ही नहीं, नौका बनाने की रीतियें सब कुछ आते हैं । रोज़ नदियों से संपर्क होने के कारण आँखें मूँद उनका नाम बताते हैं । उन नदियों के नाम क्रमोवेश ठीक रहते हैं, परन्तु भौगोलिक स्थिति में कभी-कभी थोड़ा-बहुत उलट-फेर अवश्य रहता है । उनके इस तरह के ज्ञान का कारण निबन्धकार इसप्रकार व्यक्त करते हैं - "वास्तव में मात्र व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर संचित ज्ञान क्रमबद्ध नहीं हो पाता । क्रमबद्धता केलिए चाहिए शिक्षा । अनुभवसिद्ध ज्ञान कितना भी सटीक क्यों न हो, बिना शिक्षा के वह सुव्यवस्थित और स्पष्ट नहीं हो पाता ।"[2] आदिम संस्कृति में जो सुधार होना चाहिए उस पर ध्यान दिया गया है ।

---

1. निषाद बाँसुरी, कु॰ राय, पृः 33.
2. पाहन नौका, कु॰ राय, पृः 59.

COCHIN - 682 022 * COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY * LIBRARY

"सैकत-अभिसार"में निबन्धकार को ऐसा लगता है कि गंगा नदी का शरद्कालीन और ग्रीष्मकालीन भवरूजनाशक प्रवाहशीलता, धीरता और चारित्रिक पारदर्शकता को प्रतीक है । इसमें वे यह सिद्ध करते हैं कि निषाद इस गंगा नदी और गांगेय प्रदेश तथा विन्ध्यारण्य के मालिक थे । "इसी से मैं बार-बार कहता हूँ भारतीय इतिहास और लोकसंस्कृति, लोकधर्म और लोकभाषा का महत्तम समापवर्तक "निषाद" अर्थात् कोल या आस्ट्रिक है, आर्य नहीं ।"[1] इसमें भी प्रकृति-सौन्दर्य की महत्ता है । ग्रीष्म की धीरधारा का वर्णन भी रायजी करते हैं । इससे आदिम मानव-मन व्यक्त कर देते हैं । रसात्मक और काव्यात्मक सौन्दर्य का समन्वय देख सकते हैं ।

"महीमाता" शीर्षक निबन्ध में आदिम निषाद, द्राविड़ और आर्य के समन्वय का व्यापक चित्रण है । निषाद मातृसत्ता-प्रधान समाज का जीव था और निषाद कवियों ने अपना वंश-परिचय माता "इतरा" के नाम पर ऐतरेय महीदास कहकर दिया है । उन्होंने "पृथ्वी सूक्त" की रचना की, जिसमें महीदास ने जीवन की गति-विधियाँ समझा-बुझाकर व्यक्त किया है और धरित्री का वर्णन अनेक बिंबों के द्वारा किया है । यह अथर्ववेद में संकलित हुआ है । आदिम निषाद और आदिम द्राविड महीमाता का उपासक था तो आदिम आर्य पिता आकाश का । धरती, अरण्यानी, हिमनी आदि मातृ देवतायें हैं तथा इन्द्र द्यौस्, आदित्य आदि पितृसत्ता प्रधान देवतायें । नव्य आर्यों ने आकर इन सबों कों उदात्त करके अधिक व्यापक बनाकर इन सारे अंशों का वरण कर लिया। "हमारी पुरुष देवताओं की प्रारंभिक उपासना अवश्य अन्य आर्यकुलों की उपासना के समानान्तर थी, परन्तु नारी देवताओं की उपासना शुद्ध देशी विकास है जो निषादों के आदिम धर्म, अपदेवता पूजा, व्याधिपूजा, नदीपूजा तथा धरित्री पूजा से विकसित हुआ है ।"[2] मही, पृथ्वी, धरित्री, धरा, धारयित्री, धरणी, वसुन्धरा, वसुदा, वसुमती मेदिनी आदि धरती के विविध नामों का परिचय भी दिया गया है । "मिट्टी को वर्णगत विशेषता और रसायनिक बनावट की दृष्टि से भारतीय धरती का चिन्तन करते हुए हम इस रूपसी धरा को दो भागों में बाँट सकते हैं, सादा भारत और रंगीन भारत । सादा भारत अर्थात् आर्यावर्त और रंगीन भारत अर्थात् निषाद-द्राविड़-किरात भारत ।"[3] आर्य-आर्येतर समन्वित भारतीय संस्कृति का मनोरंजक और विस्तृत चित्र इसमें स्पष्ट है ।

---

1. सैकत अभिसार, कु. राय, पृः 67.
2. महीमाता, कु. राय, पृः 81.
3. वही - पृः 82.

"फागुन-डोम" में रायजी यह व्यक्त करना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति अपने मौलिक रूप में किसी को उपेक्षित या हीन नहीं रखती । इसकी मानसिक और आत्मिक समृद्धता का कारण यही है कि इसमें हर एक इकाई को स्वतंत्र सत्ता के रूप में जीने का यथासंभव अवसर है और प्रत्येक इकाई की विशिष्टताओं को अन्य इकाइयों ने परस्पर बाँटकर ग्रहण किया है । इस निबन्ध में डोम जातियों के सप्त कुलों का परिचय दिया गया है, जिनकी जीवन-रीति बाँसों से युक्त है । ये कुल-डोम, मुसहर धरकार, बाँसफोड़, तीयर, भंगी और घेरो-खरवार है । ये सब के सब मूलतः निषाद या कोल-भाषा कुल की सन्तानें हैं जिनका आर्यीकरण नहीं हो सका और ये अब भी निर्भय होकर बस्ती के बाहर साँपों, श्रृगालों, मूषकों के बीच रहते हैं । घनघोर भय के मध्य कठोर साहस के साथ रहते हैं । निबन्धकार आशा करते हैं कि इनको शिल्पगत, कलागत, संगीतगत एवं समाजगत विशिष्टताओं को सुन्दर संस्कार देकर उनके सामूहिक व्यक्तित्व का संपूर्ण प्रस्फुटन करने की आवश्यकता है । लोकशिल्प के प्रति उपेक्षा को समस्या के पीछे दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं । प्रथम तो यह कि लोक-शिल्प के ग्रामीण कलाकारों को नव-बोध और नव-रुचि तथा नयी शैलीगत उद्भावना केलिए कोई प्रशिक्षण नहीं । ... दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है उपभोक्ता के रुचिबोध की समस्या ।"[1] इसप्रकार लोकशिल्प के पुनः संस्कार का प्रयत्न रायजी यहाँ करते हैं । बाँसों के सौन्दर्य पर आकर्षित होकर उसका भावमय वर्णन किया गया है । "कबूतर पुराण" नामक निबन्ध में कबूतरबाजों पर दृष्टि डालते हैं । कबूतरों के खेलों का चित्रण अधिक सुन्दर लगता है । वन कपोत और लोला कपोत इन दो तरह के कपोतों का परिचय देते हैं । वन कपोत का मांस खाया जाता है । लीला कपोत तो आत्मा का प्रतीक है तथा ईश्वरत्व का भी । इसमें काव्यमय भाषा का प्रयोग है तथा बातचीत की शैली भी ।

"रात्रिचर" में एक चोरी-कथा अधिक मनोरम शैली में वर्णित की गई है । हमारी दृष्टि में चोरी एक हीन-प्रवृत्ति है । लेकिन यहाँ निबन्धकार यह दिखाते हैं कि प्रथम श्रेणी का चोर बनना बायें हाथ का खेल नहीं, एक अपूर्व कायासिद्धि है । चोरी अपकीर्ति के बावजूद एक कला थी और उसका अपना एक निजी शास्त्र था, जिसको एक विकसित गुरु-परंपरा थी । "सबरी चौबे" जो इस कला का निपुण है, उनका परिचय भी

---

1. "फागुन" डोम" कु. राय , पृः 96.

निबन्धकार इस निबन्ध के द्वारा देते हैं । "शबरी" या "सबरी" शब्द को वे किरात या निषाद भाषा का शब्द मानते हैं । "शबरी दो अत्यन्त मज़बूत इस्पात की बनी हुई डेढ फुट लंबी, एक इंच चौडी पौन या एक इंच मोटी लोहे की खतियाँ हैं, जिन्हें चोर बडी आसानी से धोती के नीचे जाँधों की बगल में बाँधकर विचरण करते हैं । ... शबरी बनानेवाले और खरीदनेवाले को भी एक दूसरे का मुँह नहीं देखना चाहिए, विशेषतः क्रय विक्रय के समय ।"[1] यह चोरी कौशल के साथ-साथ कविता भी है । चोर एक ट्रैजिक चरित्र नहीं । वह भावुकताहीन एक व्यंग्यपूर्ण कॉमेडी का नायक है । इसीसे वे मानते हैं कि चोरी को कला मानना अन्याय नहीं । चोरी का मनोरंजक चित्र इसमें उपलब्ध है । उदात्त और आत्मीय वातावरण की सृष्टि भी होती है ।

"नवरात्र की शस्य पार्वती" शीर्षक निबन्ध में हमारी कृषि-सभ्यता का गहन विचार है । भारतीय सभ्यता की नींव है गांगेय सभ्यता, जिसका विकास काशी, कोशल, मगध, विदेह के आर्य, द्राविड़, निषाद, किरात की समन्वित साधना द्वारा हुआ है । अन्नपूर्णा ज्ञान-मधु और वैराग्य दुग्ध की देवी है, महाविधा है । "अन्नपूर्णा गौरी है अर्थात् गौर वर्ण आर्यों की कल्पना में उत्पन्न आर्य मातृका का है और "केनोपनिषद्" का सन्दर्भ बताता है किमूल रूप में यह हेमवती थी, महाविद्या रूपा एवं देवों से ऊपर स्थित ब्रह्म-शक्ति थी । अन्न एवं दूध-भात से इसका विशेष संबन्ध तब जुडा जब आर्यों ने अपनी गोप-संस्कृति को गंगातीरी निषादों द्वारा आविष्कृत "कृषक संस्कृति" के साथ समन्वित कर दिया और निषादों द्वारा पूजित श्यामांगी मातृकाओं को देवी की कल्पना में अन्तर्भुक्त कर लिया गया ।"[2] आर्यों की महागौरी अन्नपूर्णा का निषादों द्वारा आविष्कृत संस्करण है शांकभरी दुर्गा । "वास्तव में कृषि सभ्यता इतनी प्राण-संपृक्त रही है कि प्रत्येक कर्म के साथ कल्प-समारोह जोड़कर कर्म को लीला या कला में रूपान्तरित कर दिया गया है । परन्तु मशीनी सभ्यता में प्रत्येक कर्म एक काम मात्र है, निर्धारित ड्यूटी है, उत्पादन है, लाभहानि युक्त व्यापार है । इसमें न तो कल्पगत कला है और न भाव-सुख ।"[3] जहाँ-जहाँ कृषक संस्कृति को विनष्ट करके आधुनिक मशीनी संस्कृति का

---

1. रात्रिचर, कु. राय, पृः 121-122.
2. नवरात्र की शस्य पार्वती - कु. राय, पृः 130.
3. वही - पृः 127.

आरोपण हुआ है, वहाँ-वहाँ अधिक भौतिक सुविधायें प्राप्त करके भी मनुष्य सुखी और सन्तुष्ट नहीं । क्योंकि सुख, पुलक, उल्लास और सन्तोष आन्तरिक ऋद्धि से उपलब्ध होते हैं । आन्तरिक सौन्दर्य का सजग चित्र इस निबन्ध की विशेषता है ।

"पुनः चण्डीथान" में निबन्धकार के केन्द्रीय अनुभवों को इतिहास और नृतत्वशास्त्र के कोण से उपस्थित किया गया है । "चण्डी" भारतवर्ष की आदिम देवता है और यह शब्द ही प्राग् आर्य अर्थात् द्राविड या निषाद भाषा का शब्द है । भारत का आदि धर्म है तंत्राचार और आदि देवता है चण्डी, क्योंकि आदिम अनार्य भारतीय कबीलों में मातृसत्ता प्रधान थी । "चण्डी" शब्द मध्यदेशीय गंगा-नर्मदा-क्षेत्र के निषादों का दान ज्ञात होता है । आधुनिक भारतीय संस्कृति इस गांगेय आर्य की वंशजा है जिसका चेहरा ऋग्वेद के नीलारुण में अस्पष्ट है, परन्तु अथर्ववेद की निर्मल-प्रसन्न धूप में साफ़ निखर आता है । रायजी द्वारा वर्णित चण्डी आकृति-विहीन है । लोक-विश्वास है कि देवी अन्य विग्रह नहीं चाहती, वह इष्टक खण्ड के रूप में आराधित होना चाहती है । लोक विश्वासों पर गहरा विश्लेषण किया गया है ।

किशोरावस्था के समाप्त होते-होते हम में कई शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं । इस परिस्थिति में अनुकूल वातावरण न मिलने पर एक उन्माद की स्थिति उत्पन्न होती है । इसे लोग प्रेतबाधा मानते हैं । "मानस-कूप और कोटर पिशाच" में इस विश्वास को दूर करने का और लोगों को समझा-बुझाने का प्रयत्न करते हैं । "वयःसन्धि या कैशोर्य में शारीरिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नये शरीर-रसों के उत्पादन तथा नये स्नायु-चक्रों की सक्रियता के फलस्वरूप जब कामना-उद्दीपन हो (बिना किसी बाहरी विषय के ही) तो उस हालत में मन में कामना का नाम रूपवाला कोई आलंबन न रहने पर, उक्त उद्दीपन-जात मानसिक ऊर्जा को निराश्रित भटकावमयी स्थिति में छोडने पर तरह-तरह के मानसिक खतरे हैं, और उक्त मानसिक ऊर्ज को विलोक रूपान्तर हो जाने का भय रहता है । "... जब शरीर के भीतर अव्यक्त षोडशी कला की तरह कामकला या वैष्णवी शक्ति का विन्यास विकसित होने लगता है तो जैसे-जैसे वयस बढ़ती जाती है सौन्दर्य के प्रति सुख का भाव तृषा में बदलने लगता है ।"[1] अंधविश्वासों की व्यर्थता पर रायजी व्यंग्य करते हैं ।

---

1. मानस-कूप और कोटर पिशाच, कु. राय, पृः 153.

"रक्षा दीप" में लोकायत धर्म को एक रक्षाकवच के रूप में निबन्धकार ने चित्रित किया । जिस दिन इस रक्षा कवच को पूर्णतः त्याग देंगे उसी दिन हम पौराणिक धर्म को भी त्याग फेंकेंगे और इस तरह सारी भारतीय संस्कृति को भी छोड देंगे । इस लोकायत धर्म मात्र देहवादी नहीं, पराभौतिक सत्ताओं पर विश्वास रखता है । तथ्य की दृष्टि से यह अन्ध-विश्वास हो भी तो क्रिया की दृष्टि से यह सामूहिक मानसिक ऊर्जा का अपार शक्तिशाली स्रोत है । रायजी लोकायत धर्म के वर्तमान रूप पर विचार करते हैं । "मैं यह मानता हूँ कि इस लोकायत धर्म का वर्तमान रूप भद्दा और फूहड है । परन्तु उसका तिरस्कार न करके उसको संस्कृत कर देने की आवश्यकता है । जिसप्रकार तुलसीपूजा, वृक्षपूजा और बजरंग बलीपूजा तथा दुर्गापूजा को संस्कृतकरण की प्रक्रिया द्वारा एक ललित रूप दे दिया गया है, वैसे ही लोकायत धर्म के अन्य कल्पों को भी सुन्दर बनाया जा सकता है जिससे वे आनन्द और साहस के स्रोत बन सकें ।"[1] हमारे आदि धर्म को छोडने से हम अपने ही नाश या अपने मूल्यों के नाश का कारण ढूँढ निकालते हैं । इसकी शैली में समझने-समझाने की प्रक्रिया है ।

साहित्यकार की प्रभावात्मक दृष्टि सचमुच अद्भुत ही है । "दक्षिणो मलया" में निबन्धकार कवि की अनुभूति का सुन्दर चित्रण करते हैं । इसमें एडमिरल ब्यूफोर्ट नामक साहित्यकार ने जिन-जिन समीरणों को नाम दिया है, उसका परिचय भी निबन्धकार ने दिया है । जैसे हल्के समीरण, धीर समीरण, औसत समीरण, युवा समीरण, सबल समीरण, औसत् मरुत, युवा मरुत आदि । ये सभी नामकरण हवा की गति के अनुसार है । निबन्धकार यहाँ प्रस्तुत करते हैं कि "ब्यूफोर्ट साहब ने वायु की गति का पैमाना दीर्घकाल तक निरीक्षण करके बाँधा है । मैंने भी हवा की भावात्मक रसात्मक भूमिकाओं का एक ऐसा पैमाना अवश्य तैयार किया है । परन्तु मन का भूगोल कुछ भिन्न किस्म का है । वह विषयगत नहीं, व्यक्तिगत एवं भोक्तागत है ।"[2] रायजी के उदात्त, प्रभावमय, और वैयक्तिक प्रतिभा यहाँ स्पष्ट है ।

---

1. रक्षा दीप, कु. राय, पृः 173.
2. दक्षिणी मलया", कु. राय, पृः 179.

हम भारतीय पान और ताम्बूल से अवश्य अपरिचित नहीं । निबन्धकार इस "पान ताम्बूल" पर कुछ अध्ययन करने के प्रयत्न में है । पान का संबन्ध चौरसिया वंश से स्थापित करते हैं । चौरसिया वंश की वाटिका में नागवल्ली है जो नागलोक से आयी है और इसके पर्ण को पान कहते हैं । ऐसा एक विश्वास है । विभिन्न पानों का परिचय भी देते हैं, गाज़ीपुरी, बँगला, जगन्नाथी, साँची, मज़ाल, हरगौरी आदि । द्राविड़ों ने फूल-चन्दन के प्रयोग का प्रारंभ किया है तो निषादों ने सिन्दूर, हल्दी तथा पान-सुपारी का । पान-सुपारी के क्षेत्रों का परिचय भी इसमें प्रस्तुत है । इसकेलिए उन्होंने इतिहास की सहायता ली है । "हम कह सकते हैं कि पान-सुपारी का प्रयोग निषादों ने दक्षिण भारतीय द्राविड़ों को बुद्ध-पूर्व ही सिखा दिया था और उन्हीं निषादों से उत्तर भारतीयों ने इसका प्रयोग बुद्ध के समय के ही आस-पास सीखा । अंग्रेज़ी के "ब्रिटल" शब्द मलयालम भाषा के "वेटिल्ला" शब्द से निकला है, यह ध्यान देने योग्य बात है । रायजी के मत में "ताम्बूल का आस्वादन कोई मामूली अनुभव नहीं । यह तांबूल-चर्वण रसना पर आर्य-द्राविड़-निषाद-किरात समन्वित चतुर्भुज भारती का आस्वादन है । इसका अनुभव अपने आप में अपूर्व है, काम, अर्थ और धर्म का साधन है तथा विशुद्ध आनन्द द्वारा हमें मोक्ष के द्वार पर पहुँचा देता है । ताम्बूल का आस्वादन माने भारतीयता का समग्र रूप में आस्वादन ।"[2] वैसे पान-ताम्बूल हमारी संस्कृति का अंग ही है । इसमें आदिम भारतीय संस्कृति के सूक्ष्म अंशों को पकडने का प्रयास है । इसमें रायजी के मन की अनुभूति का काव्यमयी चित्रण उपलब्ध है ।

यह लो, अजुरी-भर कामरूप ! में असमिया संस्कृति के पुरुषप्रधान और प्रकृति-प्रधान संस्कारों का परिचय है । पुरुष प्रधान दार्शनिकवृत्ति वाले कामरूप ने संपूर्ण असम को एक पुरुषप्रधान सादा, सबल, प्रकृति-वर्जित, राधा-वर्जित एक वैष्णव धर्म प्रदान किया तो प्रकृति-प्रधान "अपर असम" एवं पार्वतीय असम ने असमिया जाति को एक गीतात्मक नृत्यसमृद्ध संस्कृति और रोमैन्टिक मनोभूमि प्रदान की । नलबारी अंचल के जापारकूची गाँव की जीवन-रीतियाँ भी यहाँ प्रस्तुत की, गई है । रायजी ने उनके गीत प्रधान कृषि संस्कृति का वर्णन भी किया है । इसमें भाषा काव्यमय और मनोरंजक है ।

---

1. पान-ताम्बूल, कु. राय, पृ: 187.
2. वही - पृ: 188.

"कथा एक नदी की : महाबाहु ब्रह्मपुत्र" शीर्षक निबन्ध में नद ब्रह्मपुत्र की कथा कहने का प्रयास करते हैं । जिसप्रकार गंगा निषादों की नदी है, उसी प्रकार ब्रह्मपुत्र किरातों का महानद है । "व्यावहारिक दृष्टि से आज देखें तो वह किरात भारत जिसमें किरात चरित्र और रूप आज भी जीवन्त है उन्हीं क्षेत्रों में प्राप्त हो सकता है जिसमें आज ब्रह्मपुत्र नद बहता है । अरुणाचल और असम ब्रह्मपुत्र को और इस जीवन्त किरात संस्कृति की लीलाभूमि हैं ।"[1] इसलिए रायजी ने इसको किरातों का नद कहा है । अहोम शब्द से वर्तमान असम शब्द निकला है - अहोम > असोम > असम या असम । उनको लगता है कि महानद के स्वभाव में अहोमों की वीरता और क्रूरता का आवेश हो गया है । हमारी भारतीय जाति में आर्य-निषाद-किरात और द्राविड हैं और इनके प्रतीक हैं सरस्वती (आर्य), गंगा (निषाद), ब्रह्मपुत्र (किरात) और कावेरी (द्राविड़) नामक नदियाँ । हम भारतीय इन चारों का मिश्रण हैं । हमारी इस संस्कृति को निबन्धकार रस-सिद्धान्त की भाषा में प्रस्तुत करते हैं, "हमारी संस्कृति का रस है भारतीयता जिसमें आर्यत्व है स्थायीभाव । पर इस स्थायी - भाव को रचना केलिए अनुभाव, विभाव और संचारी भाव चाहिए और ये अनुभाव, विभाव तथा संचारी भाव हैं क्रमशः किरात, निषाद और द्राविड़ । इनकी ही निष्पत्ति से जिस रस का, अनुभव होता है वह है "भारतीयता" या "भारत" ।"[2] रायजी के रस और बोध की प्रतिभा यहाँ झलकती है ।

इस निबन्ध-संग्रह में ग्रामीण और लोक-संस्कृति की प्रमुखता के कारण अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे :- असमिया, बंगला के शब्द । प्रत्येक अंचल की संस्कृति पर विचार करते समय वहाँ जो शब्दों का प्रयोग है, वह इसमें आना स्वाभाविक है । इसी से ही ग्रामीण वातावरण की स्वाभाविकता आती है । पूरे निबन्ध में यह लोक-वातावरण प्रत्यक्ष है । रायजी ने भाषा में अलंकार, प्रतीक, बिंब, मुहावरे आदि का प्रयोग करके उसकी भावात्मकता, वैचारिकता, मनोरमता, काव्यात्मकता, आत्मीयता तथा उदात्तता को बढ़ाया है । उनकी रसमय भावना ने इस ललित-निबंध संग्रह को प्रवाहमय बनाया है । इसमें प्रथम पुरुष "मैं" का प्रयोग वस्तुतः समूहवाचक है । आदिम निषाद-मन की मूल प्रवृत्तियों को जगाने में रायजी सफल बन गए हैं ।

---

1. कथा एक नदी की : महाबाहु ब्रह्मपुत्र, कु. राय, पृः 209.
2. वही - पृः 207.

मन पवन की नौका

इस संग्रह में दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपान्तर भारत का विस्तृत विवरण है । हमें अपने प्रकृत भारतीय स्वरूप को पहचानने केलिए और अपना सही अभिज्ञान प्राप्त करने केलिए भारत की नींव आर्येतर भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के हृदय में स्थित भारत को समझना ज़रूरी है । इस तरह यह संग्रह भारतीय दृष्टि के सर्वोच्च रूप को हमारे सामने प्रत्यक्ष करता है । "अगस्त्य तारा" इन्डोनेशिया से संबन्धित निबन्ध है तो "एक नदी इरावदी" वर्मा से, "जलमाता मेनाम" स्याम से, "मीकाङ् गाथा" कंपूचिआ से, सिंधु पार के मलय मारुत मालय से, "जावा के देशीपुराणों से" और "बालो द्वीप का ब्राह्मण" इन्डोनेशियाई संस्कृति से तथा "यायावर कौण्डिन्य" कंबोज से जुडे निबन्ध हैं । "मन-पवन की नौका" पर वे बृहत्तर भारत का सैर करते हैं तथा क्षीरसागर में "रतन-डोंगियाँ" रत्नाकर, महोदधि और क्षीरोदधि का परिचय देते हैं । रायजी अपने इस संग्रह की प्रासंगिकता को यों व्यक्त करते हैं - "मैं ने अपनी दो पुस्तकों"-"निषाद-बाँसुरी" और "किरात नदी में चन्द्रमधु" - के अन्दर आर्येतर भारत की छवियों और बिंबों को ललित निबन्धों के माध्यम से, संकेत रूप में ही सही, प्रस्तुत किया है तो इस पुस्तक में द्वीपान्तर भारत (दक्षिण-पूर्व-एशिया) के स्रोतों से लब्ध विषयों और बिंबों को । ये तीनों किताबें ("निषाद-बाँसुरी", "किरात नदी में चन्द्र-मधु" और "मन-पवन की नौका") एक त्रयी (Triology) रचती हैं - भारतीयता के विशिष्ट आयामों के पुनराविष्कार के सन्दर्भ में । अतः पुस्तक की प्रासंगिकता या युक्ति हमारे अपने भारतीय पाठकों के प्रति है, और यह सही प्रासंगिकता है ।"[1] यह किताब दक्षिण-पूर्व एशिया के सांस्कृतिक चिन्तन से प्रभावित होकर उन्होंने लिखा है, अन्यथा राजनैतिक चिन्तन से प्रेरित होकर नहीं । उन्होंने भूमिका में यह व्यक्त किया है ।

इस संग्रह के प्रथम निबन्ध "मन पवन की नौका" में रायजी का मन अपनी नौका पर द्वीपान्तर भारत से सवार होकर इतिहास की कुछ अनुस्मृतियों को जगाता है । यह "मन पवन की नौका" एक अद्भुत वस्तु है । इस नाँव में बैठकर वे सुपारा से सिंहल, सिंहल से गुदारा, गुदारा से कामलंका, श्रीविजय, जावा, सुमात्रा और बाली द्वीप को

---

1. मन पवन की नौका, कु. राय, भूमिका, पृः 8.

ओर सैर करते हैं । "मुझे लगा कि समुद्र से सुन्दर और कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, विधाता की सृष्टि तिलोत्तमा नारी भी नहीं ! यह अनुभव तीन आयामों वाले वर्तमान से मुझे खींचकर चौथे आयाम सनातन महाकाल में ठेल गया और एक ही साथ, एक ही काल बिन्दु पर खड़े होकर मैंने भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों में विचरण करने का अपूर्व सुख प्राप्त किया ।"[1] इसमें नाविकों के कुछ आचार-विचारों का चित्रण भी दिया गया है । उनकेलि नौका मंगल और अभय हस्त को प्रतीक है । कम्पूचिया के समुद्र-तटों पर भी वे सैर करते हैं । तथा उनकी लोकसंस्कृति के प्रति जो अखिल दृष्टि है, वह भी व्यक्त करते हैं । लोकसंस्कृति एक ही महाविद्या है जो भिन्न-भिन्न साज-पोशाक में भारत के भिन्न-भिन्न अंचलों में अवतरित होती रही ।"[2] वे लोककथाओं में प्रचलित कल्पित मन पवन की लकड़ी पर बैठकर इतिहास में विचरण करते हैं । वर्तमान हिन्देशिया, मलय, वियतनाम, कम्पूचिया, सिआम और वर्मा तथा शेष पूर्वद्वीप समूह को द्वीपान्तर भारत का गया है, जो परस्पर सिन्धु मार्ग से जुड़े हैं । निबन्धकार ने इसमें एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है कि पाठक भी उनके साथ सैर कर सकते हैं । इसप्रकार भाषा में आत्मीयता आयी है ।

सिन्धु पार के मलय मारुत" में निबन्धकार प्रत्येक इकाई के भीतर की अन्तः संस्कृति को विकसित करने की आवश्यकता को सुझाते हैं । "मोन" या "मान" की तरह "चाम" भी आर्यों की समन्वित संस्कृति अर्थात् भारतीय संस्कृति में विलीन हो गए हैं । "मालय" नस्ल को अंग्रेज़ी में आस्ट्रिक कहते हैं जिसका नाम आधुनिक भारतीय भाषा में निषाद है । बर्मा और स्याम के निषादों को मान, मोन और मोड्. आदि नाम से आज भी बुलाया जाता है । इनमें सर्वाधिक प्रचलित "मान" जो "माल" का रूपान्तर है । इसे कंबोडिया और हिन्दचीन में "खमेर" कहते हैं । भारतीय पुराणों में इसी जाति के उच्च वर्ग को नागवंशी क्षत्रिय कहा गया है तथा निम्न वर्ग को निषाद, कोल मुंडा आदि। कुछ पण्डितों की धारणा है कि "मालय" या निषाद नस्ल में "चाम" नामक जाति-विशेष का प्रचलन था और इस जाति के लोग उत्तरी बिहार से दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर चले होंगे । मालय शृंगार तो पुष्प शृंगार है । आज भी स्याम तथा दक्षिणभारत की स्त्रियों

---

1. मन पवन की नौका, कु. राय, पृः 25.
2. वही - पृः 24.

में पुष्प श्रृंगार प्रचलित है । मल्लिका, जवापुष्प और चंपा संज्ञाओं का संबन्ध मालय (आस्ट्रिक या निषाद) भाषा कुल और संस्कृति से है । इस संस्कृति से ही पान, सिन्दूर तथा हल्दी प्रयोग, मणि प्रबालों के अलंकार, माल्य रचना और पुष्प-श्रृंगार का शौक, देशी नृत्य और गीत के अनेक स्थान्तर तथा दैनन्दिन भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है । निषाद-वर्ग की मूल प्रवृत्तियों पर गहरा विचार किया गया है । एक शब्द का विस्तृत परिचय भी इसकी विशेषता है ।

अगस्त्य तारा शीर्षक तीसरे निबन्ध में निबन्धकार अगस्त्य को भारत गुरु मानते हैं तथा लोपामुद्रा को भारत सावित्री । दक्षिण-पूर्व एशिया के सांस्कृतिक इतिहास में भारत गुरु हैं अगस्त्य और भारत नायक हैं रामचन्द्र । "अगस्त्य संहिता" में आये अनेक मंत्रों के देवता राम और ऋषि अगस्त्य हैं । स्याम, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली, मलय सब कहीं रामकथा ही धर्म-परिवर्तन के बावजूद वहाँ की संस्कृति का मूलाधार है । वर्तमान इण्डोनेशिया में अगस्त्य के नाम पर अगस्त्य संप्रदाय भी चलता था । भारत गुरु अगस्त्य किसी खास व्यक्ति का नाम नहीं बल्कि एक आइडिया और भावधारा तथा मानसिक उत्तराधिकार का मिथकीय स्थान्तर या पात्रीकरण है । "काल पर इतिहास का हस्ताक्षर है, इतिहास पर मिथ का । अगस्त्य का मिथ वस्तुतः भारतीय संस्कृति के शताब्दी-दर-शताब्दी व्यापी इस एशियाई अभियान का ही पात्रीकरण है । यह अभियान स्थलपथ, जलपथ, वायुपथ, हस्तीपथ, मृगपथ, नदी-पथ और वरुणपथ से चलता हुआ दक्षिणपूर्व एशिया जा पहुँचा और तब उसकी असल यात्रा शुरू हुई भीतर के मानसपथों पर अनुभूतियों के स्नायुमण्डल में, मन में और आत्मा में ।"[1] संस्कृति के मूल को पकड़ने केलिए दक्षिणपूर्व एशिया का सैर करते हैं । नदी इरावदी, या इरावती, जो बर्मा की गंगा है उसकी स्मृति निबन्धकार एक नदी इरावदी में देते हैं । इरावती अर्थात् किरातवर्त भारतीय इरावती किन्नर-किरात भूमि हिमालय में ही बहती है । "शान" जाति के चीनी मंगोल बर्मा और बाद में असम (भारत) में प्रवेश करते थे । बर्मी जाति आज बहुसंख्यक हैं । फिर आते हैं शान नस्ल के चीनी किरातों तथा मान(मोड्.) नस्ल के भारतीय किरातों के वंशधर । "मान" स्याम तथा कम्बोज में भी हैं, इन्हें बर्मा में ताइलड्. नाम से पुकारते हैं । ये ही कम्बोज में "ख्मेर" कहे जाते हैं और नस्ल के हिसाब से "मालय" हैं । इरावत की डेल्टा भूमि में ही थीं मान(मोड्.) लोगों की पेगू और थाटोन नामक बस्तियाँ जिनके

---

1. अगस्त्य तारा, कु. राय, पृः 54.

भारतीय नाम हैं हंसावती तथा सधर्मावती । "मैं अपने अन्दर भारतीय इतिहास का आवेश धारण करके बोल रहा हूँ । अतः मेरा तात्पर्य जातीय स्मृतियों से है जिनके बेशकीमत महार्घ खण्ड इरावदी की भूमि में भी बिखरे पड़े हैं । क्योंकि मीकाङ्-मेनाम इरावदी ये तीनों दक्षिण - पूर्व एशिया में बिखरी भारतीय अनुस्मृतियों की त्रिधारा हैं ।'[1] यदि हम मध्य बर्मा से उत्तर की ओर जाते हैं तो इतिहास से अधिक भूगोल ही हमें आकर्षित करेगा । एक इरावती है सप्तसिन्धु[2] के अन्तर्गत जिसे आज रावी कहते हैं और दूसरी है "उत्तर भारत" (विशाल भारत) में । बर्मा में प्रचलित महाजनक की लोककथा का सन्दर्भ भी निबन्धकार इस निबन्ध में देते हैं । ये बर्मा वासी महाजनक को बोधिसत्व का अवतार मानते हैं । रायजी मन रूपी नौका से भूगोल का भ्रमण करते हैं तथा निषाद किरात वर्गों की रीतियों से परिचित, हो पाते हैं ।

"जलमाता मेनाम" में निबन्धकार निषाद संस्कृति पर विचार करते हैं । दक्षिण एशिया (भारत) और दक्षिण पूर्व एशिया (बर्मा, थाईलैण्ड, कंबोडिया, लाओस, वियतनाम, मालय, इण्डोनेशिया) की संस्कृति की नींव रचते हैं निषाद या आस्ट्रिक गण । इरावदी - मेनाम् मीकाङ् जो दक्षिण पूर्व एशिया में बिखरी भारतीय अनुस्मृतियों की त्रिधारा हैं, इनका सम्मिलित नाम है सुवर्णभूमि । मेनाम् घाटी के आधुनिक नाम हैं स्याम, और थाईलैण्ड तथा इसकी प्रथम जाति थी जिसे मान (मोङ्) और "ख्मेर" नाम से पुकारते थे । भारत में ये निषाद थे तथा आधुनिक पण्डित इसे आस्ट्रिक कहते हैं । रायजी "मेनाम" का अर्थ स्पष्ट करते हैं । "मेनाम" अर्थात् "जलमाता", "मे" और "मी" का अर्थ होता है "माता" । "नाम" का थाई भाषा में अर्थ होता है "जल" । संभवतः असम प्रदेश में थाई भाषा के प्रभाव से ही कई नदियों के नाम के साथ "नाम" शब्द जुडा है जैसे "नामदाङ्ग" या नामयाङ् ।"[3] थाई संस्कृति सहिष्णु और उदार रही है ।

---

1. एक नदी इरावदी, कु. राय, पृः 67.
2. वही - सप्तसिन्धु : लेखक की दृष्टि में बृहत्तर भारत की सप्तसिन्धु हैं : वंक्षु (oxus) सिन्धु, गंगा, कावेरी, इरावदो, मेनाम और मीकाङ्.
3. जलमाता मेनाम, कु. राय, पृः 75.

थाईलैण्ड के प्राचीनतम निवासी हैं मध्यदेश के "लाओ" या "लवगण" । थाईलैण्ड लवों, मानों, ख्मेरों {काम्बोजों} और अन्त में थाईगण की पितर भूमि है जिसकी रचना जलमाता मेनाम करती है । रायजी को यह नदी अधिक प्रिय है । "श्वेत हाथी और ऐरावत गजों की यह नदी मेनाम मुझे उतनी ही प्रिय है जितनी गंगा, ब्रह्मपुत्र और गोदावरी-कृष्णा है ।"[1] निषाद संस्कृति के विभिन्न अंचलों का परिचय दिया गया है । प्रकृति के प्रति रायजी का भाव यहाँ स्पष्ट है ।

"मीकाङ् गाथा" में तिब्बत से उद्भूत मीकाङ् नदी की गाथा है । यह दक्षिण-पूर्व एशिया की मुख्य नदी है और हिमालय की तिब्बत की मालभूमि से निकलती है । "मीकाङ्" का अर्थ "गंगा माता" है । "मी" और "मे" का किरात भाषा में "माता" अर्थ-होता है । "काङ्" मूलतः "कङ्" {कंगः > गंगः} का रूपान्तर है और उसी किरात-निषाद धातु से निकला है, जिससे "गंगा" शब्द आता है । गंगा का मौलिक अर्थ आज भी हिमालय की भारतीय किरात भूमि में "नदी" ही होता है, और अनेक नदियों के नाम से इसके जुडने का रहस्य यही है । गंगा कंग किआङ् काङ् आदि ध्वनियां हिमालय और हिमालय की पृष्ठभूमि तिब्बत से निकली नदियों के नाम से युक्त पाते हैं - याङ्टी, सीकिआङ्, मीकाङ् आदि ।"[2] चीनी जनश्रुतियों के अनुसार मीकाङ् नदी की दक्षिण उपत्यका में भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात हुआ । भारतीय पुराणों में मान-ख्मेर वंशीय कुलीन लोगों केलिए नागवंशीय क्षत्रिय तथा जन साधारण को निषाद कहा गया है । नदी और आदिम निषाद-किरातों के बीच का गहरा संबन्ध यहाँ प्रत्यक्ष है ।

आगले निबन्ध'जावा के देशी पुराणों से'में रायजी हमें जावा के देशी पुराणों की ओर ले चलते हैं । "भारतीय पाठक केलिए जावा के देशी पुराण अधिक आकर्षक विषय हैं । इन देशी पुराणों में, भारतीय नामों और सन्दर्भों के बावजूद, स्थानीय लोकसंस्कृति का प्रबल आरोपण है और इनका स्वाद ही भारतीय पुराणों से कुछ

---

1. जलमाता मेनाम, कु. राय, पृः 81.
2. मीकाङ् गाथा, कु. राय, पृः 87.

भिन्न हो गया है । हम यहाँ पर जावा के देशी पुराण "पिंगेलरन" और "माणकमय" के आधार पर सृष्टिकथा को प्रस्तुत कर रहे हैं ।"[1] इस निबन्ध में यवद्वीप में महामेरु लाने का जो प्रसंग आया है वह हमारे क्षीरसागर मंथन से युक्त है । रायजी सूचना देते हैं कि हो सकता है कि अमृत मंथन और समुद्र से रत्न-प्राप्ति की कथा समुद्र सहवासिनी भारतीय जनजातियों से आयी हो । यह कथा मूल द्राविड़ या निषाद नस्ल की आदिम अनुस्मृतियाँ हो सकती हैं । पिंगेलरन और माणकमय पुराण में प्रतिपादित यवद्वीप के उद्धार की कथा जावा में प्रचलित है । विष्णु द्वारा यवद्वीप का शासन संभालना, धर्म की स्थापना करना, रहन-सहन और शिक्षा की व्यवस्था करना आदि इस निबन्ध में प्रतिपादित है ।

बाली द्वीप की संस्कृति पर भी निबन्धकार दृष्टि डालते हैं । "बाली द्वीप का एक ब्राह्मण" में वे "बाली" नाम की सार्थकता को व्यंग्यपूर्ण दृष्टि से देखते हैं । जवा कुसुम शब्द जिस प्रकार "जावा" द्वीप की अनुस्मृति जगाता है वैसे ही "बालो" या "बला" नामक कर्ण-आभूषण बाली द्वीप की । बाली द्वीप के ब्राह्मणों के मुख्य देवता शिवादित्य हैं । वैष्णवोपासना का रूप यहाँ आगम-प्रधान और तांत्रिक है अन्यथा भक्तिप्रधान नहीं । "वस्तुतः सारा आगम और तंत्र अपने मूल उत्स केलिए आदिम निषाद और किरात संस्कृतियों के ऋणी हैं और यह द्वीपान्तर उन्हीं संस्कृतियों का देश है जो आदिम काल में भारतीय धर्म साधना के आगम का स्रोत रही है । अतः यहाँ पर आगम प्रधान वैष्णावतार लोकप्रिय हो यही स्वाभाविक है । भक्ति द्राविड़ों की देन हैं तंत्र और आगम निषादों और किरातों का ।"[2] बाली की देवता देव नहीं, देवी थी । जावाबाली और द्वीपान्तर में भी प्रेतपूजा का ज़ोर है । व्योम भी उनकी एक प्रधान देवता है ।

"क्षीर सागर में रतन डोंगियाँ" में निबन्धकार स्थापित करते हैं कि क्षीर सागर की कल्पना द्राविड़ों और निषादों से आयी है । "क्षीर" शब्द किसी आर्येतर द्राविड़ या निषाद शब्द का स्थान्तर है और यह शब्द "चेर" हो सकता है तथा "क्षेर" भ

---

1. जावा के देशी पुराणों से, कु. राय, पृः 100.
2. बाली द्वीप का एक ब्राह्मण, कु. राय, पृः 116.

"धरती के आदिम युग में दक्षिणपूर्व एशिया के विविध द्वीप आपस में जुड़े थे, और यह क्षेत्र प्रशान्त समुद्र और महोदधि (हिन्द समुद्र) के बीच का सागर क्षेत्र है । ये सारी बातें संकेत करती हैं कि दक्षिण-पूर्व एशिया का समुद्र ही लक्ष्मी को जन्म शय्या और मंथन का क्षेत्र है और यही पौराणिक "क्षीर सागर" है ।"[1] क्षीर सागर ही लावण्य समुद्र है और उसके मंथन से शोभा और श्री की अप्सरा भगवती का जन्म होता है । भारतीय समुद्री व्यापार का इतिहास अत्यन्त पुराना है । आर्यों के आगमन के पूर्व ही, द्राविड़ वंशीय सैन्धव सभ्यता के दिनों से ही भारत समुद्र-अभियात्री राष्ट्र है । रेशम पथ (थलमार्ग) और वरुण पथ (जलमार्ग) से भारत-लक्ष्मी का आगमन होता है । हमारी समुद्र-संपत्ती ही भारत की लक्ष्मी है । इसके मूल उद्गम का चित्र यहाँ रायजी ने खींचा है ।

"यायावर कौण्डिन्य" शीर्षक निबन्ध में जो कौण्डिन्य नामक घुमन्तू ब्राह्मण का चित्रण है वह कम्बोजीय देशी पुराणों का भारतीय नायक है । समुद्र एक बडा भारी कवि है जो अपनी गहराई में बड़वामुखी वेदना का भोग करता है ।" "यह समुद्र निरन्तर बेचैन कौण्डिन्य है, जिसे अठारह वर्ष पूर्व उसके गुरुकुल के उपाध्यायों ने जंबूद्वीप[2] से निर्वासित कर दिया था । अठारह वर्षों में राहु-केतु अपना एक चक्कर पूरा करते हैं । आज वे उसी राशि में स्थित हैं, जिसमें वे उस काल-खण्ड में थे । शायद यही कारण है कि यह कौण्डिन्य अर्थात् मैं, पुनः विकल हो उठा हूँ, पुनः किसी यात्रा के समारंभ की स्थिति में आया हूँ ।"[3] निबन्धकार सुन्दर मुखों की तलाश में निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं । समुद्र का भावमय वर्णन इसमें स्पष्ट है ।

निबन्धकार इस संग्रह में मन रूपी नौके पर सवार होकर विभिन्न घाटों पर उतरते हैं तथा पाठकों को दिखाते भी हैं । "मन पवन की नौका" नामक निबन्ध नौकावालों की जीवन-रीति को प्रस्तुत करता है । इसमें यह भी स्पष्ट करते हैं कि लोकसंस्कृति तो एक ही है, जो विभिन्न वेष-भूषा से भिन्न-भिन्न स्थल बिखेर रही है ।

---

1. क्षीर-सागर में रतन-डोंगियाँ, कु. राय, पृः 126.
2. जंबूद्वीप : - पुराणों में वर्णित सप्त द्वीपों में से एक, जो लवणसमुद्र के मध्य स्थित है । (पौराणिक सन्दर्भ कोश)
3. यायावर कौण्डिन्य, कु. राय, पृः 148.

"सिन्धु पार के मलय मारुत" शीर्षक निबन्ध में रायजी प्रत्येक वर्ग की अन्तः संस्कृति को जगाने का प्रयत्न करते हैं । एक आइडिया और भावधारा तथा मानसिक उत्तराधिकार का प्रतीक अगस्त्य और भारत सावित्री लोपामुद्रा "अगस्त्य तारा" शीर्षक निबन्ध में प्रत्यक्ष होते हैं । "एक नदी इरावदी" में किन्नर-किरात वर्गों का परिचय है । "जलमाता" मेनाम शीर्षक निबन्ध निषाद वर्गों केलिए हैं । दक्षिण-पूर्व एशिया को नदी मीकाङ् पर "मीकाङ् गाथा" एक निबन्ध के रूप में रायजी ने रच दिया है । "जावा के देशी पुराणों से" शीर्षक निबन्ध में स्थानीय लोकसंस्कृति का आरोपण भारतीय नामों और सन्दर्भों के बावजूद किया गया है । "बाली द्वीप का एक ब्राह्मण" में बाली द्वीप की संस्कृति हो झलकती है । "श्रीर सागर में रतन डोंगियाँ" निषादों और द्राविड़ों को क्षीर सागर को कल्पना प्रस्तुत करता है । "यायावर कौण्डिन्य" में कम्बोजीय देशी पुराणों का परिचय दिया गया है । इसप्रकार इन निबन्धों में दक्षिण-पूर्व एशिया के लोक-वर्गों का विस्तृत परिचय देकर पाठकों का ध्यान विभिन्न क्षेत्रों पर खींचते हैं । इसमें मुख्यतः निषाद और किरात वर्गों के वासस्थान की व्यापक विवेचना है । इन वर्गों के विभिन्न नाम और उसकी उत्पत्ति तथा विकास का परिचय सारे के सारे निबन्धों में है । इन गंभीर तथ्यों पर भी उनको भाषा का प्रवाह निरन्तर होता रहता है । नदी और समुद्र के द्वारा विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन रायजी की विशेषता है । जैसे संस्कृति, संपत्ती की व्यवस्था, सामाजिक सुधार आदि । रायजी के मन रूपी नौका निरन्तर प्रवाहित है और विभिन्न घाटों पर उतरते भी । यह रायजी की वैयक्तिक प्रतिभा का प्रमाण है ।

पर्ण मुकुट

वर्तमान समाज ने मनुष्यता को अस्वीकृत कर दिया है । उन्हें मानव के स्थान पर अनुयोज्य मशीनें हैं । मानव कला और कल्पना को भी अस्वीकृत कर दिया है । सब कहीं बर्बरता का प्रचार है । ऐसे सन्दर्भ में साहित्य का उस पर क्या स्थान है, इसको व्यक्त करते हैं निबन्धकार "पर्णमुकुट" संग्रह द्वारा । साहित्य में प्रासंगिकता का कार्य केवल काल-क्रम की दृष्टि से नहीं आंका जा सकता, बल्कि मूल्य-बोध से माना जा सकता । निबन्धकार पाठकों को सुझाते हैं कि हमारे वर्जित मूल्यों पर फिर एक दृष्टि डालें । मूल्यहीन समाज को विकृति के कारण ही एक अव्यक्त पीढ़ी का जन्म हुआ है । इस समाज में व्याप्त क्रोध और भय को दूर करने का प्रयास है यह निबन्ध ।

हमें इस पृथ्वी के घास-पात, फूल-पत्तों के साथ परिचित कराते हैं । इस संग्रह की विशिष्टता उपर्युक्त बातों पर निर्भर है । समाज के कई अंशों से नयी पीढ़ी बिलकुल अपरिचित है । मूलतः इसका कारण अस्वस्थ नव-मानव है, उसके पास इन कार्यों को समय नहीं । फलस्वरूप समाज के अस्तित्व में ह्रास हो रहा है । भीड़ के बीच भी मानव अकेला हो जाता है । सभी साहित्यिक कृतियाँ इसकी ओर ध्यान करती हैं, लेकिन स्थिति में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता, इसकेलिए और भी प्रयास करने के प्रयत्न में है निबन्धकार ।

हेमन्त प्रज्ञा-बोध की ऋतु है, जिसके परिवेश में पड़कर यह प्रज्ञा गहरे ध्यान-योग प्रवेश करती है । "झरते क्षणों का पर्ण मुकुट" इस संग्रह का पहला निबन्ध है, जिसमें हेमन्त रूपी बोध को व्यक्त करते हैं । वास्तविक बोध का अनुभव ध्यान के मध्य होता है और इस ध्यान के महत्व को वेदान्त और जेन दोनों स्वीकार करते हैं । "ज़ेन" "ध्यान" का ही रूपान्तर है तथा भारतीय "ध्यान" का जापानी नाम है ज़ेन । अन्तर्मुखी होने की क्षमता मानव के मानसिक संस्थान की एक सामान्य विशिष्टता है, जिसके लोप से जीवन में चंचलता, विकलता और पाशविकता की वृद्धि होती है । यह क्षमता हमें पशुत्व से दूर करती है । यह ज़ेन अर्थात् ध्यान मौन का ही संवाद है तथा मौनता के मध्य उपलब्ध "बोधि" या आस्वादन है । ज़ेन या ध्यान स्वयं में एक दर्शन नहीं, बल्कि एक चिन्तन-पद्धति और कर्म-पद्धति है जो हमारे प्रत्येक कर्म को "बोध" और आस्था से जोडे रहती है ।"[1] ना-धर्मी जीवन बितानेवाले पलायनवादी से बिलकुल भिन्न है ज़ेन । ज़ेन में एक प्रकार की सहजता और मानसिक संयम है । क्षण की महत्ता पर भी रायजी हमारा ध्यान खींचते हैं । जो है वह क्षणिक है । इस "क्षणिकम्" के मध्य जीना है । "क्षण के बोध को प्रगाढ़ करो, गंभीर करो, संपृक्त करो । क्योंकि इसी क्षण-बोध के माध्यम से "शील" का पान करना है और शील को रचना है, सौन्दर्य का पान करना है और सौन्दर्य को रचना है, सुख का पान करना है और सुख को रचना है ।"[2] यहाँ रायजी के सौन्दर्य-बोध का चित्र है ।

---

1. झरते क्षणों का पर्ण मुकुट, कु. राय, पृः 9.
2. वही - पृः 9.

दूसरे निबन्ध "मधु-माधव पुनः पुनः" का विषय पुराने और नये लोकगीत हैं । इन दोनों की तुलना पर रायजी को ऐसा लगता है कि सचमुच आधुनिकता का अर्थ-बर्बरता का पुनरुत्थान होता है । वे स्मरण करते हैं कि उनके गाँव में आज जो होलोगीत प्रचलित है प्रायः अश्लील होते हैं । वैष्णव लोग फाल्गुन मास में कृष्ण-राधा को प्रधानता देकर अनेक लोकगीत और लोकनृत्यों की सृष्टि करते हैं । उन लोकगीतों का वर्णन यहाँ विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है । एक उदाहरण -

पियरी सोहे, पियरी सोहे
अरे, पियरी सोहे, देखि जरे नयना, पियरी सोहे !
अपना बलमुआ से मुखवो न खोले ली
आन क' बलम,
भला, आन क' बलम, भरि-भरि बयना
पियरी सोहे !"[1]

आदिम-मन के नाश का चित्र इसमें व्यक्त है ।

"आभीरिका" शीर्षक तीसरे निबन्ध में रायजी के कवि मन का प्रकाश है । "संध्या तो भय और रहस्य की वेला है ही । मैं इस छवि का भरपूर आनन्द उठाने केलिए खडा हो जाता हूँ, क्योंकि चलते-चलते यह आस्वादन संभव नहीं ।"[2] इसमें निबन्धकार, "अहीर" जातियों के उद्गम ढूँढ़ने के प्रयत्न में है । उनके मत में "अहीर" मूलतः गोप हैं, कालान्तर में वह मिश्रित जाति हो गई । गोपों का बालगोपाल और राधा का समन्वय यादवों के वासुदेव कृष्ण से हुआ । यह उनके लोकगीतों में देख सकते हैं । यादव गुजरात और मथुरा मण्डल में प्रतिष्ठित थे । "गुजरात" "गुर्जर" या "गुज्जर", "गड्डर" शब्द से संबन्धित है जो मूलतः गोपवेश का द्योतक है । भारत में जातियों का संगठन पेशे पर आधारित रहा है । अहीरों की अपना कोई लोकगीत नहीं था चैता, घांटो, होली, धम्मार, कजरी, मलार आदि लोकगीत और तुलसी के रामायण का गान उनकी लोकसंस्कृति के मुख्य अंग थे । हरियाना से लेकर बिहार तक यह लोरिक

---

1. मधु-माधव पुनः पुनः, कु. राय, पृः 17.
2. अभीरिका, कु. राय, पृः 27.

गाथा गाये जाते हैं । सूरदास तथा व्रज के अन्य कवियों ने व्रज के गोपों को "अहीर" ही माना है । अभीर लोकगाथा अर्थात् लोरिकगाथा के रूप में आज अनेक परिवर्तन हुए हैं । अभीर-मन पुरुष प्रधान हैं । लोकसंस्कृति की दृष्टि से अहीर अब भी एक जीवित जाति है ।

रात्रि के तृतीय याम में योगी और गायक जागता रहता है । "ढ़लती रात में मालकोश" में निबन्धकार तृतीय याम में मालकोश राग का आस्वादन करते हैं यह राग शिशिर ऋतु का असल राग है -

"आरक्त वर्ण : धृत रक्तयष्टि
वीरः सुवीरेषु कृतः प्रवीर
वीरैधृतः वैरि कपाल माला
मालामतो मालबः कौशिकेयः ।"[1]

मालकोश राग के गीत का अर्थ जो भी हो, किन्तु उसकी ध्वनि का प्रभाव आह्वानमय और उत्साहपूर्ण है । भारतीय संगीत की विशिष्टता पर ध्यान देना ही यहाँ निबन्धकार का उद्देश्य है । "भारतीय संगीत का स्वभाव ही ऐसा है कि तन्मय होकर एकान्त में इसे सुना जाय तो बड़ा ही सटीक वेधता है और हमें अन्तर्मुखी कर जाता है । ...भारतीय संगीत मन की गहरी गुह्य घाटियों में प्रवेश करके सारे मस्तक और स्नायु-मण्डल के कोने-अँतरे में बाहर-भीतर सर्वत्र एक दिव्य अनुभव का आवेश सा भरता है ।"[2] रायजी यहाँ लोक गीतों पर रम गया है ।

स्वर या मेलडी सहज स्वाभाविक है । भारतीय राग तो पशु-पक्षी और प्रकृति के स्वरों का विकसित रूप ही है । "अर्धरात्रि के राग-यक्ष" भारतीय राग पर केन्द्रित है । स्वर का मूल रूप अशिक्षित कंठ से उद्भूत हुआ । भारतीय संगीत के कई रागों का नाक भी यह सूचित करते हैं कि इनके सुर मूल रूप में अशिक्षित जन-जातियों के

---

1. ढलती रात में मालकोश, कु. राय, पृः 39.
2. वही - पृः 42-43.

कंठों से जन्म लिये गए हैं, जैसे आभीर राग, नटराग, कहखा आदि । "भारतीय संगीत शब्द-ब्रह्म की शक्ति अर्थात् परमा प्रकृति के सृष्टिगत उद्घाटन की अनुकृति हो जाती है । इसका संपूर्ण राग-विस्तार जिस अनुभव को देता है वह है आत्मिक अनुभव जिसे योगियों ने ब्राह्म-सुख कहा है । इसका सुर-विस्तार जिसे व्यक्त करता है वह है "ब्रह्म" । वास्तव में भारतीयों ने अपने वेदान्त दर्शन को गान-चित्रकला-नृत्य-नाद्य और रस-सिद्धान्त के माध्यम से भी प्रतिष्ठित किया है ।"[1] भारतीय संगीत का लक्ष्य आश्रित भेद है मार्ग और देशी । "मार्ग" मोक्ष तक जाने का पथ है तो "देशी" मानवीय धरातल से संबन्धित है । रागों के मूल उद्गम को समझने का प्रयास इसमें देख सकते हैं ।

"जीव-हंस की रात्रि-प्रार्थना" में निबन्धकार यह व्यक्त करते हैं कि रात्रि तमस का प्रतीक नहीं, बल्कि तमस के काले आवरण में निहित विश्राम, शान्ति, क्षमा, आरोग्य और सुख की मंगलमय व्यवस्था का प्रतीक है । उसका हृदय ज्योति का गर्भगृह है । "रात्रि तथा दिवस दोनों परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं । यह सब मान लेने पर भी रात्रि का कर्मक्षेत्र भिन्न है और दिवस का भिन्न, परन्तु इन दोनों भिन्न कर्मक्षेत्रों का लक्ष्य एक ही है : मनुष्य को पूर्णता तथा सुख की ओर प्रेरित करना ।"[2] यहाँ रायजी का कवि-मन देख सकते हैं और भाषा काव्यात्मक और भावमय है ।

सूर्य और अतिसूर्य" में सूर्य रूपी कवि का चित्र है । सूर्य एक सधे हुए छंद में दिवस, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर के कालचक्र की रचना करते हैं । अपनी असंख्य किरण-कन्याओं को भेजकर सूर्य सृष्टि को सतरंगी मायापट का रूप देते हैं । समूचे भारतीय साहित्य ही सूर्यप्रधान है । रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत इन तीनों में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सूर्य-तत्व ही प्रमुख है । सूर्य के बारह रूप हैं, जो बारह मासों में निहित हैं । श्रीमद्भागवत का सूर्य अतिसूर्य या परासूर्य है और यह साक्षात् परमात्मा ही है, जिसके चक्षु सूर्य-चन्द्र और अग्नि हैं तथा प्रसविनी शक्ति सविता और उपासना मंत्र सावित्री है । "यह अव्यक्त प्रकृति ही परमाप्रकृति का महत् या प्रधान रूप है, जिसपर

---

1. अर्धरात्रि के राग-पक्ष, कु. राय, पृः 49.
2. जीवहंस की रात्रि-प्रार्थना, कु. राय, पृः 62.

पुरुष या जीवात्मा का प्रतिबिंब पड़ चुका है और जिसका स्थान्तर होता है अहंकार में जो व्यक्तित्व-रचना का केन्द्र बिंदु है । अतः अतिसूर्य है पुरुषोत्तम या परमात्मा और सूर्य है अस्मिता या व्यक्तित्व की जननभूमि ।"[1] भाषा में भावमयता और रसात्मक सौन्दर्य है ।

अगले निबन्ध "सूर्य कवि है : सूर्य नायक है" में सूर्य को सबसे प्राचीन कवि और सौन्दर्य का आदिसृष्टा कहा गया है । रायजी के मत में मनुष्य ही नहीं विधाता भी अपना काव्य पूर्व दिशा में प्रति प्रातः सूर्य के पृष्ठ पर लिख जाता है । सौन्दर्य रूप और रंग में निहित है और इन दोनों का स्रोत सूर्य ही है ।वे उत्तर भारत में प्रचलित सूर्यव्रत का परिचय भी इस निबन्ध द्वारा देते हैं, जिसमें पुरुष या नारी सूर्य की उपासना करते हैं । "असम-बंगाल में एक सूर्यव्रत चलता है द्विज और अद्विज कन्याओं में । उस व्रत का कोई पौराणिक आधार नहीं । वह शुद्ध लोकायत परम्परा की उपज है, उसके पीछे देशी कृषि संस्कृति की भाव-भूमि है । इसमें सूर्य एक प्रेमी किशोर है और सारी कथा का परिवेश भारतीय सामाजिक जीवन के संदर्भों द्वारा रचा गया है जिसमें "अलौकिकता" या "देवत्व" का कहीं नाम-निशान नहीं ।"[2] रायजी ने पौराणिक संदर्भ में सूर्य की जो महिमा थी उसे हमारे सामने प्रस्तुत किया है ।

प्रातः की "भासा" या भास्वरता में सारी सृष्टि अपने को अभिव्यक्त कर रही है और सभी अपने-अपने अस्तित्व का पुनराविष्कार कर रहे हैं । निबन्धकार "तस्य भासा सर्वं इदं विभाति" में भीतर की इस भास्वरता को स्पष्ट करते हैं । "व्यक्ति में यह "भासा" आत्मसत्ता की आधारभूमि है और समूह में सामूहिक प्रज्ञा की, जिसका स्थूल स्थान्तर सभ्यता और संस्कृति की संज्ञाओं से पुकारा जाता है । यह भासा हमारे भीतर अभिव्यक्त होने केलिए निरन्तर विकल रहती है ।"[3] भोजपुरी किसानों पर भी दृष्टि डालते हैं । उनमें परिश्रम की भासा छिपी है । वे अपने गाँव में वर्गद्विष और

---

1. सूर्य और अतिसूर्य, कु. राय, पृः 70.
2. सूर्य कवि है : सूर्य नायक है, कु. राय, पृः 77.
3. तस्य भासा सर्वं इदं विभाति, कु. राय, पृः 85.

सड़ी परम्पराओं के कारण कैद रहते हैं, लेकिन बाहर जाते हैं तो उनके परिश्रम का रास्ता स्पष्ट हो जायगा । इसका कारण आर्थिक से ज़्यादा बौद्धिक और मानसिक है । जब तक मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन की जकड़बन्दी, अवरोध के प्रति ऐसी आसक्ति और खुलेपन का अभाव समाप्त नहीं होते हैं, तब तक भोजपुरी गाँव श्रीहीन रहें, ऐसा है रायजी का विश्वास । समाज की उन्नति केलिए मानसिक और बौद्धिक सन्तोष होना चाहिए । निबन्ध भोजपुरी वातावरण से भरा है ।

धैर्य तो जीवन का स्रोत है । आज की इस स्थिति में अस्तित्व से परम अस्तित्व की ओर जाना समीचीन है । नास्तिक की चिन्ता "अस्तित्ववाद" पर आकर समाप्त हो जाती है परन्तु आस्तिक एक पग आगे जाकर परम अस्तित्व तक पहुँचते हैं । महाभारत भारतीय अस्तित्ववाद को व्यक्त करता है, जो ट्रेजड़ी होते हुए भी नास्तिक दर्शन से सर्वथा भिन्न है । "ओ अभय हस्त, ओ दक्षिण पाणि" में मानव संस्कृति की रक्षा करने का प्रयास करते हैं । यह तो भक्ति, विश्वास द्वारा संभव हो सकता है । मनुष्य की सारी मानसिक समृद्धि का स्रोत श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, प्रणय आदि ही हैं ।

"उतरो जय बन, उतरो रथ बन" में रायजी स्पष्ट करते हैं कि घोड़ों का वैदिक-काल में जो स्थान था वह अब नहीं । बाणभट्ट ने अपने "हर्षचरित" में घोड़े का विस्तृत सजीव वर्णन किया है । वे अश्वमेध करने-करानेवालों में थे अर्थात् आर्यों की वंशपरंपरा में थे । अतः घोड़े के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक ही है । बाणभट्ट का घोड़ा रोमान्टिक घोड़ा है, जो नायिकाओं को अपनी पीठ पर वहन करता है । घोड़े के अन्य अनेक नाम का परिचय भी निबन्धकार इस निबन्ध में देते हैं । उसकी शक्ति या वेग के कारण "बाण" नाम मिला तथा आशुगति से अश्व भी और शीघ्रगति होने से इसको संज्ञा तुरंगम् हुई । हरि अश्व से ही हर्यश्व, हय, हस्प, हार्स आदि बन गया । शब्दों की विस्तृत व्याख्या रायजी की विशेषता है । विषय को आगे बढ़ाने में शब्दों की व्याख्या सहायक है, जिससे कोई रुक नहीं होता । यह यज्ञ-शक्ति का प्रतीक है । "यह घोड़ा वस्तुतः कवियों की कल्पना-शक्ति और प्रतिभा का घोड़ा है जो कभी "दधिक्रा" और लाक्ष्य रूप धारण करता था तो अब बाणभट्ट के युग में इन्द्रायुध बनकर बड़ी मौज में आकर महाश्वेताओं और कादम्बरियों से जान-पहचान कर बैठा है । इसप्रकार इसने

धीरोदात्त, धरोद्धत रूप को छोड़कर धीर ललित रूप धारण कर लिया ।"[1] अतीत हमारी मनोभूमि का अंग बन चुका है । आज मनुष्य को साहस करुणा और श्रम की आवश्यकता है । "घोड़े, घोडे, अरुणवर्ण घोड़े ।" में भी घोड़ा-पुराण है । यह सृष्टि की अत्यन्त प्रियदर्शन वस्तु है । नारी, आग और अश्व कभी भी अपवित्र नहीं होता, बल्कि इन तीनों का मुँह यज्ञ-मुख है । घोड़ा पालने की रीति आर्यों ने दी थी । मनुष्य जाति के इतिहास के पन्नों पर, शताब्दी दर शताब्दी धावमान ये घोड़े जीवन और जिजीविषा के प्रतीक हैं । "इतिहास की गति चक्रिय भी है और अतीत के अच्छे या बुरे मूल्य आकृति बदलकर बार-बार प्रकट होते रहते हैं - "सृष्टि-स्थिति-प्रलय" के निरन्तर घूर्णित चक्र के कारण ।"[2] "घोड़ा" यहाँ मानव-शक्ति का प्रतीक है ।

"मैं तालपत्र, मैं भोजपत्र" सरस्वती पूजा का निबन्ध है । निबन्धकार विश्वास करते हैं कि वर्णमाला ही उनकी सांस्कृतिक अस्मिता की माँ, जननी और विद्या-महारानी है । आज सरस्वती पूजा में पोथी के साथ कलम, दवात को भी पूजा होती है । निबन्धकार सरस्वती पूजा के दिन अपने बचपन की स्मृतियों में डूबते हैं । "पण्डित का घोड़ा तो उसकी विद्या है, जो उनके भीतर है, जो हज़ार-हज़ार अश्व-शक्तियोंवाला दिग्विजयी वाहन है और अगम वैतरणी की रेत को भी टपा-टप लाँघ जाता है । विद्या का सवार एक अप्रतिहत सवार है, विद्या एक दुर्गम पंथ पर चलनेवाला मल्लबाजि है, एक-एक अक्षर छन्दस गरुड़ है ।"[3] सरस्वती पूजा पर आधारित लोकविश्वासों का वर्णन भी इस निबन्ध में प्रस्तुत है । कलम की उत्पत्ति कैलास पर हुई । गणेशजी को खेलने केलिए बड़ी बहन सरस्वती ने कलम का आविष्कार किया । इसके द्वारा गणेशजी अच्छे लिपिक बने और महाभारत लिखने का कार्य भी संभाल किया गया । विभिन्न कलम का प्रतिपादन भी करते हैं । कागज़ को उत्पत्ति मृत्पट्टिका तथा शिलालेखों से हुई । पुस्तक बन कर जीना माने शताब्दी व्यापी महाजीवन को जीना है । इसमें लोक विश्वासों की झलक है ।

---

1. उतरो जय बन, उतरो रथ बन, पृ: 110.
2. घोड़े, घोड़े, अरुणवर्ण घोड़े, कु. राय, पृ: 130.
3. मैं तालपत्र, मैं भोजपत्र, कु. राय, पृ: 137.

"ईस्टर, मधुमय ईस्टर" में एक खरगोश की हत्या देखकर निबन्धकार के मन में अनेक अन्य घटनाओं का स्मरण आता है । "अपने निजी जीवन की घटनायें और मनुष्य जाति के इतिहास की अनेक घटनायें, जिन्हें मैं ने भोगा है अथवा मनुष्य जाति ने अपने विगत पाँच हज़ार वर्षों के गौरवशाली इतिहास के मध्य भोगा है ।"[1] लोकायत परंपरा में खरगोश और देवशिशु यीशु के प्रतीकों का सन्दर्भ आते हैं । लोक कथा के अनुसार ईस्टर के दिन यह शशांक का मृतदेह सदेह चन्द्रमंडल में गया । आज भी चन्द्रमा में इसका दर्शन कर सकते हैं । इसका आधार ईशु के सदेह स्वर्ग गमन है । ईस्टर शब्द के मूल में है "ओस्तर" या "ओस्त्रा" §ट्यूटानिक भाषा का§ जिसका अर्थ वसन्त की देवी है । यह शिशिर की मृत्यु और वसंत के साथ नये संवत्सर के जन्म का उत्सव था ।

"दिवस सप्तह" शीर्षक निबन्ध में भारत में सप्ताह की धारणा का उद्भव कब से हुआ , इसे समझने का प्रयास है । निबन्धकार के मत में सप्ताह के इन नामों और दिनों के बीच आकाश की महाशक्तियों द्वारा स्थापित निर्दिष्ट संबन्ध है । वे कहते हैं कि गुप्तकाल के शिलालेखों में सप्ताह के बारे में लिखा गया है । लेकिन इससे शताब्दियों पूर्व ही सप्ताह की धारणा देश में आयी होगी । महाभारत या अन्यग्रंथों में अयन-पक्ष-मास और तिथि का ही उल्लेख है । हिन्दू पंचांग में सप्ताह के स्थान पर तिथि और पक्ष का ही महत्व है । सप्ताह को इतना सर्वव्यापी महत्व अंग्रेज़ी राज्य में मिला ।

लोक रसवतीपर भी निबन्धकार अपना ध्यान खींचते हैं । "सत्तूखोर आर्य" में कुछ भोजन-चर्चा है । लोक रसवती में दाल-भात-रोटी-शाक-सब्जी-खिचड़ी-सत्तू-दाना-चबेना आदि आते हैं । इनमें सत्तू और खिचड़ी प्रमुख है । "सत्तू प्रायः दीनतम शैली में ही खाया जाता है । परन्तु इसी बात से इसकी महिमा कम नहीं हो जाती । सत्तू हमारा §भोजपुरी क्षेत्र का§ क्लासिकल आहार है कृष्णसार मृग, हरिष्यान §पायस§ और पुरोडाश §मलीदा§ की तरह यह वैदिक भोजन है ।"[2] जेठ-वैशाख की लू भरी दुपहरी में सादे पानी में नमक-सत्तू का मिश्रण भोजपुरी हार्लिक्स है । खिचड़ी में

---

1. ईस्टर, मधुमय ईस्टर, कु. राय, पृः 149.
2. सत्तूखोर आर्य, कु. राय, पृः 166.

नमक हल्दी देकर काम चला सकते हैं । गोधूम आर्य शब्द है, चावल निषाद-शब्द, धान द्राविड़ भाषा का शब्द है । आर्य को खाद्य-संस्कृति का अर्थ ही है "सत्तू-आटा" संस्कृति जबकि आर्येतर खाद्य-संस्कृति है चावल संस्कृति । वैदिक ऋषि अन्न की चर्चा करते तो उसका लाक्षणिक अर्थ-अन्नवती ज्योति होता है । प्रत्येक क्षेत्र को एक क्षेत्रीय खाद्य-संस्कृति होती है ।

"एक प्रति तीर्थंकर की कथा" नियतिवादी मंख गोशालक की कथा है, जो घूम-घूमकर जीवन बिता करता है । "मंख" शब्द का संबन्ध "मक्क" (परिव्रजन करना) या "मक्ष" (घूम-घूमकर संचय करना यथा "मधुमक्ष" या मधुमक्षिका) से है । अतः मंख पुरुष मधुकरी करके जीता है । मंख गोशालक का बाहरीपन एक स्वयं आरोपित मानसरोग था । भगवान महावीर ने उसे अचल ध्यान, अचल मन तथा अचल कायायोग का उपदेश दिया था । लेकिन सब बेकार था ।

"पुनः हेमन्त की संध्या" में इस समाज का ही चित्र है । "जनतंत्रों के विनाश के साथ-साथ मनुष्य का सरल, उदार एवं सहज जीवन भी समाप्त हो गया । फलतः धन और अधिकार का केन्द्रीकरण हुआ कुछ व्यक्तियों के हाथों में । उस अनुदार सर्वभक्षी प्रणाली का जन्म हुआ, जिसका चरम प्रस्फुटन हुआ पूंजीतंत्र और अमलातंत्र में । उनका यह द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र एक लचीली सर्प-कुंडली है । उसके अनुसार मनुष्य का अर्थ है व्यक्तित्वहीन कबन्ध ।"[1] भारतीयता के मूल में जो उदात्तता, सरलता और सहजता थी उसे फिर से स्थापित करने का प्रयास इसमें देख सकते हैं ।

इन निबन्धों पर दृष्टिपात करने पर हमें मालुम होता है कि धरती के विभिन्न विषय निबन्ध का रूप धारण कर लिया है । पहले निबन्ध में ध्यान या ज़ेन, बोध का परिचय है । मन की सहजता और अन्तर्मुखी क्षमता को पुष्ट करने का प्रयास है । अगला निबन्ध "मधु-माधव पुनः पुनः" में भोजपुरी क्षेत्र के विभिन्न लोकगीतों का वर्णन है, जो किसी ऋतु-त्योहार पर आधृत है । "अभीरिका" अहीर जातियों को व्यक्त करते हैं । अहीरों के माध्यम से लोक संस्कृति का प्रकाशन है । "ढलती रात में मालकोश" में मालकोश

---

1. पुनः हेमन्त की संध्या, कु. राय, पृः 214.

राग की प्रधानता है । एकान्त में मालकोश राग के गीत का आस्वादन मन को आनन्दित करता है । भारतीय संगीत का उद्भव अशिक्षित जन-जातियों से हुआ, यह स्पष्ट करता है अर्धरात्रि के रागयक्ष । "जीव-हंस की रात्रि-प्रार्थना" में निबन्धकार तमस के अन्दर की ज्योति को ढूँढते हैं । "सूर्य और अतिसूर्य" में प्रकृति और परमात्मा का संबन्ध है । सूर्या एक प्राचीन कवि और सृष्टा भी है । "तस्य भासा सर्वं इदं विभाति" मन की भासा या भास्वरता को व्यक्त करते हैं । "ओ अभय हस्त, ओ दक्षिण पाणि" शीर्षक निबन्ध अस्तित्व से परम अस्तित्व की ओर जाने का उपदेश देते हैं । आगे दो निबन्धों में घोड़े की महत्ता का प्रदर्शन है । विद्या-प्रधान निबन्ध है "मैं तालपत्र, मैं भोजपत्र । "ईस्टर, मधुमय ईस्टर" में प्रतीक विधान है । खरगोश और ईशु के प्रतीक को व्यक्त करते हैं । सप्ताह का परिचय "दिवस सप्तह" में दिया गया है । "सत्तूखोर आर्य" में लोक रसवती की चर्चा है । एक प्रति तीर्थंकर की कथा" "द्वारा नियतिवाद पर व्यंग्य करते हैं । अन्त में निबन्धकार समाज की स्थिति पर दुःखित हो जाते हैं । "पुनः हेमन्त की संध्या" में जनतंत्र के विनाश पर वे चिन्तित हो जाते हैं । इसमें आर्येतर जातियों का मूल गुण और उनके अंधविश्वास तथा आचार-विचारों का व्यापक चित्र है । प्रतीकों के प्रयोग से भाषा गंभीर हो गई है । मानवीकरण अलंकार का प्रयोग है । प्रत्येक शीर्षक में भी भावात्मकता झलकती है । विभिन्न प्रकृति-बिंबों के सहारे रायजी ने भाषा को मूर्त बनाया है । लालित्य, रोचकता और आत्मीयता केलिए अनेक लोकबोलियों और वार्तालापों का प्रयोग किया है । ऋतु, नक्षत्र, प्रकृति, मानव आदि का वर्णन चित्रात्मक है और इसमें जो मनोरमता है, वह अभिव्यक्ति की विशेषता है । ललित निबन्ध में लोक-संस्कृति की प्रमुखता इसलिए है कि उससे विभिन्न लोगों की भाषा और वार्तालापों से परिचित हो सकते हैं । विभिन्न अंचलों की विशेष रीतियों पर ध्यान दे सकते हैं । विशेषकर इन्हें पाठकों के सामने सीधे प्रत्यक्ष कर सकते हैं । निबन्धकार रायजी ने अपनी विशेष भाव-भंगिमा से इनको ललित निबन्ध की आकृति के अनुकूल प्रस्तुत किया है ।

लोक-शब्दों से हम अपरिचित होते हुए भी उनकी जीवन-रीतियों में मग्न होने पर ऐसी कठिनता महसूस नहीं होती । रायजी उन अपरिचित शब्दों की व्याख्या कहीं-कहीं देते हैं । इससे हम लाभ उठा सकते हैं । जैसे "सत्तू" जैसे भोजनों से हम अपरिचित हैं, उसके संबन्ध में एक ललित निबन्ध ही हमारे सामने रखा गया है । साहित्यास्वादन की शैली समझाने केलिए कई स्रोत इसमें आ गए हैं ।

कामधेनु

इस निबन्ध-संग्रह में निबन्धकार मानव के चैतन्य का विस्तार करने के प्रयत्न में हैं । उसके चित्त-गुण को, उसकी सोचने-समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तीर्ण करना ही साहित्य का मूलधर्म है । और उसका लक्ष्य मनुष्य के चिन्तन में मानसिक "ऋद्धि" और उसकी भाषा में शालीन भंगिमा तथा चित्त में सहज उदारता प्रतिष्ठित करना है । इसमें तेरह निबन्ध संकलित हैं । हमारी आदिम आर्येतर संस्कृति की महत्ता सब निबन्धों में व्यंजित है । हमारी संस्कृति का मूल आदिम आर्येतर संस्कृति ही है । निषाद द्राविड़, किरात, आर्य इन चारों का सम्मिलित रूप है अब की हमारी संस्कृति । हमारे प्राचीन विचार ही रूप और आकार बदलकर आज के मन-मन में विचरण करते हैं । शिव, विष्णु, देवी जैसे देवताओं का मूल भी आदिम आर्येतर जातियों में देख सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे सब के सब का मूल आदिम अनार्य वर्ग ही है । हर एक निबन्ध इसको प्रमाणित करते हैं । इन निबन्धों पर दृष्टि डालने से यह मालुम होता है कि रायजी ने प्रमुखतः हमारी उपासना पद्धति पर ही ज़ोर दिया है । वे पुराणों के द्वारा आदिम देवी-देवताओं के माध्यम से आदिम भारतवासियों को इनमें प्रत्यक्ष कराते हैं ।

प्रथम निबन्ध "कामधेनु" में कल्पना की नदी, संस्कार का पेड़ तथा विद्या की धेनु प्रस्तुत हैं । ये तीन मिलकर मानव के अस्तित्व को रचते हैं । यहाँ निबन्धकार अपने अनुभव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं - "एक नदी है जिसकी अनुगूंज मैं निरन्तर सुनता हूँ, जो मन को निभृत एकान्त में तरह-तरह के आख्यान कहती है और जब मैं थककर सो जाता हूँ यह कहकर कि प्यारी नदी, अब-तुम भी सो जाओ ।"[1] हमारी कल्पनाओं तथा संस्कारों की पुष्टि तभी संभव है जब हम विद्या-संपन्न होते हैं । इससे मन का विस्तार तथा सहज उदात्तता भी प्राप्त हैं । विद्या की यह धेनु हमारे नित अनुभवों के बीच विचरित है । "भावलोक का वह थल जहाँ पर कामधेनु खड़ी है, हमारे व्यक्तित्व की कोई सीमा नहीं, प्रत्येक व्यक्ति ही महाकाल का अंग हो जाता है, प्रत्येक व्यक्ति ही सर्ग के आदि बिंदु का समकालीन हो जाता है । उस काल के बिन्दु पर एक नदी बहती है

---

1. कामधेनु, कु. राय, पृः 1.

"कामधुनी" या "कल्प नदी" । उस मधुमती नदी में जो चाहो बस हाथ डालकर निकाल लो । वहाँ पर एक वृक्ष है कल्पवृक्ष । उस उदार वृक्ष से जो चाहो हाथ बढाकर तोड़ लो या चुन लो क्योंकि उसकी शाखा-शाखा पर तुम्हारी इच्छायें ही फलफूल बनकर खिलो हैं ।"[1] गौ पूजा को आर्यों के समय से महत्व प्रदान किया गया था । परन्तु आर्यों के आगमन के पूर्व भी गौ और वृषभ लोकायत देवता के रूप में पूजते थे । पूर्वी भारत में गाय की भगवती रूप में उपासना वहाँ के लोकायत धर्म का उत्तराधिकार है जिसके अनुसार गोमुखी दुर्गा ग्राम के जल स्थानों की देवी है । निबन्धकार प्राचीन काल में प्रचलित गोवध से विरोध प्रकट करते हैं । वे गोवध को मनुज-वध के रूप में देखते हैं । गौ की सरलता, सौम्यता और अकिंचनता के प्रति वे श्रद्धाशील हैं । नेताओं में गाँधीजी, किताबों में "रामचरितमानस", वनस्पतियों में हरी-हरी दूब, पशुओं में गाय, रसों में करुण रस, ये सब उन्हें एक ही बोध प्रदान करते हैं । इन सब में शान्ति, निष्कपटता, विनय, सेवाधर्म और साथ ही साथ महिमा तथा त्याग भी है । यहाँ लोकायत मन की महिमा और त्याग भावात्मक शैली में किया गया है ।

अगले निबन्ध "मायाबीज" में ईश्वर की सगुण अभिव्यक्ति का चित्रण है । "अस्ति" ईश्वर हो तो उसको गुण, दशा आदि का वाचन सगुण मायाजगतद्वारा होता है । इसप्रकार यह मायाजगत अस्ति का अस्तित्व है । इस तथ्य को अभिव्यक्त करने केलिए शैवों और शाक्तों ने ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, रां आदि बीज मंत्रों की सृष्टि की है । इनमें "ह्रीं" को मायाबीज कहते हैं । इनमें "ह्रीं" और श्रीं" अत्यन्त व्यापक बीजमंत्र हैं । "ह" आकाश के विस्तार गुण को प्रकट करता है और "श" वर्ण गुण को । "ह्रीं" ध्वनिखंड "ह्+र+ई+∴" ध्वनियों के योग से बनता है । "ह" आकाश या "आदि चिदाकाश", "र" है आनन्द, "ई" है शक्ति "तथा अनुस्वार (∴) है शक्ति की जागृति तरंग या उन्मेष का प्रतीक । "श्रीं" "श्+र्+ई+∴" ध्वनियों के योग से बनता है । "र" आनन्द से तरंगायित शिवरूपी चिद् आकाश "श" में शक्ति "ई" के उन्मेषयुक्त "∴" रूप का उत्प्रेरण होने से सृष्टिक्रम का स्पंदन या स्फुरण होता है और तब वर्ण-गुण-संपन्न, रंग-बिरंग बहुरंगी बहुरूपी मायाजगत का प्रस्फुटन होता है । इसमें शब्दों की व्याख्या प्रमुख है ।

---

1. कामधेनु, कु. राय. पृः 7.

भारत की देवी उपासना का आरंभ आदिम लोकायत संस्कृति से हुआ है । यह व्यक्त करता है "देवी" शीर्षक तीसरे निबन्ध ।· भारतीय देवी का प्रथम अवतरण श्यामावतरण था । यह कल्पना गोंडवाना प्रदेश (विंध्यारण्य और शोणांचल से जुडा हुआ प्रदेश) में हुई है । यह गोंड तो निषाद की ही प्रतिनिधि जाति है । विंध्यारण्य गोंडवाना, मालव भूमि और कर्णाटक तक आरण्यक भैंसों का अंचल था और महिषमर्दिनी देवी की मिथक का बीजांकुरण यहीं पर निषाद-कल्पना के मध्य हुआ होगा । महिष-मर्दन करने की शक्ति चंडी है । चंडी मूलतः शक्ति की देवी मानी जाती है । कृषि सभ्यता का प्रारंभ निषाद नारियों द्वारा प्रथमतः संपन्न हुआ था । इसलिए वह मातृसत्ता प्रधान थी । इसीसे अन्नपूर्णा महीमाता रूप की कल्पना का जन्म हुआ । "भारतवर्ष या पूरे एशिया में अब भी कृषिजीवी अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति ही चल रही है । "चंडी" की कल्पना प्रथम स्तर (मृगयाजीवी संस्कृति) की कल्पना है । "वनस्पती" और "महिषमर्दिनी" की कल्पना द्वितीय स्तर (गोप-संस्कृति) की कल्पना है । निषादों की महीमाता या अन्नपूर्णा रूपी किसी मातृका की कल्पना तृतीय स्तर के अर्थात् आदि कृषि से संबन्धित है । बाद में इसी कल्पना में आकर आर्यों की शांकभरी दुर्गा की कल्पना में जुड़ गयी और धर्म-साधना की समन्वय प्रक्रिया में आर्य मस्तिष्क ने चंडी, महिषमर्दिनी, बनस्पति मातृका, महीमाता, अन्नपूर्णा आदि सभी को एक देवता अर्था-आर्या-महाशक्ति के भीतर अंतर्युक्त कर दिया और उसकी मूर्ति को दशभुजा दुर्गा के रूप में गढ़ा ।"[1] हमारी समन्वित संस्कृति का सन्दर्भ यहाँ दर्शनीय है । सैंधव सभ्यता द्राविड़ सभ्यता थी तथा सिंधु धारी के उस इलाके की भाषा ब्राहुई है, जो मूलतः द्राविड़ बोली है । इसका रूप नागरिक है जो पितृसत्ता प्रधान है । रायजी व्यक्त करते हैं कि यदि आर्यमन पुरुष-प्रधान था तो निषाद-किरात मन प्रकृति-प्रधान और द्राविड़-मन पुरुष-प्रकृति उभय प्रधान रहा है । यहाँ निषादों की मातृ सत्ता प्रधान महीमाता अन्नपूर्णा का चित्र है ।

"श्रीतत्त्व : लोक और वेद में" शीर्षक निबन्ध से हम यह बात समझते हैं कि पौराणिक लक्ष्मी और वैदिक लक्ष्मी श्री में भिन्नता है । पौराणिक लक्ष्मी क्षीर सागर की कन्या, समुद्र संभवा तथा अप्सरा रूपिणी देवता है । मणि-माणिक से लदी रहती है और हथेली से आशीर्वाद के रूप में कनक शस्य बिखेरती भी है । वैदिक लक्ष्मी तो सूर्य शक्ति सावित्री, चन्द्रशक्ति सोना और गोबरयुक्त गंधवती मृत्तिका अर्थात् पृथ्वी

---

1. देवी, कु. राय, पृः 20.

इन तीनों की अधिष्ठात्री देवी है । पुराणों ने कहा, यह "श्री" कमलवत है, कमला है, कमलासना है, कमल संभवा है । कमल का फूल इस "श्री" का पूर्ण प्रतीक बना । भारतीय किसानों की नज़र में लक्ष्मी उनकी खेती ही है । असम जनजातियों को एक लोक कथा के अनुसार मछली और लक्ष्मी दोनों बहनें हैं । सारी आर्येतर निषाद-किरात गोष्ठियों में लक्ष्मी को फसल और खेती से जोड़कर देखने की व्यवस्था है । क्योंकि उनकी उपासना प्रकृति-प्रधान है ।

"सिरीदेवता और निशाचर पक्षी" में अथर्ववेद में प्रस्तुत मांगलिक और अमांगलिक लक्ष्मी पर विचार किया गया है । भारतीय उपासना में परमदेवता की संज्ञा "ब्रह्म" या "परब्रह्म" माना गया है । परन्तु इस संज्ञा का मूल आदिम यक्षोपासना का बरम" शब्द है जो आदिम उपदेवताओं केलिए लोकभाषा में प्रचलित है । इसीप्रकार वैदिक "श्री" की पृष्ठभूमि में भी स्थानीय लोकधर्म की यक्षोपासना से जुडी एक यक्षिणी है, जैसे सिरीदेवता कहा जाता था । दीपावली या कालीपूजा आदिम लोकपर्व है जो कालकर्णी {रोग-शोक की देवी} और सिरी, अशुभ तथा शुभ, दोनों प्रकार की लोक-देवताओं से जुड़ा था । आदिम भारतीय निवासी निषाद और किरात के मुख्य देवता थे यक्ष, वीरबरम और महामाया परमा प्रकृति । इसीसे दीपावली का एक नाम यक्ष-रात्रि भी है । "श्री" के आर्येतर रूप का संकेत आगम की उलूकवाहिनी लक्ष्मी की कल्पना में मिलता है । श्रीमयी लक्ष्मी के साथ महाअशुभ उल्लू पक्षी को जोड़ना एक आश्चर्य है और एक रहस्य भी । "यह तथ्य हमारे सुदूर अतीत को किसी भूली-बिसरी परंपरा का संकेत करता है, जो शायद अवैदिक आर्य या आर्येतर लोकायत धारा से आयी और नये वैदिक अर्थ-संस्कार को पाकर नयी आकृति, नये सौम्यकान्त मुख को धारण कर लिया, परन्तु पुराने का एक विरूप अवशेष रह गया यह तमीचर निशिचारी पक्षी ।"[1] लक्ष्मी-वाहन उलूक का बिंब रहस्यमय आगम परंपरा से आता है ।

"नटराज" शीर्षक निबन्ध में नटराज की प्रतिमा को सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह की पंचक्रिया नृत्य का द्योतक कहा गया है । "ऐतिहासिक दृष्टि से नटराज की कल्पना का उद्गम आर्य पूर्व भारतीयों अर्थात् द्राविड़-निषाद-किरात

---

1. सिरीदेवता और निशाचर पक्षी, कु. राय, पृ: 40.

समूहों के जन-नृत्य के अन्दर है । नृत्यकला के विकास में द्राविड़ों का विशिष्ट स्थान है । हरप्पा - मोहनजोदडो में प्राप्त मृत्तिका-मुहरें इस बात के प्रमाण हैं ।"[1] अतः नटराज की कल्पना का आदि उत्स शिल्प-प्रवण रसवादी द्राविड़ मन ही है । तरह-तरह के नटराज प्रतिमा तथा नटराज नृत्य का भी विवरण इस निबन्ध में है । नटराज की प्राचीनतम प्रतिमा तक्षशिला के ध्वंस स्तूप से उद्धार की गयी ऊर्ध्वतांडव-भंगिमावाली मूर्ति है । भुवनेश्वर मन्दिर की अष्टभुज नटराज बदामी गुफा के सोलह हस्त नटराज की प्रतिमायें, एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर एवं एलीफैंटा की नटराज प्रतिमायें और सर्व प्रसिद्ध चिदंबरम्-नटराज" की नादंत तांडव और आनंद तांडव करती हुई कांस्य प्रतिमा उल्लेखनीय हैं । शिव ही तांडव के आविष्कर्ता हैं । सृष्टिनृत्य, स्थिति नृत्य, प्रलय नृत्य, तिरोभाव नृत्य और अनुग्रह नृत्य इन पाँचों क्रियाओं का समाहार चिदंबरम्-नटराज में है । इसप्रकार निबन्धकार यह स्पष्ट करते हैं "नाटराज मूर्ति भारतीय संस्कृति की महान आस्तिक परंपरा का प्रतीक है जिसका बीजारोपण अनार्य मन में हुआ, पर अंकुरण एवं संवर्द्धन आर्य-अनार्य दोनों की अखिल भारतीय साधना द्वारा हुआ । मुझे तो कभी-कभी लगता है कि यह नटराज स्वयं साक्षात् हिन्दुस्तान है जिसका प्राचीन नाम था "अजनाभ वर्ष" और "जंबूद्वीप" तथा नया संवैधानिक नाम है भारत ।"[2] भारत की गरिमा बढाने में अनार्यों का जो हाथ था वह यहाँ उपलब्ध है ।

शंख और पद्म : सांख्य और योग" में निबन्धकार सूचना देते हैं कि बहिर्भारतीय आर्य एवं अन्तर्भारतीय नव्य आर्य दोनों की संस्कार-धारा से उत्पन्न देवता है विष्णु । जिसप्रकार निषाद लोककथाओं और आर्य गाथा के मेल से रामावतार की कथा पूरी हुई उसी प्रकार आभीर लोककथाओं तथा लोकगीतों के साथ यादव आर्यगाथा मिलकर कृष्णावतार की कथा पूरी हुई । विष्णु और रुद्र दोनों मूलतः आर्य देवता हैं । परन्तु रुद्र के विग्रह में अनार्य लोकायत परंपराओं का परिमाण अधिक है जबकि विष्णु के विग्रह में आर्य लोकायत का प्राधान्य है । निबन्धकार का विश्वास है कि योग और सांख्य दोनों चिन्ता परंपराओं के प्रतीक के रूप में विष्णु के हाथ में पद्म और शंख हैं ।

---

1. नटराज, कु. राय, पृः 46.
2. वही - पृः 57-58.

शंख ज्ञान का प्रतीक है और "पद्म" देह के भीतर शक्ति के पद्माकार षट्चक्रों का । "सांख्यमत मूल रूप में दर्शन नहीं था बल्कि लोकायत उपासना मार्ग था । विष्णु के हाथ में शंख देकर हमने भारत की लोकायत संभूत ज्ञान परंपरा का ढांचा उनसे संयुक्त कर दिया है ।"[1] योग साध्य है सांख्य साधन । योगदर्शन का व्यावहारिक रूप भी भारतीय लोकायत धर्म के देहवाद से विकसित होता है । यह देहवाद लोकायत परंपरा का अंग है । आदिम देहवाद जड़वादी नहीं तंत्रवादी था । आगम और निगम को जोड़ने की कड़ी है ये सांख्य और योग । इसलिए वेदान्त हमारा केन्द्रीय दर्शन होते हुए भी सांख्य और योग का अपार महत्व है ।

शेषनाग पर विश्राम करनेवाला नारायण ही "शेषशायी" निबन्ध का विषय है । यह सहस्रफण नाग नदी सन्तान निषाद तथा समुद्र में रत्न ढूँढनेवाले द्राविड़ की संयुक्त उपलब्धि है । पुष्पों से पूजा करनेवाले हैं द्राविड़ । पूजा केलिए मूर्ति की ज़रूरत है । अतः आर्येतर पूजाप्रधान संस्कृतियाँ मूर्ति का आविष्कारक मानी जाती हैं । इस सहस्र फण नाग मूर्ति को उन्होंने ही कल्पित किया, ऐसा मान सकते हैं । नाग पवनभक्षी और प्राणप्रतीक है । सारी जीवात्माओं को विश्व सत्ता व्यक्त करनेवाला यह सहस्रफण शेषनाग संकर्षण माना गया है जिसकी गोद में शायित है पद्मनाभ पुरुष नारायण । यह नाग आर्येतर संस्कृतियों में सृष्टि देवता और जीवन देवता का प्रतीक है । ग्रीक लोक कथाओं में प्रचलित "अफायन" नामक नाग और हमारी "नारायण" संज्ञाओं के बीच एक अद्भुत समता है । संस्कृत में "अप" फारसी में "आब", ग्रीक में "अब" का अर्थ जल होता है । अतः "आफ" भी जल से जुड़ा शब्द है । "नार" का भी अर्थ जल है । यहाँ रायजी अनुमानित करते हैं "ग्रीकों की "अफायन" मिथ आर्य-पूर्व कालखंड की है और संभवतः उस नस्ल के लोगों की मिथ है जो भारत में निषाद-द्राविड़ की संज्ञा से परिचित हैं ।"[2] नारायण की जलशय्या के ऊपर नागशय्या प्रतिष्ठित करके आर्य-आर्येतर दोनों कल्पनाओं का समन्वय कर डाला गया है । "जल और यज्ञ दोनों सृष्टि-प्रसव के समानान्तर कारण माने गये और दोनों परंपराओं का समन्वय-समाहार होता है, आर्येतर स्रोतों से प्राप्त नागवंशीय मालय द्राविड जातियों के सहस्रफण नागदेवता के अंक में शायित हिरण्यमय

---

1. शंख और पद्म, कु. राय, पृः 66.
2. शेषशायी , कु. राय, पृः 81.

योनिवाली भगवती मूर्ति में जो आर्य परिवेश में आकर शेषशायी पद्मनाथ नारायण मूर्ति बन गयी ।"[1] प्रत्येक जीवात्मा ही शेषनाग है । उस जीवात्मा पर शायित है परमात्मा रूप वासुदेव श्रीमन्नारायण ।

"जंबूद्वीपे-भरतखंडे" शीर्षक निबन्ध में रायजी इस देश को "भारत" नाम कैसे मिला? इसे ढूँढने के प्रयत्न में हैं । उनके मत में "भारत" नाम किसी महापुरुष के नाम से नहीं आया बल्कि किसी जातिवाचक संज्ञा के आधार पर मिला है । "संभवतः "भरत" या "भारत" नामक कोई आर्य कुल अथवा "गण" था जो सरस्वती-तट और यमुना-तट पर फैला था, बाद में गंगा-तट पर प्रयाग तक फैल गया । ... सरस्वती से गंगा तक फैले भरतवंशियों का भारतों के नेतृत्व में इस देश को वर्तमान आकृति एवं वर्तमान शीलाचार का रूप गठित हुआ था । इसीसे इस देश को भारतों का देश अर्थात् भारतवर्ष कहने लगे ।"[2] भारत की तीन सत्ता मृण्मय भारत, शाश्वत भारत और चिन्मय भारत-जो संयुक्त भाव से चतुर्पुरुषार्थ की उपासना में लीन है - का परिचय भी रायजी देते हैं । भारत का मृण्मय (अर्थात् भौगोलिक-आर्थिक-जैविक दृष्टि से) रूप हमारे गाँव-नगर, खेत-खलिहान, नदी-पहाड, हाट-बाज़ार में उपस्थित है और इस रूप द्वारा भारत काम और अर्थ की साधना कर रहा है । भारत शाश्वत रूप निषाद-किरात-द्राविड-आर्य इन चार महान प्रवाहों के आगमन से निरन्तर चलायमान है । यह अविच्छिन्न प्रवाह है । भारत के चिन्मय रूप का लक्ष्य मोक्ष धर्म है ।

"लोकायत और आदिम श्रद्धा" में निबन्धकार "लोकायत" को ठीक से समझने का प्रयास करते हैं । वे यह कहना चाहते हैं, "आधुनिक भारतीय सभ्यता-संस्कृति, भोजन-पान, वसन-व्यसन, शब्द-संभार, भाषा-शैली, कल्प और शिल्प, भावबोध और नीतिबोध का प्रधान स्रोत वैदिक नहीं, लोकायत संस्कृति है ।"[3] वे "लोकायत" शब्द को "लोक" में प्रचलित" तथा "लोक से गृहीत" मानते हैं । समस्त हिन्दूधर्म को लोकायत धर्म

---

1. शेषशायी, कु. राय, पृ:82.
2. जंबूद्वीपे भरतखंडे, कु. राय, पृ: 89.
3. लोकायत और आदिम श्रद्धा, कु. राय, पृ: 102.

मानते हैं, जिसकी कोई निश्चित आकृति नहीं जो सहस्रशीर्षा रूपों का समवाय है । मूलत: वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक सभी परंपरायें लोकायत परंपराओं के ही विकसित रूप हैं । वे यह भी मानते हैं कि लोकायत से ही अनीश्वरवादी सांख्य का विकास होता है । अत: लोकायत मूलत: प्रकृति-प्रधानवाद है ।

"महाकवि की कन्या" रायजी की एक पुनर्गठित मिथक है । महाकवि वाल्मीकि के रामायण को एक नया मान दिया गया है । इसमें उन्होंने प्रजापति और उषा तथा रामायण के राम-सीता के प्रसंग को युक्त करके एक नये मिथ का संयोजन किया । उनके मत में मिथ कल्पनाप्रसूत होने के कारण किसी भी छोटे-बडे साहित्यकार को उसका संशोधन और पुनर्गठन करने का अधिकार है । प्रजापति और उषा के अवैध संबन्ध से प्रजापति को शाप मिला और द्वादश वर्षों तक उसने वाल्मीकि बनकर यातनापूर्ण जीवन जिया । इसके फलस्वरूप उत्तर दिशा अर्थात् भविष्य दिशा से वह शाप-मुक्त हो गया । उषा उनकी मानस कन्या के रूप में अवतरित हुई उत्तरा नाम से । और वह है सीता । वाल्मीकि ने बाद में अपनी इस मानस कन्या का महाकाव्य लिखा । प्रत्येक कवि ही एक विशिष्ट अर्थ में ब्रह्मा होता है । यह भी दर्शनीय है कि पुरुष-नारी के संबन्ध में से तीन संबन्धों को समान रूप से मूलभूत मानता है - माँ, प्रेयसी और पुत्री । तथा "दिवस का महाकाव्य" शीर्षक निबन्ध भी एक मिथ का पुन:संयोजन है । सूर्य और उषा (राम और सीता) का मिथ है जिसमें सूर्य द्वारा उषा का उद्धार और बाद में अपवाद, अपयश, निन्दा और लांछन के कारण फिर निर्वासन है । इस महाकाव्य का कवि आकाश है और वह उषा का पिता है, जो अपनी कन्या को हृदय में मणि-माणिक की तरह छिपा लेता है ।

"लोकचक्षु भगवान कपिल" हमारे अहं पर निर्भर है । निबन्धकार हमारे अस्तित्व जो है उसको व्यक्त करते हैं । जीवात्मा के अहंकार को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं कि इतिहास (काल) के भीतर है देश, देश के भीतर है देह, देह के भीतर है मन, मन के भीतर है अस्मिता या सेल्फ । ये पाँच वृत्त आत्मा के केन्द्र के चारों ओर सक्रिय हैं और इनकी संपूर्ण सक्रिय स्थिति को ही जिस नाम रूप से पहचाना जाता है, वह "मैं" ही हूँ । वही "मेरा" अस्तित्व है । "मैं" जीवात्मा हूँ । "मैं" ने अपनी ही उपासना की । तथा "मैं" मानता रहा कि "मैं" ही कर्ता हूँ, "अहंकार" ही कर्ता है । भारतीय

दर्शन करनेवाले कपिल का परिचय भी देते हैं । कपिल तीन हैं - असुर कपिल जिन्होंने आदिम पंचभूतवाद चलाया था और इनके मानने वाले शख गोत्रीय गण ये द्वापर तक वर्तमान थे । द्वितीय पीत कपिल अग्नि के अवतार हैं । ये चिरंजीवी हैं, कपिला के उपास्य हैं । तीसरे कपिल हैं आर्यवंशीय शुक्ल कपिल । ये साक्षात् पद्म पलाश लोचन नारायण ही थी । प्रथम दो अनीश्वरवादी हैं और प्रकृति प्रधान का उपदेश देते हैं तथा तीसरे ईश्वरवादी हैं पुरुष-प्रधान के प्रचारक हैं ।

इसप्रकार "कामधेनु" हमें जीवन के विभिन्न तलों पर पहुँचाता है और भिन्न-भिन्न अनुभवों के द्वारा हमारे ज्ञान-मण्डल को विस्तृत करता है । "कामधेनु" शीर्षक निबन्ध हमारे विशाल मन का प्रतीक ही है तथा लोकायत रीति-रिवाज़ों का परिचय भी देता है जैसे गोपूजा, गोवध आदि । "मायाबीज" में जीवन के अस्ति पक्ष और अस्तित्व पक्ष पर गंभीर विचार प्रस्तुत है । "देवी" शीर्षक निबन्ध हमें आदिम लोकायत संस्कृति की ओर खींचता है, जिसमें लोकायत देवी उपासना का अवतरण है । अगले निबन्ध "श्रीतत्व : लोक और वेद में" में आर्येतर निषाद और किरात वर्गों में प्रचलित फसल और खेती की "श्री" या "लक्ष्मी" प्रकट होती है । "सिरीदेवता और निशाचर पक्षी" निबन्ध में लोक से युक्त उलूक-लक्ष्मी का परिचय देते हैं, जो अमांगलिक लगती है । यह भी प्रस्तुत करते हैं कि आदिम निषाद और किरात वर्ग के मुख्य देवता यक्ष, वीरबरम और महामाया थे । शिव के "नटराज" रूप की कल्पना आर्य पूर्व निषाद-किरात-द्रविड़ जातियों से चली आयी है । इनके जन-नृत्य के अन्दर नटराज-नृत्य प्रचलित थे । "नटराज" शीर्षक निबन्ध इसकी ओर दृष्टि डालते हैं । "शंख और पद्म : सांख्य और योग" में यह प्रमाणित करते हैं कि आर्य देवता विष्णु का मूल उद्गम आभीर लोक कथाओं, लोकगीतों तथा इनके साथ यादव आर्य गाथा मिल कर हुआ है । "शेषशायी" शीर्षक निबन्ध में आर्य देवता नारायण तथा द्राविड़ों की नागमूर्ति को मिलाकर हमारी भारतीय संस्कृति को ही प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि आर्य-आर्येतर समन्वित संस्कृति है भारतीय संस्कृति । "जंबूदीपे-भरतखंडे" शीर्षक निबन्ध में भारत" देश ही निबन्धकार का विषय है । "लोकायत और आदिम श्रद्धा" लोक से आयत संस्कृति या लोकसे गृहीत संस्कृति का विश्लेषण है । "महाकवि की कन्या" तो रायजी को स्वतंत्र रामायण कथा है । उन्होंने इसमें रामायण मिथ की पुनः सृष्टि की हैं । "लोकचक्षु भगवान कपिल निबन्ध में मानव के अस्तित्व और जीवात्मा पर केन्द्रित रहता है । संक्षेप में मानवीयता का मूल रायजी ने इन प्रबन्धों द्वारा किया है ।

रायजी की अन्य रचनाओं से यह एक अलग भूमिका निभाता है । इसमें निबन्धकार सीधे विषय पर आते हैं और उसका विस्तृत और गहरा विश्लेषण करते हैं । इसलिए इसकी अकृति प्रबंध का है । इसमें मनुष्यत्व के चैतन्य का विस्तार करने केलिए भारतीय वाङ्मय का मंथन किया गया है । हमारे कई आचार-विचारों का मूल आर्येतर वर्ग है । कई अपरिचित पहलुओं का खुला चित्रण इसमें किया गया है । भाषा ललित और अर्थयुक्त है, अतः पाठक उत्सुकता से कार्य समझते हैं । ललित निबन्ध की भाषा में जो काव्यात्मकता है वह इसमें उतनी मात्रा में नहीं, फिर भी इसमें रस की कमी नहीं है । वैयक्तिक विचारों से यह संग्रह अधिक ओजस्वी और स्वतंत्र बन गया है ।

किरात नदी में चन्द्र-मधु

भारतीय संस्कृति आर्य-आर्येतर समन्वित संस्कृति है । इसमें निषाद-किरात-द्राविड-आर्यों के संस्कारों का सम्मिलन है । कुबेरनाथ राय ने इस संग्रह में इस आर्येतर संस्कारों की महिमा का उद्घाटन किया है । "इसमें किरात संस्कृति की नदी में झलकते हुए भाव और रस के चन्द्रबिंबों की फुटकर छवियाँ ही मिलेंगी । इसी से इसका नाम रखा गया है किरात नदी में चन्द्र-मधु ।"[1] किरात संस्कृति के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द पाठकों तक पहुँचाना ही निबन्धकार का उद्देश्य है । उनके चिरपरिचित असमिया किरात संस्कृति का सन्दर्भ इन निबन्धों में देख सकते हैं । इसमें चौदह निबन्ध संकलित हैं जो दो भागों में विभाजित है । प्रथम भाग के निबन्ध प्रकृतिपरक हैं ।

प्राग्वैदिक युग से ही अश्वत्थ, सिंह, हाथी और मयूर की तरह गैंडा भी भारतीयता की आकृति का अनिवार्य अंग है । "गैंडा और चन्द्रमधु" शीर्षक निबन्ध में रायजी ने गैंडे की इस प्रमुखता को हमारे सामने प्रस्तुत किया है । हमारे लिए अनजान इस पृष्ठ को खोलना ही यहाँ निबन्धकार का उद्देश्य है । "यह भी मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त एक मृत्तिका मुहर पर उसी शान और गौरव से विद्यमान है । इसके बिना भी भारतीयता का सांस्कृतिक जुलूस, उसकी शोभा-यात्रा अधूरी रह जायेगी । इसी से आज

---

1. किरात नदी में चन्द्र-मधु, कु. राय, अंत में अपनी बात ।

सहस्रशीर्षा भारतीयता के इस चेहरे को भी एक अँजुरी गंध-पुष्प अर्पित कर रहा हूँ ।"[1] यह गैंडा कामना का तिरस्कार करके एकान्तवास ही पसन्द करता है । इसलिए निबन्धकार ने इसे बौद्धों का "खग्गविषाण सुत्त" का महाप्रतीक और बौद्धों के कामना-निग्रह दर्शन से मेल खाता हुआ एक कवच-बद्ध जीव माना है । यह जानवर, कामलंपट मनुष्य से दूर दलदल भरे घास-वन में रहता है । अतः यह वैराग्य, संयम और निरंकुशता का प्रतीक है । यह निर्लिप्त विचरण करनेवाले सिंह शुक्रतारा, कवि और कमल के समान योगचर्या और संन्यास का प्रतीक भी है । इस नाम के द्वारा प्रयुक्त कई उक्तियों और किंवदन्तियों का भी प्रयोग इसमें किया गया है ।

इसमें रायजी का मन भावों से भरा हुआ है । "चाँदनी रात में पेड़-पेड़ पर बैठकर प्रेत-रुदन करना, चाँदनी की धारा में उस खण्डहर से उस ध्वस्त मुंडेर तक विकल उड़ना और पंख-ध्वनि से आधी रात के एकान्त को भंग करना ... ।"[2] यहाँ उनकी भाषा के लयात्मक और काव्यात्मक सौन्दर्य दर्शित हैं । लोकोक्तियों से इसमें आँचलिक वातावरण आ गया है । जैसे - "आगे नाथ न पीछे पिछाड़ी, बिल्कुल गैंडा बनकर घूम रहे हैं ।" इसका प्रयोग किसी निर्द्वन्द्व वृत्तिवाले साथ ही संयमी पुरुष केलिए करते हैं ।

"यूथिका संवाद" में निबन्धकार का मन प्रकृति में रमता है । उनका काव्यमय सौन्दर्य इसमें स्पष्ट है । "फूल-बच्चे-नारी आदि में गन्धर्वों का अदृश्य वास रहता है । ये गन्धर्वगण खासतौर से वसन्त ऋतु में घाट-बाट-सर्वत्र अदृश्य रूप से विचरण करने लगते हैं, अपने शीश पर नये पत्तों का पर्णमुकुट बाँधे, कानों में चंपा के फूल खोंसे, कटि में अरुण-पीत गमछा बांधे ... ।"[3] वसन्तागमन के चित्रण में लयात्मक सौन्दर्य है और भाषा निरन्तर प्रवाहित रहती है । जैसे दोपहर को पछुआँ पवन के अग्निवाही रथ पर सवार होकर मरुद्गण तीसरी आँख खोलकर विचरण करते हैं । तो भी आम बौराते हैं, सरसोई टिकोरे बनते हैं, मधुआ भनभनाते हैं, कोयल तप्त दोपहरी में भी

---

1. गैंडा और चन्द्र-मधु, कु. राय, पृः ।.
2. वही ।
3. यूथिका संवाद, कु. राय , पृः 12.

कूकती है और पलाशवन अरुण शिखा धारण कर लेता है । इसमें प्रकृति का मानवीकरण है । वसन्त-हवा आमंत्रण करती है कि एकान्त वनभूमि में या नदी तट पर दबे पाव, कवि की तरह, चुपचाप आना । यहाँ भाषा भावमय अधिक है । इसका एक दूसरा चित्र मतलब रायजी की भावात्मकता का एक और चित्र यहाँ प्रस्तुत है, "... पीत अशोक और रक्तमंदार भी क्रमशः तालपोखर और बारी-बगीचे में दृश्यमान होते हैं और इन्हें बाहर-बाहर देखकर ही मन के अन्दर रहनेवाली मालिनी-सुगन्धरा आदि छन्द कन्याएँ देह-स्नायु मण्डल के भीतर स्मृति-सत्ता और कल्पना के फूल लोढ़कर भावमयी माल्यरचना करने लगती हैं ।"[1] यहाँ पाठक भी वसन्त का आस्वादन करते हैं ।

यूथिका या जुही पर रायजी अधिक ध्यान देते हैं । भारत में फूलों के दो विशेष मौसम हैं शारदीय और वासन्ती । जाति-मल्लिका, बेला-यूथिका आदि फूल वसन्त में फूलने लगते हैं और पूरे ग्रीष्म तथा वर्षा तक खिलते रहते हैं । यूथिका का "यूथ" अर्थात् "गण" से संबन्ध है । यहाँ निबन्धकार स्पष्ट करते हैं कि इसकी "गणिका" और "माधवी" दो अन्य संज्ञायें भी हैं और इसकी संज्ञा के हृदय में वैशाली और मगध के कुसुम-महोत्सवों और अंजलि अभिषेकों की स्मृतियाँ छिपी हैं । यह ललित निबन्ध अनुभूतिगत आस्वादन का स्रोत है ।

"लौट जा उत्तराफाल्गुनी" में निबन्धकार साहित्य में शील की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं । इसमें चिन्मय भारत के इतिहास को अदृश्य पाल्की कहा गया है जो भिन्न कालों, अवस्थाओं तथा कहारों से चलाया जाता है । यह वाङ्मयी पाल्की है वैदिक "उषा सूक्त" से लेकर "उर्वशी" और "अन्धायुग" तक इस पाल्की का ही नाम है चिन्मय भारत । यह रायजी की भावात्मक प्रतिभा का प्रमाण है । शील और सौन्दर्य बोध की महत्ता पर भी दृष्टि डालते हैं और स्थापित करते हैं कि शील-सौन्दर्य को जितना महत्व भारतीयों ने दिया है उतना किसी भी अन्य देश ने नहीं दिया है । उनकी वाङ्मयी सरस्वती अवदमन मुक्त "रूप-सौन्दर्य" के साथ-साथ शील-सौन्दर्य को भी उद्घाटित करनेवाली है । निबन्धकार शिकायत करते हैं कि आज के सन्दर्भ में कुछ लोग

---

1. यूथिका संवाद, कु. राय , पृः 15.

शील-सौन्दर्य को निरर्थक मानते हैं । वे नयी नैतिकता पर ही दृष्टि डालते हैं । "परन्तु इस नयी नैतिकता की बात को बड़ी सावधानी से व्यक्ति-चरित्र से काटकर केवल सैद्धान्तिक या वैचारिक स्तर पर ही उडाया जाता है और ले-देकर नयी नैतिकता" का अर्थ हो जाता है राजनीति द्वारा प्रस्तावित नैतिकता, जबकि राजनीति स्वयं में एक नीतिहीन अवसरवादी पद्धति है ।"[1] वे कहते हैं कि आधुनिक साहित्य में शील के स्थान पर प्रासंगिकता और प्रतिबद्धता को नयी नैतिकता का आदर्श माना जाता है । परन्तु शुद्ध कलावाद की तरह शुद्ध राजनीतिवाद भी शील का स्थान नहीं ले सकता । आज ज़रूरत है द्वन्द्ववादी युक्ति से ऊपर उठकर मनुष्य की चिन्ता करने की । यहाँ वैचारिक और भावात्मक बोध का समन्वय है ।

अगले निबन्ध - "नीलकंठ उदास" में समाज के अति विरले "अगम-अगाध-गंभीर दुःख और निर्मल उदात्त प्रेम पर विचार करते हैं । काम ऊर्ध्वतर होता हुआ निर्मल ज्योतिष्मान् होता जाता है । ठीक उसी प्रकार दुःख उल्टी दिशा में गंभीर से गंभीरतर होता हुआ प्रगाढ़ और पारदर्शक होता जाता है । दुःख का परम रूप है रागोत्तर लोक का दुःख और यह है मूल्यों और आदर्शों का लोक जिसके माध्यम से "ऋत" शुद्ध और पवित्र बना रहता है । "रागलोक का दुःख रस की साध्यावस्था है परन्तु रागोत्तर सार्वभौम वेदना का दुःख रस की सिद्धावस्था है । सीता की वेदना एक सार्वभौम दुःख और सार्वभौम यातना से जुडी है । "सीता की व्यथा रागबोध के साथ-साथ लोक-व्यापी "शील" से संयुक्त है अतः यह रागात्मक के साथ-साथ नैतिक स्तर से भी जुड़ी है । इसी से यह करुणा और दुःख का अधिक सार्वभौम, अधिक घनीभूत, गंभीरतर रूप है ।"[2] इस निबन्ध का परिवेश भी गंगातट है और वहाँ एक नतशीश नीलकंठ पाखी को देखकर दुःख की चरम स्थिति तक पहुँचते हैं ।

व्यक्ति को अपनी मानसिक स्थिति की झलक अपनी परिस्थिति में भी देख सकते हैं । "यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः" शीर्षक निबन्ध में यह तथ्य व्यक्त है । यहाँ रायजी को अपने पिताजी की रोगशय्या की वार्ता सुनकर सब अस्वाभाविक-सा लगता है, "मुझे लगा कि आकाश अपने अस्वाभाविक हिरण्यवर्ण से और धरती अपनी उदा

---

1. लौट जा उत्तरा फाल्गुनी, कु. राय, पृ: 26.
2. नीलकंठ उदास, कु. राय, पृ: 32.

सफेदी के माध्यम से मुझे किसी शवयात्रा का, सजे शवाधार का, अग्नि-पात्र का, कुश-पुतुल का और तिलांजलि-तर्पण का संकेत दे रहे हैं ।"[1] मृत्यु के समय जब हमारे भीतर निवास करनेवाला सनातन कवि-रूप भगवान् हमारे शरीर को त्यागने केलिए तैयार हो जाते हैं, तब अंतःकरण अस्वाभाविक रूप से सहज हो उठता है । रायजी यहाँ व्यक्त करते हैं कि इसी कारण से चरम क्षण में मृत्यु प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना को अतिशय जाग्रत कर देती है । मानसिक अवस्था का चित्र, खींचा गया है । ऐसी चित्रकला रायजी के निबन्धों की विशेषता है ।

"जीर्णवस्त्र और पापहरा नदी" में रायजी मनुष्य को पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न करते हैं । लौकिक और अलौकिक जगत् पर दृष्टि डालकर वे व्यक्त करते हैं कि मानव लौकिक जगत् ही पसन्द करते हैं, क्योंकि वह षड्रस पूर्ण है । परन्तु अलौकिक जगत् का स्वाद हमारे अपने अपकर्म, निष्कर्म और सत्कर्म के अनुसार कटु, कषाय और मधुर हैं, वह सिर्फ तीन रसों का लोक है । अब एक प्रश्न उठती है । यह मानव कौन है' इसके उत्तर पाने में निबन्धकार व्याकुल है, "मैं कौन' इसका उत्तर पाना अतिशय कठिन है । मौन, ध्यान और "ज़ेन" में उतरो - शायद वहाँ कुछ हाथ लगे । परन्तु मैं क्या' उत्तर स्पष्ट है - एक भांड, एक मृत्पात्र । मैं माटी, मैं मृत्तिका, मैं गंधवती माटी जो शब्दहीन होकर भी शब्द बोलती है गात्रवीणा बनकर , जो रूपहीन होकर भी रसवती बनती है हृदय बनकर , और सबसे बढकर आश्चर्य यह कि जो अचित् होकर भी चिन्मय का आधान बनती है जीवात्मा बनकर । आश्चर्यमयी है यह मृत्तिका , यह एक मुट्ठी गंधवती ! यह सब कैसे संभव होता है' इस सारी भोजविद्या को, सारे इन्द्रजाल को कौन खेलता है' कौन है वह मायावी, कौन है वह शौभिक' इन सारे प्रश्नों का उत्तर मैं पाना चाहता हूँ ।"[2] मृत्यु को जीतने का उपाय भी देते हैं । हमारे मन में मृत्यु से जुड़ी जो मानसिक विकलता, भय और पश्चात्ताप है उसको दूर करने से हम इससे मुक्त हो सकते हैं ।

---

1. यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्यु, कु. राय, पृः 37.
2. जीर्णवस्त्र और पापहरा नदी, कु. राय, पृः 46.

"जीवगृध्र का मेघदूत" में निबन्धकार गंगा तट की प्रकृति में लीन हो जाते हैं और उनको लगता है कि नदी से मेघगण जल खींच रहे हैं । साथ ही वे "मेघदूत" के ऐसे प्रसंगों का स्मरण करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय कविता की उपमायें कल्पना-विलास नहीं, सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण पर आश्रित हैं ।

इसप्रकार पहले भाग के ये निबन्ध प्रकृति-प्रधान हैं । आगे दूसरे भाग के निबन्धों का विश्लेषण है ।

पहला निबन्ध "नौ अक्षरों की विद्या" है । इसमें रायजी के अपने देशी चामुण्डी प्रतिमा का चित्रण है । अन्य प्रतिमाओं से भिन्न इसकी आठ भुजायें हैं और इन आठ भुजाओं से सरस्वती बीज "ऐं", मायाबीज "ह्रीं", कामबीज "क्लीं" रचते हैं । देवी की तन्वी देहलता आर्य संस्कृति का द्योतक है लेकिन मुँह संथाल-कन्या जैसी है । नुकीली नासिका आर्यों जैसी । मुख का गौरव तो नाक ही रचती है तो चेहरा संथाल पर आर्यत्व की गरिमा । तब यह देवी मुख-मण्डल मंत्र के "चामुण्डायै" पद का द्योतक है, क्योंकि "चामुण्डा" के मूल रूप में अनार्य कुलों की भगवती है । बाद में आर्य देव-मण्डल में अन्तर्भुक्त हुई थी । "विच्चे" "विद्+च+ए" से बनता है, जिसमें "विद्" का अर्थ ज्ञान या सद्, "च" अर्थात् "चिद्" और "ए" योनि-बीज है अतः "आनन्द" का द्योतक है । इसप्रकार निबन्धकार नवाक्षरी विद्या "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" का जप करते हैं । "देवी" शब्द के भी अनेक अर्थ दिये गए हैं - माँ, प्रेमिका, पुत्री, अंबिका, परावाक्, हैमवती, उमा आदि । एकान्त में नवाक्षरी जपने से वातावरण में दूध झरता है, ऐसे लोकविश्वास को गलत प्रमाणित करने का प्रयत्न भी करते हैं ।

असमिया संस्कृति पर आधारित ललित निबन्ध है "षोडशी के चरण-कमल" असमिया कमाख्या परम्परा का परिचय है, जो असमिया आर्य संस्कृति का चित्र है । "यह असम प्रदेश अपने हिन्दुस्तान अर्थात् भारत अर्थात् जम्बूद्वीप का कलेजा है, वाम भाग में स्थित निरन्तर धड़कता हुआ - कलेजा जहाँ आकर उस देश के विभिन्न जाति गोत्रों की धमनियाँ और शिरायें एक तीर्थ संगम की रचना करती है । इसमें भी कामरूप हमारी नज़रों में धरती की पवित्रतम भूमि है क्योंकि यहीं पर जम्बूद्वीप या भारतवर्ष को

महामातृका का सर्वाधिक जाग्रत् पीठ स्थित है ।"[1] आधुनिक विद्वान् "कामाख्या" शब्द का मूल रूप आर्येतर जनजातीय भाषाओं में खोजते हैं । ब्रह्मपुत्र घाटी की प्रतिनिधि आर्येतर भाषा है बडो {बोडो}, कछारी और मेघालय की प्रतिनिधि भाषा है खसिआ । बोड़ो लोग अपनी जनजातीय संस्कृति के देवमण्डल में पंच{महा} भूतों के अलावा "बा-थवा" {शिव}, मयाना {लक्ष्मी} तथा खामखिआ {कामाख्या} को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं । आर्येतर संस्कृतियाँ विशेषकर निषाद संस्कृति चन्द्रोपासक थी, उनका संवत् चांद्र संवत् था इसलिए उनकी रानी {चन्द्र} {स्त्रीलिंग देवता} का मानवी प्रतिनिधि थी । कामाख्या को चांद्री शक्ति के रूप में तंत्रों में देखा गया है । वह षोडशी है अमृता कला तथा पूर्णिमा रूपिणी है । "कामाख्या" शब्द की व्याख्या पौराणिक तांत्रिक परंपरा में संस्कृत के माध्यम से की जाती है "कामा" {कामिनी} "आख्या" {संज्ञा} वाली । "कामा" अर्थात् कामिनी । यहाँ कामाख्या अपने पंच कामिनी रूपों में स्थित है , कामेश्वरी, सिद्धकामेश्वरी, सर्वकामेश्वरी, शारदा और महामाया । दूसरी व्याख्या है, क+आ+मा । "क" अर्थात् "काम", "आ" अर्थात् "नारायण" और "मा" अर्थात् "लक्ष्मी"। काम लक्ष्मी ।"[2] दिव्य कामरूप मनोमय और चिन्मय आकृतियों में प्राप्त है । मनोमय कामरूप नौ रसों, से पूर्ण मूलाधार है । इसमें कुण्डलिनी शक्ति के "कुमारिका" रूप की प्रतिष्ठा की गई है । देह की कुण्डलिनी ही कुमारिका काम लक्ष्मी हैं । ब्राह्मण परम्परा के एक अन्य भाग के मत में कामरूप सहस्रार के प्रतिवेश में दिखाई पड़ते हैं । यही है चिन्मय कामरूप और इसमें नवरसों का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है । यहाँ पर परमा प्रकृति और शिव एकाकार हो जाते हैं और मनोमय तथा विज्ञानमय कोषों से ऊपर चिन्मय आनन्द लोक का यह प्रतीक है । इसप्रकार इस निबन्ध में लौकिक, दिव्य, चिन्मय और मनोमय कामरूप का विस्तृत वर्णन है । आगे "क्षुरस्य धारा ... दुर्ग पथः" में भी कामाख्या को उपासना है । कामबोध के शिखर पर सावधान रूप से चढ़ने का उपदेश देते हैं । मन संभाल कर पग देने को कहते हैं ।

---

1. "षोड़शी के चरण-कमल", कु. राय, पृः 70.
2. वही - पृः 73.

"विमत्त गयंद" शीर्षक निबन्ध में हाथी को आर्येतर संस्कृति का प्रतीक मानते हैं । बौद्धकला में हाथी बोधि सत्व का प्रतीक माना गया है । निबन्धकार को लगता है कि बौद्ध धर्म को यह गज प्रतीक आर्येतर जनजातियों से मिला । हाथी को देखने से रायजी के मन में आज भी एक कुतूहलता है । एक वन्य जानवर होते हुए भी सारे मंगलकार्यों में उसका प्रमुख स्थान है । भारत और ईरान में वृषा-कपियों अर्थात् मिश्रित पशु-प्रतिमाओं का विकास हुआ जिसमें भारत में गज को विषय बनकर नर-हस्ती {गणेश}, गजमोन और गजसिंह प्रतिमायें भी कल्पित हुई । इनमें नरहस्ती अग्रपूज्य गणपति का प्रतीक हो उठा ।

अगले निबन्ध "कार्तिकफण्टी के गान" में निबन्धकार हाथी पकडनेवालों के जीवन को प्रत्यक्ष करते हैं । "चाँदनी रातों में भयंकररात के वक्त भयंकर दन्तैल हाथियों के यूथ से टकराना हो भयानक साहसिकता है । इन स्थलों पर जीवन और मृत्यु के बीच की सीमा-रेखा सघमुच ज्यामितीय परिभाषा धारण कर लेती है और इसमें केवल लंबाई होती है चौडाई और मोटाई नहीं । इन स्थलों पर जीवन-मृत्यु परस्पर अत्यन्त निकट आ जाते हैं । युगनद्ध मूर्ति की तरह । ज़रा सी चूक हुई कि कालहस्ती का शुण्ड लपेटकर ले जाएगा । इसी को कार्तिकफण्टी कहते हैं ।"[1] कार्तिकफण्टी के अनेक गीतों का परिचय भी निबन्धकार देते हैं । जैसे -

"सखि ओ ...
हस्तीर कन्या, हस्तीर कन्या बामुनेर नारी
माथा दियाइ तामकलशी ओ,
सखि, हाथे सोनारझारी
....."[2]

इस गीत में ब्राह्मण वधू की तुलना हस्ती से की गई है । हाथी और नव वधु दोनों सिन्दूर धारी जीव हैं, दोनों ऐसे दबे पाव चलते हैं कि पता नहीं चलता और आकृति-वैषम्य के कारण तृप्तकाम गतिछन्द में देह के अलस आस्फालन में तथा मांगलिक महिमा में वे दोनों सहधर्मी हैं ।

---

1. कार्तिकफण्टी के गान - कु. राय, पृ: 109.
2. वही - पृ: 106.

"केसर गाथा" मंगोलीय या भोट की वीरगाथा का प्रस्तुतीकरण है । केसर गाथा किरात वर्ग की एकमात्र वीरगाथा और एकमात्र विकासशील महाकाव्य है । इसकी जन्मभूमि तिब्बत है, परन्तु भारत (लद्दाख-गिलगिट) और मंगोलिया तक इसका प्रसार है । किरात नस्ल के मानवसमुदाय को वीरगाथा होने के कारण यह आदिम वीर गाथा काव्य है ।

"भारतीय किरात" शीर्षक निबन्ध किरात संस्कृति पर आधारित है । किरात संस्कृति रंग-बिरंगी या बहुरूपी संस्कृति है और कामरूपी तथा इच्छावपु धारिणी संस्कृति है । आधुनिकता का रंग या तो धीर गंभीर नहीं तो उदास और रंगहीन । परन्तु किरात मन और किरात जीवन अब भी आदिमता धारण किये हुए चल रहा है, आज भी वह उच्छृंखल, उद्दाम, उल्लासमय और पूँछ उठाकर नाचनेवाला है । अवश्य ही सर्वत्र नहीं । परन्तु असल किरात और किरात मृगया के दृश्य नागालैण्ड और सुरमा नदी की घाटी के भीतरी अंचलों में, सोमेश्वरोत्तट के गारो अंचल में अथवा चन्दन-देवदारु और गम्हार के वनों से ढ़के अरुणाचल के भीतरी इलाकों में देख सकते हैं । इनके वेष भी प्राकृत हैं । शीश पर वानर-कपाल की स्वर्णधूसर टोपी और इसमें वनशूकरों के दाँत वक्र चक्राकार शैली में अगल-बगल लगे हैं, कानों में सफेद शंख वलय हैं, कमर में लाल वल्कल का परिकर है । किरात ने यह रंग-बिरंगे शृंगार प्रकृति की अन्य सन्तानों से क्रूरतापूर्वक छीना है । "आज भी चाहे किरात हो या महानगरी का सभ्य-सुसंस्कृत मानव हो, सृष्टि के अनेक अनेक प्राणों का हनन करके ही मनुष्य का शृंगार संभव होता है । अभ्यासवश इस साज-शृंगार के पीछे निहित जीव-यंत्रणा का अनुभव हमें नहीं हो पाता है ।"[1] भारतीय कल्पना शुरू से ही किरात को रुद्र रूप में तथा किरात कन्या को पार्वती रूप में स्मरण करती है । भारतीय आर्य का "भारतीय किरात" के (भोट-मंगोलीय) वैदिक युग से ही परिचय है । "मालय" या "माल" का अर्थ भी पहाड़ी होता है । "मालय" का मौलिक अर्थ "पहाड़ी" है और यही कारण है कि "नाग" शब्द न केवल किरात बल्कि निषाद-किरात दोनों केलिए आता है । शिव को "नाग" गण प्रिय हैं अर्थात् हिमालय के किरात प्रिय हैं । नेपाल में एक किरात जनजाति का नाम किरान्ती है । "किरि" का एक अर्थ "बादल" होता है और

---

1. भारतीय किरात, कु. राय, पृ: 136.

मेघलोक अर्थात् पर्वत चूडा पर अटन करने के कारण इसे किर्याटक > किरात कह सकते हैं । गांगेय संस्कृति आर्य निषाद प्रकृति की है तो हिमालयीय या हैमवन्ती संस्कृति आर्य-किरात । "गंगा" शब्द के मूल में है "किरात-निषाद" विमिश्र - ध्वनि कङ्. {कंग्} । किरात वंश की दो शाखा चीनी-किरात और भोट किरात हैं । भारतीय किरातों में असम के अहोम {ताई - शान वंशीय} और शायद "खामटी" नागा {अन्य नागा नहीं} इस "चीनो किरात" श्रेणी में आती है । अहोमों की संख्या एक मुट्ठी भर है तथा अब वे असमीया बोलते हैं तथा आर्य धर्म के अन्दर आंशिक रूप में अन्तर्भुक्त हैं । अतः "भारतीय किरात" का अर्थ होता है भोट-किरात ।

"गैंडा और चन्द्रमधु" में वैराग्य रस की प्रधानता को व्यक्त करते हैं तथा गैंडे को इस रस का प्रतीक भी मानते हैं । "यूथिका संवाद" में वसन्त ऋतु के मनोरम दृश्यों का चित्रण है । साहित्य में शील-सौन्दर्य और सौन्दर्य बोध की अनिवार्यता को व्यक्त करता है "लौट जा उत्तराफाल्गुनी" शीर्षक निबन्ध । "नीलकंठ उदास" शीर्षक निबन्ध एक अनूढ़े दृश्य को स्पष्ट करता है, ऊपरी स्तर के दुःख और चरम प्रेम पर दृष्टि डालते हैं । "यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्यु :" परिवेशगत निबन्ध है । परिस्थिति में हमारी मानसिक स्थिति का प्रभाव इस निबन्ध में दर्शनीय है । "जीर्णवस्त्र और पापहरा नदी" आधुनिक मानव-समुदाय पर ही दृष्टि डालते हैं । "जीवगृध्र का मेघदूत" पूर्णतः प्रकृति पर डूबता निबन्ध है । दूसरे भाग से किरात संस्कृति पर आधारित निबन्ध प्रारंभित होते हैं । "नौ अक्षरों की विद्या" शीर्षक निबन्ध में निबन्धकार अपने गाँव को चामुण्डी प्रतिमा का परिचय देते हैं और वहाँ के लोगों का विश्वास भी प्रस्तुत हैं । "षोडशी के चरण-कमल" असमिया संस्कृति पर आश्रित है । और इसमें कामाख्या का विशद विश्लेषण करते हैं । "क्षुरस्य धारा ... दुर्गम् पथः" भी कामाख्या का गहन परिचय देते हैं । "विमत्त गयन्त" का विषय आर्येतर संस्कृति का प्रतीक हस्ती है । आगे "कार्तिक-फण्टो के गान" में हाथी पकड़नेवालों के जीवन और उनके लोकगीतों का वर्णन है । "केसर गाथा" में भोट मंगोलीय की वीरगाथा केसर गाथा को प्रस्तुत करते हैं । "भारतीय किरात" में किरात संस्कृति का विशद अध्ययन है तथा किरातों के अनेक नस्लों का परिचय भी देते हैं ।

इस निबन्ध संग्रह के प्रथम भाग के निबन्ध पूर्णतः भावात्मक हैं । इसमें मानवीय गुणों का विभिन्न रूप विभिन्न स्रोतों के द्वारा अभिव्यक्त होता है । भाषा अलंकृत और प्रतीकों से युक्त है । प्रकृति का लयात्मक वर्णन इन निबन्धों की भाषा को विशिष्टता है । दूसरे भाग में किरात संस्कृति और असम के परिवेश का चित्र है । इसमें लोकगीतों, लोकविश्वासों, लोकसंप्रदायों आदि का वर्णन प्रतीकों से अलंकृत है । लोक-संस्कृति की भावमय गरिमा को स्पष्ट करने केलिए रायजी पाठकों से सोधे बात करते हैं तथा लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं । इसमें आँचलिक संस्कृति का वातावरण है ।

निष्कर्ष

इन ललित निबन्धों में आदिम लोक संस्कृति के भाव, गुण, मूल्य तथा उपासना की मूल-प्रकृति का उल्लेख है । देश को विभिन्न जीवन रीतियों में जो मूल एकता है वह प्रत्येक मन में दर्शित है । निषाद, किरात और द्राविडों के विभिन्न अंचलों का विस्तृत परिचय देकर पाठकों को ज्ञान-गरिमा बढ़ायी है । इसमें भी उनकी भाषा में काव्यात्मकता, वैयक्तिकता, अहं का साधारणीकरण और मनोरमता झलकती हैं । इन निरीह जातियों के भोलेपन का सजग चित्र इसका दृष्टान्त है । आदिम संस्कृति के घोड़ा, सूर्य जैसे प्रतीक, विभिन्न संगीतों का उद्भव, विभिन्न मानसिक व्यापारों का उद्गम, मानवीय गुणों का विकास, जंगली जातियों का नवीन संस्कृति में योगदान, शिल्पकला और चित्र कला का प्रचलन, बाँसुरी से निषादों का संबन्ध आदि हमारी आदिमता के श्रेष्ठ पृष्ठ हैं । इसे स्पष्ट करने में इन निबन्धों की भाषा सफल निकली ।

अध्याय - चार

कुबेरनाथ राय के रामकथात्मक ललित निबन्ध

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में रामकथा के अनेक संदर्भों का उल्लेख है । उन्होंने रामकथा के विविध स्रोतों की सहायता लेने का कारण व्यक्त किया है - "समग्र मानवीय स्थिति में यह कथा इसीलिए मूल्यवान है कि इसका स्थायी-भाव जिजीविषा, "करुणा और अभय" का त्रिकोण व्यक्त करता है और सर्वात्मक प्रतिकूल परिस्थिति में भी एक साहस और उत्कट आशा की भंगिमा लेकर यह कथा खड़ी है ।"[1] जिजीविषा जब करुणा-बोध से मिलती है, तब वह मांगलिक होती है । यदि इनमें संकल्प तत्त्व न जुड़े तो ये दोनों मात्र भावावेश बनकर समाप्त होते हैं । साहस के द्वारा संकल्प आता है, जिसका दूसरा नाम है अभय । रामकथा जिजीविषा, करुणा और अभय की कथा है, इसलिए वह आधुनिक संदर्भ में भी आश्वासन और सांत्वना का स्रोत बनती है ।

रायजी के अभिमत में रामकथा का काठ शाश्वत आयुवाला दिव्य तरु है और यह हमारी परमा-स्मृति की ज़मीन पर उगा है तथा इसकी जड़ें हमारी सत्ता के पाताल तक खिंची हैं । इसका बीज़ है हमारी परमा स्मृति का केंद्रीय बीज या प्रतीक "सूर्य" । यह सूर्य निरंतर गति, कर्म और पुरुषार्थयोग का बिंब है । यह जीवन को यज्ञ की तरह जी रहा है और निरासक्त भाव से निरन्तर पुरुषार्थ कर रहा है । सृष्टि के सहस्र वर्णी रूपों का स्रोत इसी सूर्य का तेज है ।

रायजी ने रामकथा के आधार पर दो निबन्ध-संग्रह "महाकवि की तर्जनी" और "त्रेता का बृहत्साम" लिखा है । ललित निबन्धकार मिथकों को पकड़कर वर्तमान के विस्तृत धरातल पर उतरते हैं और उनकी कालजयी भूमिका व्यक्त करते हैं । वर्तमान घटनाओं को पौराणिक संदर्भों के ज़रिये उद्घाटित करना ललित निबन्ध की विशेषता है ।

---

1. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, पृः 1.

अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान है, फिर भी ललित निबन्ध में जितनी स्वतंत्रता से इसका स्पष्टीकरण संभव है उतना, अन्य रचनाओं में संभव नहीं । ललित निबन्ध में निबन्धकार सीधे पाठकों से संवाद करते हैं, विषय का वर्णन करते हैं, व्याख्या करते हैं तथा वैयक्तिक संदर्भों का सामाजिक उद्घाटन करते हैं ।

महाकवि की तर्जनी

"महाकवि की तर्जनी" में रायजी ने मिथक के द्वारा उसके भावात्मक और बौद्धिक आयामों का विस्तार किया । इससे पौराणिक और आधुनिक समाज के संबन्धों की भूमिका व्यक्त है । यहाँ उन्होंने अपने सौन्दर्यबोध को शीलबोध के साथ समन्वित करने केलिए शील सौन्दर्य की मूर्ति श्रीराम को ही प्रस्तुत किया है ।

रायजी की धारणा है कि श्रीराम के समकालीन वाल्मीकि के अलावा अन्य वाल्मीकि भी थे । समकालीन वाल्मीकि भार्गव गोत्रीय ब्राह्मण थे तथा उन्होंने रामकथा को रासक और काव्यनाटिका के रूप में लिखा होगा तथा रत्नाकर या डोम वाल्मीकि रामकथा के लोक कवि थे । "वैसे ही अनेक वाल्मीकि हुए हैं भाषा और संस्कृत दोनों में, और यह परंपरा चालू रही मौर्ययुग के प्रारंभ के आस-पास तक, जब "रामायण" का वर्तमान रूप स्थिर हो गया । इस वर्तमान रूप में इतिहास, मिथक, लोक कथा, और व्यक्तिगत कल्पना की अनेक बहुरूपी परतें हैं, जो सब समन्वित होकर एक अभेद एकता पा गई हैं । वैसे ही एक वाल्मीकि का कवि व्यक्तित्व भी ब्राह्मण-मागध-सूत-डोम आदि बहुवर्णी अनेक वाल्मीकियों के व्यक्तित्वों का निचोड़ या मधु है । यह मधु इतिहास के हृदय-पद्म में शताब्दियों तक बनता-बनता हमारे सम्मुख परोसा गया मौर्ययुग के आस-पास या कुछ पूर्व ।"[1] इसप्रकार निबन्धकार रायजी यह स्थापित करते हैं कि आज हमारे सम्मुख जो रामकथा है, वह अनेक वाल्मीकियों द्वारा पुनः संस्कृत और परिवर्द्धित है । रामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघवम्, पद्मचरिउ और रामचरितमानस से रायजी काफी प्रभावित हैं और यह निबन्ध-संग्रह लिखने के प्रेरणा स्रोत भी ये हैं । रायजी की दृष्टि में वक्रोक्ति के द्वारा राजनीति पर व्यंग्य करने में यह रामकथा धारदार और मारक शक्ति से संपन्न है । इसलिए क्रांतिकारी और रचनात्मक दोनों स्थितियों में इसकी सार्थक और कालजयी भूमिका है ।

---

1. महाकवि की तर्जनी, कु. राय, पृः 218.

रायजी राम को पूर्णावतार मानते हैं । "अवतार वही पूर्ण माना जा सकता है जो रस (सौन्दर्यबोध), नीतिबोध और आत्मिक बोध तीनों दृष्टियों से पूर्ण हो ।"[1] उनके मत में कृष्ण की सारी आत्मिक महिमा व्यास, भीष्मपितामह आदि के द्वारा ऊपर से आरोपित है । व्यक्ति जब किसी महत्तर आदर्श केलिए त्याग, तप और यंत्रणा भोगता है तब उसकी आत्मिक गरिमा बढ़ती है और वह आत्मिक सत्य का उद्घाटन करता है । यह राम, गौतम बुद्ध और जीसस क्राइस्ट में उपलब्ध है । कृष्ण की सारी महिमा का आधार उनकी अलौकिक शक्ति है । राम के "मर्यादा पुरुषोत्तम" "समुद्र जैसा गंभीर" या "हिमालय जैसा धैर्यवान" जैसे विशेषणों से उनकी सगुण आकृति ही स्पष्ट होती है । राधा-कृष्ण उपासना शुद्धतः आध्यात्मिक उपासना है और वह विशिष्ट केलिए है, समूह केलिए नहीं । हम जिस पुरुष को पूर्णावतार कहते हैं, वह सहस्रजनों केलिए आदर्श के रूप में खड़ा होना है ।

"महाकवि की तर्जनी" के निबन्धों को तीन भागों में विभाजित किया गया है - वाल्मीकि संदर्भ, रामायणः छाया-प्रतिछाया और मानस-संदर्भ । पहले ही सूचित किया जा चुका है कि रामकथा के वर्तमान रूप के पीछे विभिन्न वाल्मीकि थे । इनका परिचय और रामकथा की उत्पत्ति तथा विकास का पूर्ण रूप "वाल्मीकि संदर्भ" शीर्षक खंड में मिलता है । पहला निबन्ध "महाकवि की तर्जनी" वास्तव में वह तर्जनी है, जो आधुनिक साहित्यकारों की ओर उन्मुख है । साथ ही विघटित पौराणिक मूल्यों को पुनःप्रतिष्ठित करने तथा नई साहित्यिक सृष्टियों की रचना करने केलिए निबन्धकार उत्सुक हैं । दो आत्मा, ब्राह्मण और निषाद सभी एक-न-एक प्रतीक के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष होते हैं । सर्वत्र रामकथा का संदर्भ संकेत रूप में व्यक्त है । निबन्ध का आरंभ दो आत्माओं के (शब्द और अर्थ के) वार्तालाप से होता है । पौराणिक काल में शब्द और अर्थ की दैविक महत्ता थी । वे दोनों एक नयी कविता और एक नये छंद के निर्माण केलिए संवाद करते हैं । शब्द और अर्थ रामायण महाकाव्य लिखने केलिए उपयुक्त थे, जो कालातीत है । यहाँ निबन्धकार ने अपने भावात्मक और बौद्धिक विचारों का समन्वय किया है ।

---

1. महाकवि की तर्जनी, कु. राय, पृः 220.

इस निबन्ध के दूसरे भाग में एक ब्राह्मण प्रकट होता है, जो "सावित्री मंत्र"[1] जपते रहते हैं । अचानक वह मंत्र भूल गया तथा एक शाखा में बैठे क्रौंच-मिथुन पर ध्यान आकृष्ट हो गया । यह आधुनिक साहित्यकार का प्रतीक है, जो रचना करने के मूड में नहीं । "अच्छा यही मान लो । पर क्या स्मरण नहीं आता, पहचानते नहीं, यह ब्राह्मण है कौन? यह तुम्हारा ही तो भू-पतित अंश है । प्रत्येक कवि ही अब शापभ्रष्ट ब्रह्मा होगा ! और उसमें मैं स्थित होऊँगी "शब्द" बनकर और तुम रहोगे "अर्थ" बनकर ।"[2] यह संवाद शैली ललित निबन्ध की विशेषता है । यहाँ निबन्धकार का अहं बदलकर समाजसापेक्ष हो गया है । शब्द और अर्थ दोनों ब्राह्मण के कण्ठ में प्रवेश करके भविष्य की कविता का निर्माण करते हैं । यहाँ सच्चे साहित्यकार की आत्मीय भावना व्यक्त है । क्रौंच-मिथुन में से एक को मार डालने से क्रोध में आकर ब्राह्मण के कण्ठ से जो "श्लोक"[3] निकला है, वह वाल्मीकि रामायण की रचनाहेतु की ओर संकेत दिलाता है । वर्तमान सामाजिक हलचलों पर साहित्यकार का स्वर यहाँ सुन सकते है ।

निबन्ध के तीसरे भाग में ब्राह्मण रूपी काव्य और निषाद रूपी इतिहास के बीच का संवाद है । हमारी भारतीय संस्कृति का मूल यहाँ दर्शनीय है । आर्य-आर्येतर समन्वित भारतीय संस्कृति यहाँ मूल रूप से प्रकाशित होती है । इतिहास और काव्य दोनों सहचर हैं । "यदि तुम "इतिहास" हो तो मैं हूँ "काव्य" । हम और तुम दोनों सतीर्थ हैं । पर जब तुम विवेक-भ्रष्ट होते हो, राज्यलिप्सा के नाम पर हज़ार-हज़ार मुण्डपात करवाते हो, अर्थलोभ के कारण धरित्री का सारा दान , सारा घृत और मधु चाबियों से ऐंठकर ताले में बंद कर देते हो, शुद्ध काम-लालसा को सभ्यता-संस्कृति कहकर चलाने लगते हो, तो मेरी तर्जनी बिना उठे मानती नहीं, मेरा कंठ एक क्रुद्ध श्लोक बोलने को विकल हो जाता है ।"[4] इतिहास और काव्य का सुदृढ संबन्ध भी साहित्यकार

---

1. "ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्" ।
2. महाकवि की तर्जनी, कु. राय, पृः 6.
3. "मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वती समाः
   यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।"
4. महाकवि की तर्जनी, कु. राय, पृः 7.

द्वारा ही संभव हो सकता है । विवेक-भ्रष्ट समाज पर घोर व्यंग्य करने में यह एक मारक आयुध है । इसमें निबन्धकार की शैली कल्पना में अनुस्यूत रहती है । कल्पना के सहारे रायजी ने सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर अपनी प्रतिभा से विचार किया है । रामकथा का एक संदर्भ अनेक शब्द और भाव बनकर हमारे सामने आता है । मतलब क्रौंच-मिथुन का संदर्भ रायजी की काल्पनिक अनुभूति से सींचकर ललित निबन्ध रूप में पाठकों के सम्मुख आया ।

अगले निबन्ध "वाल्मीक-ढूह में कवि-चक्षु" में "वाल्मीक-ढूह" वर्तमान साहित्यकार की यातना का प्रतीक है । समाज में तरह-तरह के अनुभवों को स्वयं पीकर साहित्यकार बाहरी दुनिया में प्रकट होते हैं । उनकी चमकती हुई दो आँखें उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न का बिंब है । "वाल्मीक-ढूह में चमकती हुई दो आँखें ! यही तो कवि का सच्चा स्वरूप है । प्रत्येक महाकवि ऊपर से चाहे भले ही अन्य कुछ ज्ञात हो, परंतु भीतर-भीतर वह अनुभव-यंत्रणा को पीता हुआ एक नीरस वाल्मीक-ढूह में परिणत हो गया रहता है, भीतर-भीतर यातना की असंख्य वज्रमुखी चींटियां उसे चालती रहती हैं और वह भुरभुरी मृत्तिका की ढ़ेरी में बदल गया होता है ।"[1] यहाँ रायजी ने अपनी वैचारिक और भावात्मक प्रतिभा का समन्वय किया है । वाल्मीक-ढूह की आँखों द्वारा साहित्यकार की चमकती आँख ही हमारे सामने प्रस्तुत है ।

वाल्मीकि की एक संज्ञा "प्राचेतस" है, जो प्रचेता वंश के हैं । "प्रचेता" वरुण की भी एक संज्ञा है । "महाभारत" में भृगु के पुत्र थे च्यवन । इसलिए वाल्मीकि और च्यवन भार्गव वंशीय थे और दोनों प्राचेतस कहे जाते हैं । निबन्धकार की धारणा है कि रामकथा भार्गवों की वंश-परंपरा में सुरक्षित कोई गाथा रही है, जिसका अंतिम संस्करण वाल्मीकि मुनि द्वारा संपादित हुआ होगा । रामायण मूलतः सूर्य गाथा है । सूर्य के दो अयन होते हैं - उत्तरायण और दक्षिणायण । प्रत्येक अयन में वह अपनी द्वादश कला के साथ विहार करता है और इसलिए गायत्री या सावित्री मंत्र को चौबीस अक्षरों में रखा गया है । इसके आधार पर रामायण के वर्तमान संस्करण में चौबीस हज़ार श्लोक हैं । "आदिरामायण" में नये-नये श्लोकों को जोड़कर वर्तमान संस्करण प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. वाल्मीक-ढूह में कवि-चक्षु, कु. राय, पृः 9.

अतः रायजी के मत में "आदिरामायण" के बारह हज़ार श्लोक सूर्य की द्वादश कला के प्रतीक हैं और काव्य का नाम है राम नामक नक्षत्र का अयन, अर्थात् भ्रमण-वृत्त या भ्रमण पथ। निबन्धकार रामायण में सीता, सूर्य और हिम की कथा को देखते हैं। आदिम भारतीय संस्कृति पर वे प्रकाश डालते हैं। "इस सूर्य का स्पष्टतः कृषि से संबन्ध है। कृषि को अपहृत करता है पाला, ओस और हिमपात। सूर्य इनसे युद्ध करता है। कृषि के प्राणों को पकड़कर करता है और जीवन तथा पुष्टि को दाने-दाने के भीतर स्थापित करता है। यह कृषि-लक्ष्मी है सीता।"[1] सीता-लक्ष्मी सूर्य की पत्नी है और सीता-सावित्री उसकी शक्ति। सूर्य विष्णु है और त्रेतायुग में विष्णु का प्रतिनिधि अवतार है राम। "राम" और "सीता" संबन्धी अनेक व्याख्यायें भी इसमें दी गई हैं, जिनकी सहायता उन्हें कामिल बुल्के की "रामकथा" से मिली है। सीता की धान्य-श्री रूप और राम का "अभिराम", सुखद या सोम रूप का परिचय भी देते हैं। सीता, सूर्य और हिम के द्वारा उन्होंने अपनी भावना का विस्तार किया है। प्रतीकों के द्वारा भाषा अधिक गंभीर और अर्थपूर्ण हो गयी।

ललित निबन्ध में वैयक्तिकता की प्रमुखता के कारण आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग प्रायः देख सकते हैं। उत्तम पुरुष के प्रयोग से भाषा स्वाभाविक बनती है। "सुपर्ण वाल्मीकि" शीर्षक निबन्ध इस कोटि का है। इसमें सुपर्ण वाल्मीकि और निबन्धकार का संवाद है। साहित्यकार सदा समाज की समस्याओं के प्रति उत्सुक है। इसलिए रायजी की कल्पना में भी वाल्मीकि, कालिदास, व्यास जैसे महात्माओं की महत्ता की छाया है। सच्चाई को पकड़ने की जिज्ञासा उनमें सर्वत्र विद्यमान है। यह जिज्ञासा इस निबन्ध में व्यक्त है। "आकाश गंगा के तट पर बैठे सुपर्ण नक्षत्र-मंडल के मुख्य तारे ने कड़ककर पूछा - 'तू कौन है' तू किस कवि की आँख है' तू किस युग की कथा में विहार करनेवाला कवि-चक्षु है'"[2] निबन्धकार पाठकों से बातचीत करते हैं, इसलिए उनके बीच कोई दूरी नहीं है। रायजी मानते हैं कि यह "प्रकाश पुंज" शाश्वत सावित्री तेज का प्रतीक है, जो प्रत्येक युग में वाल्मीकि बनकर इतिहास में स्थित होता है

---

1. वाल्मीक-धूह में कवि-चक्षु, कु. राय, पृः 21.
2. सुपर्ण वाल्मीकि, कु. राय, पृः 23.

सुपर्ण नक्षत्र के माध्यम से रायजी सात वाल्मीकियों का परिचय देते हैं। प्रथम वाल्मीकि का नाम कवि है। प्रजापति ही कवि है। "रामायण" की काव्य-रूढ़ि है अपहरण और उद्धार अथवा उपराग और मुक्ति। दूसरा "शुक्र" या "उशना" है। इसके संपूर्ण काव्य में शारीरिक जडता के भीतर अवरुद्ध प्राणशक्ति और सोमशक्ति का आवरण भंग और उद्घाटन है। तीसरा वाल्मीकि तो महर्षि-च्यवन है, जो तपोरत अवस्था में वाल्मीक-धूह में स्थान्तरित हो गए थे। इन्होंने वृत्र द्वारा ऊषा के अपहरण तथा इंद्र-उपेंद्र उसके उद्धार का काव्य मिष्टुप और जगती छंदों में लिखा था। आज यह उपलब्ध नहीं। त्रेतायुग के भार्गव वंशीय प्राचेतस ऋषि चतुर्थ वाल्मीकि है। इन्होंने राम के जीवन की अस्ताचल वेला में ही लघु रामायण की रचना की थी जो कालांतर में सारे रामायणों की आदि बिंदु है। पाँचवें वाल्मीकि सुपर्ण ने रामकथा को मानुषी भाषा यानी प्राकृत वाणी में प्रस्तुत कर लोककंठ में स्थापित किया। छठे वाल्मीकि वैवस्वत मन्वंतर के चौंबीसवें द्वापर में वेदव्यास बनकर अवतरित हुए थे, उनका नाम ऋक्ष वाल्मीकि था। विष्णु पुराण में अट्ठाईस वेदव्यासों की सूची में उनका उल्लेख मिलता है। "रामायण" नाम भी इन्होंने दिया है। इन्होंने प्राचेतस की कथा को भावात्मक विस्तार देकर आदित्य की द्वादश कलाओं के अनुकरण पर उन बारह सौ श्लोकों के मूल काव्य को बारह हज़ार का कर डाला। ऋक्ष वाल्मीकि ने "राम" नामक नायक के भीतर आदित्य और विष्णु के तत्त्वों की स्थापना भी की। कलियुग के बिखराव और महाध्वंस में एक वैकत ब्राह्मण की प्रज्ञा में सरस्वती का उदय हुआ। उसका नाम रत्नाकर था। संस्कृति के भीतर जो जीवन और मृत्यु का युद्ध चल रहा था, उसी का एक अवदान है रामायण। "मेरी अपनी जाति यायावर जाति थी। त्रेतायुग में हमारा काम ही था मानुषी और दैवी गाथाओं का गान। बाद में दोनों को मिलाकर संस्कृत के व्यासों और कवियों ने अनेक पुराणों की रचना कर डाली। हम यायावर ही "अवैदिक" और "लोकायत" के संरक्षक थे। कालांतर में हमारे ही स्थांतर हुए सूत-मागध-भाट-चारण आदि।"[1] हमारे समाज-निर्माण में कवि या साहित्यकार का दायित्व यहाँ दर्शनीय है।

---

1. सुपर्ण वाल्मीकि, कु. राय, पृ: 26.

"सुनता हूँ कि इस सृष्टि में भी एक महाधामिन है जो जीवन-प्राण और रस के चन्द्रमा को गुंजलक में बद्ध करके सारा अमृत-रस चूस रही है और लगता है कि यह तमसा तट की धामिन भी चन्द्रमंडल की ओर उसी लोभ से रह रहकर उछलती है।"[1] यहाँ निबन्धकार आधुनिक सामाजिक परिस्थिति पर विचार करते हैं। मानव अपनी स्वार्थता की रक्षा केलिए अन्याय करने में हिचकते नहीं। "एक पंडित, एक डोम और एक मरी चिडिया" इस तथ्य की ओर संकेत देता है। कोचक डोम कवि और विरही है, रतनार चक्षुओं वाला रतन पंडित तथा इन दोनों की संयुक्त ग्रंथि के रूप में आषाढ़ की घटा-सी श्यामली कन्या लोना महुआ-वन के जीव हैं। ये परस्पर सहयोग से संयुक्त संसार की रचना करते हैं। मायाबंधन के विभिन्न रूप होते हुए भी इनमें सहयोग की भावना है। निबन्धकार रायजी ऐसे एक सहयोगी समाज की स्थापना के स्वप्न में है। निबन्धकार की वैयक्तिक भावना यहाँ दृष्टिगोचर है।

लोकायत रामकथा पर रायजी अपनी निजी भावना का विस्तार करते हैं। प्रचलित रामकथा से भिन्न रायजी का दृष्टिकोण इस निबन्ध में प्रतिपादित रामकथाओं में देख सकते हैं। पहली कथा में भरत का भाई-प्रेम, राम का वन-वास, पादुकायें आदि सभी मूलकथा से संबन्धित हैं। लेकिन कथन की रीति कुछ भिन्न है। निबन्धकार ने पादुकाओं के टूटने से कोई दुर्घटना की सूचना दी है। समुद्र-संतरण की घटना में भी कुछ-कुछ बदलाव आ गया है। नौका-पुल द्वारा भरत ने समुद्र पार किया और रावण का वध किया। यह मूलकथा से कुछ भिन्न है। मूलकथा में नल और नील की सहायता से राम समुद्र पार करते हैं और उन्होंने ही रावण का वध किया।

दूसरी कथा के पात्र राजा, रानी और एक बाज पक्षी हैं। लक्ष्मण के स्थान पर यहाँ बाज पक्षी को रानी की रक्षा केलिए नियुक्त किया गया है। रवनवां ने रानी को उठा लिया तो पक्षी ने रोका। यहाँ हमें जड़ायु की याद आती है। मूलकथा में जड़ायु तो राम को रास्ता दिलाने के बाद मर गया। लेकिन यहाँ बाज-पक्षी समुद्र-संतरण, रानी-मिलन और युद्ध की सहायता भी करता है। एक अन्य कथा में बन्दर स्वयं रानी की रक्षा करता है। बंदर को संकट मोचन नाम भी दिया गया है। हनुमान का एक नाम संकटमोचन है। यह संकटमोचन स्वयं महादेव है। बाकी भाग मूलकथा के समान है।

---

1. एक पंडित, एक डोम और एक मरी चिड़िया, कु. राय, पृ: 31.

फिर जनक की एक कथा है । यह मूल कथा से बहुत भिन्न नहीं है । जनक को धरती माता से पुत्री और धनुष मिलना और जो धनुष को टूटता है, उससे पुत्री को शादी कराना आदि मूलकथा का भाग ही है । हनुमान की कहानी में रङ्गावोर मास्त और अंजना का वीरपुत्र हनुमान ही प्रत्यक्ष होता है । यह कोशल देश के राजा को समुद्र-संतरण में सहायता देता है । इन सबमें रायजी की क्रियात्मक भावना प्रत्यक्ष होती है । मूलकथा के संदर्भ समझने में कोई कठिनाई भी महसूस नहीं होती । रायजी अपनी भावनाओं को सीधे पाठकों तक पहुँचाते हैं और पाठक उनसे तादात्म्य स्थापित करते हैं ।

यह निबन्ध-संग्रह लिखने का उद्देश्य ही कुछ पुरातन मूल्यों को नये संदर्भ में गढ़ित करना है । "ऋतंभरा नदी, इतिहास और वृद्ध कवि में रायजी व्यक्त करते हैं, "इतिहास के साक्ष्य को कल्पना के साथ जोड़ना आवश्यक है । इसके फलस्वरूप जो अनुभव महाकाव्य व्यक्त करेगा वह प्रामाणिक और "दिनांकित" अनुभव होगा, मन्वंतर युग और संवत्सर की मुद्रा उस पर अंकित होगी और देव-दनुज नर-नाग-प्रेत-पितर-गंधर्व सब इसकी प्रामाणिकता के साक्षी होंगे ।"[1] इसलिए महाकाव्य का विषय इतिहास-भुक्त होना चाहिए तथा इससे उसकी भूमिका भी सार्वकालिक होती है । कवि होने पर भी मानुषी भाषा की शक्तियाँ सीमित हैं । विशुद्ध, अविद्ध और एकरस अनुभवी मनुष्य बहुभंगी मन के भीतर उपज ही नहीं पाता, यदि वह योगी न हो, यदि इसके अंदर विशोका चित्तवृत्ति स्थापित न हो पाई हो ।"हवायें मरमर ध्वनि से शाखाओं के बीच गुज़रती हैं और उनकी भाषा को पढ़ने का कष्ट न करके हम कह देते हैं कि "कोमल समीरण" या "क्षुद्र प्रभंजन" चालू है । हम यदि चेष्टा करें तो इनमें एक भिन्न लीला का आविष्कार करेंगे ।"[2] निबन्धकार का कवि-मन यहाँ स्पष्ट होता है । काव्यात्मक भाषा ललित निबन्ध की एक विशेषता है, जिससे भाषा में मनोरमता और लालित्य उत्पन्न होते हैं ।

आगे "रामायण" के प्रमुख प्रसंगों की विस्तृत व्याख्या है । "ऋत और मधु का महाकाव्य" में रायजी ने रामायण को "ऋत का महाकाव्य" कहा है । "ऋत"

---

1. ऋतंभरा नदी, इतिहास और वृद्ध कवि, कु. राय, पृ: 57.
2. वही - पृ: 51.

शब्द के अर्थों का परिचय भी वे देते हैं । किसी एक शब्द को लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या करना रायजी के ललित निबन्धों की एक विशेषता है । "ऋत" का एक नाम मर्यादा है । रामायण का नायक राम मर्यादापुरुषोत्तम है । "ऋत के ही पालन करने केलिए राम ने वनवास का वरण किया । ऋत के ही पालन करने केलिए राम ने सीता को निष्कासित करके वनवास से भी गहरी व्यथा को भोगा । रामायण में किसी के क्रिया - कलापों को कसौटी व्यक्ति का सुख-दुःख या औचित्य-अनौचित्य नहीं । वह कसौटी है "ऋत", जिस पर व्यक्ति, समाज और इतिहास का भावी जीवन और वर्तमान दोनों आश्रित हैं ।"[1] रामायण की कालजयी भूमिका यहाँ प्रत्यक्ष है । समाज-सापेक्ष सुख-दुःख ही इसमें व्याप्त है । वैयक्तिक विचार समाज की समस्याओं की ओर संकेत करता है । यह साहित्यकार का दायित्व भी है । "ऋत" एक व्यापक शब्द है, यज्ञ, सत्य, जल, जीवनी-शक्ति, कल्पविधि, धर्म और मर्यादा इसके अर्थ हैं । "रामायण" का आदर्श है समिधा की तरह ज्वलंत होकर जीना, सोम की तरह मधुभाव से जीना यजमान की तरह उदार और समर्पणकामी बनना, यज्ञवेदी की तरह सहनशील होना, तथा मंत्र की तरह व्यापक, उदात्त और देव संपृक्त होना । आस्थाहीन आधुनिक समाज में इन आदर्शों को पुनर्गढ़ित करने का प्रयास अनिवार्य ही है । यहाँ रायजी ने अपनी वैयक्तिक भावनाओं को समाज के उज्ज्वल भविष्य केलिए प्रयुक्त किया है

हमारे इस समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित कलाओं तथा साहित्यों में रुचि कम होती जा रही है । रायजी के मत में कालिदास की श्रेष्ठ रचना "रघुवंशम्" भी इसी कारण से अन्य रचनाओं के समान पढ़ी नहीं जाती । "रघुवंशम् की कीर्ति-बांसुरी" शीर्षक इस निबन्ध में निबन्धकार ने रघुकुल के वंशगत शील तथा आध्यात्मिक मूल्यों का उद्घाटन किया है । "रघुवंश का यह वंशगत "शील" कुछ विशिष्ट नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित है और रघुवंश के पुरुष गण जब तक इस शील के विपरीत जाकर किसी प्रगतिशील के शिकार नहीं होते तब तक उनकी महिमा अक्षुण्ण रही है ।"[2] वर्तमान समाज को नैतिक मूल्यों के प्रति ध्यान आकर्षित करना निबन्धकार का उद्देश्य है । यहाँ रायजी के भावात्मक बौद्धिक आयामों के

---

1. ऋत और मधु का महाकाव्य, कु. राय, पृः 67.
2. रघुवंशम् की कीर्ति-बांसुरी, कु. राय, पृः 72.

गहनतम मूल्यों का समन्वय देख सकते हैं । दिलीप शील-बल के प्रतीक हैं तो रघु बाहु-बल के और रामचन्द्र में दोनों की चरम गरिमा होते हुए भी वे शील-बल पर निर्भर रहते थे । राम, लक्ष्मण, भरत और सीता मनुष्य वर्ग की आन्तरिक महिमा के उच्चतम प्रकाश हैं ।

"उत्तरार्द्ध चरित" शीर्षक निबन्ध में निबन्धकार यह स्पष्ट करते हैं कि नागरिक परिवेश और नैसर्गिक परिवेश में एक स्वभावगत अन्तर है । नैसर्गिक परिवेश से आज समाज में एक उपेक्षा भावना है । इस यांत्रिक युग में शहरीकरण का विकास होना भी स्वाभाविक है । "उत्तर रामचरित" में भी राम अयोध्या के नागरिक परिवेश से पंचवटी के नैसर्गिक परिवेश में आते समय अचानक अपनी प्रिया को याद करते हैं । "राम का मन स्वर्ण है जिसका पुटपाक व्यथा की अग्नि में बन रहा है, ऊपर से बाष्प या धूम्र का कोई चिह्न नहीं, पर भीतर-भीतर सब कुछ दग्ध हो रहा है और अपूर्व अमृतमय भस्म का रूप धारण कर रहा है ।"[1] यह व्यथा समाज में व्याप्त व्यथा है, जिसका अनुभव सभी करते हैं । यहाँ पाठक और निबन्धकार की आत्मीयता बढ़ जाती है । भवभूति के "उत्तर रामचरित" के तृतीय अंक "छाया" के माध्यम से राम पुनःपंचवटी आते हैं । यथार्थ में राम के विषाद का आरंभ उनके जीवन के उत्तरकाल से होता है । शंबूक की हत्या पुरानी यादें आने का निमित्त मात्र है । रायजी के मत में यह छाया अंक के शंबूक प्रसंग अप्रामाणिक है । "मेरी दृढ़ धारणा है कि आदि वाल्मीकि एवं श्रीमद् रामानुजाचार्य के बाद रामकथा के असली मर्म एवं असल "जेनुइन" रूप को पहचाननेवाला तुलसीदास से बढ़कर और कोई नहीं हुआ है ।"[2] आज लोग, चाहें साहित्यकार हो या अध्यापक या कलाकार, एक न-एक व्यवस्था से प्रतिबद्ध रहता है । इसलिए वे अपने कर्म में ईमानदार कैसे बने? अतः रायजी आधुनिक साहित्यकार से कहते हैं, "तुम कभी भी किसी भी "स्थापित व्यवस्था" के प्रति प्रतिबद्ध होकर, उसका पुर्जा बनकर मत खटो, तुम कभी भी अपने आत्मसत्य एवं "स्व" धर्म के प्रति झूठ मत बनो ।

---

1. उत्तरार्द्ध चरित, कु. राय, पृः 91.
2. वही - पृः 97.
3. वही - पृः 98.

रामकथा के द्वारा रायजी ने साहित्यकारों के भविष्य पर काफी ध्यान दिया । इसीलिए उन्होंने कहा रामकथा किसी भी काल या व्यक्ति केलिए अनुयोज्य भूमिका निभाती है । यह व्यक्त करना रायजी के इन ललित निबन्धों का उद्देश्य है । रायजी की भावना में निहित वैचारिक गहनता का प्रमाण है ये निबन्ध ।

"उत्तर राग" शीर्षक निबन्ध में रायजी "उत्तर रामचरित" के राम के दुःख को समाजगत दुःख मानते हैं । इसलिए इसमें निबन्धकार और पाठकों के बीच आत्मीयता का वातावरण है । मिथक के द्वारा सामाजिक स्थितियों का चित्रण करते हैं । ""उत्तर रामचरित" में भवभूति नायक के उत्तर राग के माध्यम से जीवन का एक गंभीर अकाट्य सत्य प्रस्तुत करते हैं । वह यह है कि व्यक्ति चाहे कितना भी क्षमतावान क्यों न हो, निर्वैयक्तिक शक्तियों के सम्मुख उसकी कुछ नहीं चल पाती ।"[1] राम एक ऐसे ही पुरुष थे, इसलिए उत्तर राग की करुणा[2] महान है । रायजी के अभिमत में भवभूति का विरह करुण रस है और वे उत्तर राग के श्रेष्ठ कवि हैं । पूर्वराग के श्रेष्ठ कवि हैं कालिदास, जिसका प्रमाण है "शाकुन्तल" । पूर्वचरित राम के साहस का काव्य है तो, उत्तर चरित उनको तितिक्षा[3] का ।

"फटिक-शिला" शीर्षक निबन्ध में फटिक-शिला पर बैठकर स्मृतियों में डूबे हुए रामचंद्र का चित्र है । परिस्थिति का यह प्रभाव सारे मानवों पर है । पाठक भी इस निबन्ध के साथ अपनी पूर्व स्मृतियों में डूब जाते हैं । यह रायजी की लेखनी की विशेषता है । "लगता है उनकी मर्यादाशील दृष्टि और सौन्दर्य का सूक्ष्मबोध एक ओर तथा भीतर-भीतर सुलगता हुआ दुःख दूसरी ओर परस्पर साथ-साथ सक्रिय हैं ।"[4] राम के मुख में उनकी मर्यादा और प्रकृति के प्रति मोह भी व्यक्त है । इसलिए शील और सौन्दर्य तथा सुलगता हुआ दुःख साथ-साथ सक्रिय हैं ।

---

1. उत्तर राग, कु. राय, पृः 107-108.
2. "पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः"
3. दुःख सहने की क्षमता
4. फटिक-शिला, कु. राय, पृः 117.

रामायण का एक प्रमुख प्रसंग है समुद्र-लंघन । "समुद्र-संतरण" शीर्षक निबन्ध में रायजी इस प्रसंग की महिमा पर ध्यान देते हैं । जाम्बवान हनुमान को शाप-मोक्ष और सुप्त अवस्था का जागरण कर देता है । इस प्रसंग के द्वारा रायजी प्रत्येक पाठक की सुप्तावस्था को दूर करने का प्रयत्न करते हैं । इसकेलिए समुद्र-संतरण द्वारा जंबुक स्वर करते हैं । वाल्मीकि की कविता एक ओर सिंह नाद है तो दूसरी ओर कोकिल का कलकंठ । रायजी रामायण महाकाव्य को ऐसा गंभीर मानते हैं कि महाकाव्य पढ़ना तो सिंह के दहाड़ सुनने के समान है । "महाकवि वाल्मीकि के काव्य का पुण्यस्मरण हमें इतना प्रमादहीन और जागृत कर देता है कि लगता है कि हम भी मारुति की तरह समुद्र-संतरण कर रहे हैं ।"[1] यहाँ भी वातावरण का प्रभाव है । कला से तादात्म्य स्थापित करना रायजी का उद्देश्य है । रायजी स्पष्ट करते हैं कि समुद्र संतरण की कविता सिंह-विक्रम मनवाले कवि की रचना हो सकती है, कोमल मनवाले कवि की नहीं । जाम्बवान अनुभव-वृद्ध परिपक्व प्रज्ञा का प्रतीक है और अतीत मुखी है । साहित्यकार भी अतीतमुखी है, जो समाज को सही मार्ग दिखाता है ।

हमें जीवन में संकल्प और आशा हैं । आशा जब तक सफल नहीं होती तब तक हम भटकते रहते हैं । "अशोक फूल, अब और कितनी रात है?" नामक निबन्ध में रायजी हनुमान के द्वारा हमारी आशा को ही प्रकाशित करते हैं । "हनुमान वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार चित्रित किये गए हैं मानो वे जीवित आशा के प्रतीक हों । मूर्तिमान संकल्प और जीवित आशा दोनों भावों का आधार उन्हीं के चरित्र को बनाया गया है ।"[2] हमारा जीवित लक्ष्य ही यह आशा है । हनुमान को वैष्णव भक्त विभीषण का परिवार ऐसा लगता है किउसके अन्दर एक शीतल धारा बह रही है । सीता की व्यक्तिगत करुणा और धरती की सार्वभौम करुणा का एकीकरण सुन्दरकांड में हो गया है । रायजी स्थापित करते हैं कि दुःख या सुख व्यक्तिगत नहीं समाजगत है । महाकाव्य के प्रारंभ से ही सीता की व्यथा धरती की पीड़ा के समानान्तर चलती है । व्यक्तिगत करुणा निष्क्रिय है पर यह करुणा अन्य केलिए अनुभूत करुणा है तो वह सक्रिय

---

1. समुद्र - संतरण, कु. राय, पृः 124.
2. अशोक फूल, अब और कितनी रात है', कु. राय, पृः 132.

बन जाती है । व्यक्तिगत करुणा का यह सार्वभौमीकरण सुंदरकांड की विशेषता है । रायजी इसके संबन्ध में अपना मत यों प्रकट करते हैं, "इतने बड़े कवि-कर्म के चरम बिंदु पर आकर "सुंदरकांड" लिखा गया है और तीन दिन की घटना पर ही अपनी संपूर्ण काव्य-शक्ति केंद्रीभूत करके वाल्मीकि ने दुःख, अत्याचार, हताशा और करुणा का प्रगाढ़ तहीभूत - पुंजित अनुभव उपस्थित किया है ।"[1] सीता की व्यथा समस्त सृष्टि के पीड़ित सत्य, शिव और सुन्दर की व्यथा का प्रतीक है । रायजी की भावात्मक और आत्मीय भावना इस निबन्ध की विशेषता है । पाठक के सम्मुख सुंदरकांड के द्वारा अपना निजी दुःख प्रत्यक्ष होता है ।

"सुंदरकांड : नाम और बोध" शीर्षक निबन्ध में सुंदरकांड को सुंदर को उपाधि क्यों दी गई ' यहाँ रायजी की वैचारिक अभिव्यक्ति और कुछ जानने की उत्सुकता व्यक्त होती है । सृष्टि में सुंदरता के दो विभाग हैं - रूप सौंदर्य और शील सौंदर्य । वाल्मीकि की दृष्टि में "सौंदर्य" का अर्थ है शील समृद्ध सौंदर्य । "सुंदरकांड में ही रूप-सौंदर्य और शील-सौंदर्य दोनों की तुलनात्मक छवियाँ पास-पास रखी गई हैं । सर्ग-प्रति सर्ग वाल्मीकि रह-रहकर सीता की करुण-सुंदर और शील-समृद्ध छवि प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं ... ।"[2] सुंदरकांड के उत्तरार्ध में हनुमान द्वारा किये गए अग्निदाह दिखाकर लंका के रूप-सौंदर्य का चरम रूप दिखाया गया है । "सुंदरकांड" की सुंदरता "लंका-दहन" प्रसंग पर भी है । निबन्धकार रायजी की दृष्टि में सुंदरकांड को एक खंडकाव्य मान सकते हैं, जिसकी नायिका सीता, नायक हनुमान, प्रतिनायक रावण और कर्म "जानकी शोकनाशनम्" और लंका-दाह । संपूर्ण रामायण में शौर्य और विजय की तीन प्रमुख घटनायें हैं और वे हैं हनुमान द्वारा संपादित लंका-दाह, लक्ष्मण द्वारा संपादित मेघनाद-वध और रामचंद्र द्वारा संपादित रावण-वध । रायजी के वैयक्तिक विचार यहाँ प्रकट होते हैं और सर्जनात्मक प्रतिभा भी स्पष्ट होती है । सुंदरकांड का आरंभ करुणा से शुरु होता है और अन्त शौर्य से । "सुंदरकांड कीसुंदरता की "प्रकृति" व्यक्त होती है

---

1. अशोक फूल, अब और कितनी रात है', कु. राय, पृः 132.
2. सुंदरकांड : नाम और बोध, कु. राय, पृः 147.

सीता के करुण-सुंदर चित्रण के अंदर , तो इसकी सुंदरता का "पुरुष" व्यक्त होता है लंकादहन के शौर्य एवं साहस में ।"[1] रायजी "सुंदरकांड" के नाम पर ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं कि सुंदरकांड इसलिए सुंदर है कि कुसुम के समान करुण-सुकुमार है तो साथ ही वज्रोपम कठोर सुंदर भी है ।

आर्य रामायणों की परंपरा में सर्वप्रथम कविराज माधव कंदली ने असमिया में सातों कांड रामायण की रचना की । इनका परिचय रायजी ने "आधुनिक आर्य भाषाओं, के प्रथम रामायण के कवि : कविराज माधव कंदली" में दिया है । माधव कंदली की यह रामायण वाल्मीकि रामायण का बहुत निकट से अनुसरण करती है । कंदलीजी के राम विष्णु के अवतार मात्र हैं, जबकि तुलसीदासजी के राम ब्रह्मा-विष्णु-महेश से ऊपर के देवता हैं । कंदलीजी ने अपने रामायण में घटनाओं का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है, साथ ही श्लोकों का छायानुवाद भी किया है -

"देशे देशे कलत्राणि, देशे देशे च बान्धवा ।
तं नु देशे पश्यामि च भ्राताः सहोदरः ।"[2]

कंदलीजी ने राम के अवतार तत्व पर ज़ोर न देकर चरित्र को मानवीय धरातल पर उभारने की कोशिश की है । वाल्मीकि ने राम के "मर्यादापुरुषोत्तम" रूप को स्वीकारा है तो कंदलीजी ने उनके विष्णुत्व और मर्यादा पुरुषोत्तम रूप से अधिक पुरुष रूप विशेषकर धीरोदात्त नायक के रूप पर ज़ोर दिया है । सीता का वर्णन रीतिकालीन नायिका की तरह लगता है । रायजी असम के निवासी हैं, इसलिए असमिया साहित्य से उनका लगाव स्वाभाविक है । मूल को कभी न भूलना, यह है इस निबन्ध का उद्देश्य ।

आगे रायजी गोस्वामी तुलसीदास के "रामचरितमानस" के मंगलाचरण के श्लोकों की व्याख्या करते हैं । इस भाग को "मानस-संदर्भ" नाम भी इसलिए दिया गया है । रायजी शीर्षक का नाम देने में अधिक सतर्क हैं । "रामचरितमानस" का आरंभ सरस्वती और गणेश की वन्दना से होता है । सरस्वती सृजन-शक्ति है, उस सृजन की

---

1. सुंदरकांड : नाम और बोध, कु. राय, पृः 155.
2. वाल्मीकि रामायण
   छायानुवाद : "भार्या बन्धु पुत्र मीत पाई जथा जथा ।
   हेन ननु देखें हो सोदर भाई कथा ।।" (कंदली)

अभिव्यक्ति को धारण करना, लिप्यंतर करके उसे स्थिर रखना गणेश का काम है ।[1] जिसप्रकार शक्ति के बिनाशिव शव बनता है, ठीक उसी प्रकार सरस्वती के बिना गणेश का अस्तित्व नहीं । सारस्वत या बौद्धिक कार्यों के संपादन केलिए प्रारंभ में गणेश और सरस्वती की वंदना आवश्यक है । रायजी हमारे पौराणिक मूल्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं । भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में जो सम्मान है, वह यहाँ दर्शनीय है ।

"वैदे वाणी विनायकौ" इस श्लोक का एक अंश है । वर्ण, रस और छंद सरस्वती की सगुण आकृतियाँ हैं तो इनका धारक है त्रिकालव्यापी "वाङ्मय", जिसके प्रतीक हैं गणेश । "वाणी विनायकौ कहकर गोस्वामी तुलसीदास "वाक्" और"वाङ्मय" के परस्पर सम्मिलित अर्धनारीश्वर रूप की ओर इशारा कर रहे हैं ।"[2] "व" जल तत्त्व का प्रतीक है और भक्ति जल तत्त्व है । इसलिए "रामचरितमानस" के प्रथम श्लोक का आदि वर्ण है "व" और अन्तिम वर्ण भी "व" है । जैसे :- प्रारंभिक श्लोक है -

"वर्णानां अर्थ संघानां ...
... वाणी विनायकौ ।।"

अन्तिम श्लोक है -

"श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ।।"

मूल्यों की सुरक्षा का प्रयास "भवानी शंकरौ वंदे" शीर्षक निबन्ध में भी है । "कोई भी सोचता नहीं कि यदि यह चेहरा और ये मूल्य न रहे तो हम मनुष्य नहीं रह जाते हैं क्योंकि चेहरा माने व्यक्तित्व और मूल्य माने संस्कृति-सभ्यता-धर्म-साहित्य-शिल्प-ज्ञान-ध्यान वह सब कुछ, जिनकी आवश्यकता भावी अनीश्वरवादी-समाजवादी मानव समाज में भी कम नहीं रहेगी ।"[3] मनुष्य के टूटे आन्तरिक व्यक्तित्व को स्वस्थ-सरल रूप देना ही आज का काम है । आंतरिक विखण्डन और निर्वासन वर्तमान समाज की

---

1. "वर्णानां अर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ।।"
2. वैदे वाणी विनायकौ, कु. राय, पृः 165.
3. भवानी शंकरौ वंदे, कु. राय, पृः 170.

ट्रैजड़ी है । इस निबन्ध में इच्छा शक्ति को श्रद्धा और विश्वास के माध्यम से चैतन्य युक्त करके ज्ञान और कर्म के बीच प्रस्तुत करते हैं । "ज्ञान मस्तिष्क चिंतित और संचित करता है, कर्म अपने हाथ करते हैं, पर यह दोनों कार्य कराता कौन है' इच्छा के केंद्र में बैठा हुआ ईश्वर या ईश्वरीय शक्ति "क्लीं" कार स्था भगवती शक्ति ।"[1] इस आंतरिक उपचार का प्रधान सूत्र है इच्छा-केंद्र में बैठे ईश्वर और "क्लीं" कार स्था भगवती के प्रति भक्ति ।[2] मूल्य-बोध वास्तव में श्रद्धा-विश्वास का ही नया नाम है । पौराणिक मूल्यों को पकड़कर उनको नये संदर्भ में प्रस्तुत करना ललित निबन्ध की विशेषता है ।

"कवीश्वर कपीश्वरौ" शीर्षक निबन्ध "रामचरितमानस" के मंगलाचरण के चौथा श्लोक कवीश्वर कपीश्वरौ की वंदना पर आधारित है, जो योग मार्ग का द्योतक है ।

"सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ ।
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ ।।"

इसमें कवीश्वर वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान की वंदना है, जिनको तुलसीदासजी ने विशुद्ध विज्ञानी कहा है । ये सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य में विहार करते हैं । हनुमान शाखा मृग हैं और वाल्मीकि कविता-वन के सिंह हैं तथा कविता-शाखा के कोकिल भी । वाल्मीकि कवि हैं और हनुमान अनन्य भक्त । योग-दर्शन के अनुसार समाधि दो प्रकार की हैं - सविकल्प और निर्विकल्प । भक्ति और काव्य दोनों सविकल्प समाधि से संबन्धित हैं । कवि और भक्त को तो भावानुप्रवेश और ध्यान चाहिए । "वंदे बोधमयं नित्यं" में गोस्वामी तुलसीदास भगवान राम और गुरु शिव को वंदना करते हैं ।[3] भगवान भक्त के साथ-साथ भोगते हैं, पर गुरु सारे भोगों का साक्षी और निर्देशक हैं ।

---

1. भवानी शंकरौ वंदे, कु. राय, पृः 173.
2. "भवानी शंकरौ वंदे, श्रद्धा विश्वास रूपिणौ
   याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ।।"
3. "वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम् ।
   यमाश्रितोहि वक्रो पि चन्द्र : सर्वत्रवंद्यते ।।"

युग संदर्भ में "रामचरितमानस" की महत्ता क्या है' इसकी ओर रायजी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । "युग-संदर्भ में मानस" शीर्षक निबन्ध इसका प्रमाण है । आधुनिक युग में जो संत्रास है वह प्राचीनकाल के संत्रास से भिन्न नहीं है । आधुनिक समस्यायें पुरानी समस्याओं से भी बृहत्तर हैं । इसलिए "रामचरितमानस" किसी भी युग की परिस्थितियों के अनुकूल अपना स्थान जमाता है । इसका प्रतिपाद्य विषय है जाति-धर्म-निरपेक्ष आस्तिक मानववाद । "रामचरितमानस पढ़कर जो उपलब्धि होगी वह होगी शुद्धतः मानसिक-आत्मिकबौद्धिक उपलब्धि ।"[1] रामत्व की महिमा यहाँ स्पष्ट है ।

रामायण में प्रतिपादित शील बोध और सौन्दर्य बोध या रस बोध के द्वारा रायजी ने अपने ललित निबन्ध की गरिमा बढ़ाया है । रामकथा के विभिन्न रचयिताओं और रचनाओं की विशिष्टता पर भी उन्होंने ध्यान दिलाया । सब कहीं उनके भाव, जगत और विचारगत अनुभवों का समन्वय है, इसलिए इसमें विषय का व्याख्यात्मक विश्लेषण दिखाई देता है । निबन्धकार ने अपने इस ललित निबन्ध में आत्मीयता की सृष्टि भी की । भाषा व्याख्यात्मक, ललित और मनोरंजक है ।

त्रेता का बृहत्साम

रामायण के शील-बोध के मूल में जो "सौर" प्रकृति है, उसे दृष्टि में रखकर "त्रेता का बृहत्साम" की रचना की गई है । "त्रेता का बृहत्साम" शीर्षक के औचित्य पर रायजी अपना मत यों प्रकट करते हैं । "बृहत्साम" माने महाकाव्य, तब "त्रेता का बृहत्साम" "त्रेतायुग का महाकाव्य" है । सूर्य का साम{गीत} सबसे बडा है, जिसे बृहत्साम कह सकते हैं । विष्णु भी सूर्य ही है, इसलिए विष्णु का साम भी बृहत्साम हो सकता है । त्रेतायुग में विष्णु का प्रतिनिधि अवतार हुआ है रामावतार । अंत में त्रेता का बृहत्साम "रामावतार की कथा" बन गई है । "इस काव्य की अंतर्भूमि के भीतर निहित सूर्य-प्रतीकों और सूर्योपासना के तत्वों का विवेचन अलग से होना चाहिए ।"[2]

---

1. युग-संदर्भ में मानस, कु. राय, पृ: 208.
2. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, अंत में दो शब्द

इससे रामायण की मूल प्रकृति और केन्द्रीय प्रतीक "तूर्य"की स्पष्ट व्याख्या संभव है । इसके अतिरिक्त और भी कुछ महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने इस संग्रह में किया है । कुलमिलाकर रामत्व के तप, संकल्प, पुरुषार्थ, त्याग, ज्ञान और तेज का उद्घाटन ही इसमें दर्शित है ।

"त्रेता का बृहत्साम" तीन भागों में विभाजित है - ललित निबन्ध, सविता-प्रधान महाकाव्य और जीवन-दृष्टि । इन निबन्धों में रायजी ने राम के सौन्दर्य का विश्लेषण किया है । "रामकथा की गहराई और विस्तार को साधन मानकर जिस साध्य को स्थापित करने की चेष्टा यहाँ पर है वह है राम के व्यक्तित्व के तेजस्वी सौन्दर्य का उद्घाटन ।"[1] पहला निबन्ध "रस और लोकोत्तर रस" यह प्रमाणित करता है कि रामायण और वाल्मीकि सदैव सम्मानित हैं । इसमें संवाद शैली के द्वारा रायजी ने अपनी प्रतिभा को प्रतिष्ठित किया है । काक-कोकिल, सिंह-शूकर और मानुष-वनमानुष के संवादों द्वारा प्राचीन संस्कृति की महत्ता पर दृष्टि डाला गया है । "महाकवि की तर्जनी में भी इस संवादशैली ने ललित निबन्ध की गरिमा को विस्तृत पृष्ठभूमि प्रदान को । पक्षी-विरह से रामकथा का जन्म हुआ । यह पक्षी-विरह राम और सीता के वियोग का प्रतीक है । "पक्षी-वियोग तो "सूचक" मात्र है । विस्तार है राम-सीता वियोग । यह तो आदि से अन्त तक बड़ी ही सुन्दर, बड़ी ही वियोगमयी कथा है । पिता-पुत्र वियोग माँ-बेटा वियोग, भाई-भाई वियोग, राजा-प्रजा वियोग, पति-पत्नी वियोग । तरह-तरह के वियोग और तरह-तरह की करुणा ! सारा काव्य ही करुणरस का इंद्रधनुष है ।"[2] वाल्मीकि के सिंहनाद और रामचन्द्र की शीलगत महिमा का विस्तृत विश्लेषण इसमें उपलब्ध है । संस्कृति के मूल में यह महिमा प्रोज्ज्वलित है ।

ईश्वर जब मनुष्य का अवतार लेते हैं तब उन्हें भी मनुष्य के समान अंध-अमोघ नियति भोगना ही पड़ता है । "कठिन भूमि, कोमल पग" में निबन्धकार यह सूचना देते हैं कि जनता की भलाई करनेवाला सदैव स्मरणीय और सम्मानित अवश्य है । आज इस आधुनिक परिस्थिति में ऐसा लगता है कि सम्मान का भाव अदृश्य होता रहता है । शासन वर्ग स्वार्थमोही बन गये तथा जनता से दूर हो गए । राजनीति का इस पर

---

1. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, अंत में दो शब्द
2. रस और लोकोत्तर रस, कु. राय, पृः 21.

काफी प्रभाव है और जनता मत-दान करने की मशीन बन गई है । राम को राज्याभिषेक के दिन वन जाना पड़ा । इस पर सारी प्रकृति भी दुःखित थी । इसका रायजी वर्णन करते हैं । गोमती नदी का एक चित्र यह स्पष्ट करता है - "यह भी संभव है कि नदी ने भावी मनुष्य-जाति के इस आजानुबाहु तीर्थंकर स्वस्थ पुरुष को देख कर श्रद्धा से अपने रूप को समेट लिया हो और इसके उत्तरण केलिए उस बिंदु पर स्वतः एक तीर्थ-घाट रच दिया हो ।"[1] यह सम्मान राम के शील-सौन्दर्य के प्रति हुआ था ।

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के समन्वय का चित्र भी इसमें दर्शित है । नदी रघुकुल की देवी और पुत्री है । रघुगणों के नेतृत्व और निषादों के श्रम के फलस्वरूप, गंगा दूध और मधु की नदी बन गयी है । "गंगा" आर्य संस्कृति की प्रतीक है । रघुगण ने इसको विरचित किया । उनकी ही यह नव्य आर्य संस्कृति आगे चलकर भारतीय संस्कृति हो गई । भारत वर्ष की "भरत" संज्ञा के मूल में है रघुगण । "भरत" नाम के अनेक राजा सूर्यवंश और रघुवंश में हुए । प्रत्येक विषय की विस्तृत व्याख्या, रायजी के ललित निबन्धों की विशेषता है । राम के शील-सौन्दर्य के द्वारा आर्य और आर्येतर संस्कृतियों को प्रत्यक्ष करने का प्रयास भी करते हैं । वे यह स्पष्ट करते हैं कि "सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति की नींव रचते हैं रघुकुल के नव्य आर्य ।"[2] रायजी के मत में ऐतिहासिक दृष्टि से राम और रावण की लड़ाई नव्य आर्य और आदिम आर्य की लड़ाई थी । त्रेता और द्वापर की संस्कृतियाँ बाद में मिलकर एक हो गई हैं । इसे स्पष्ट करने का एक संदर्भ इस निबन्ध में है । वनवास केलिए राम, लक्ष्मण और सीता वन जाते समय उन्होंने व्रजभूमि में एक बालक को खेलते हुए देखा । राम ने अपने दिव्य चक्षु से उसे पहचान लिया और कहा कि द्वापरयुग के अन्त में उसके साथ खेलने को ज़रूर आवें । ऐसे सूक्ष्म संदर्भों का प्रयोग रायजी की सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण है । उनके भावात्मक और वैचारिक विश्लेषण का समन्वय इसमें देख सकते हैं । रायजी के वैयक्तिक विचारों में हमारी संस्कृति की झलक है ।

रामकथा के अन्दर जो सावित्री तत्त्व है उस पर आधारित है "ब्राह्मी लक्ष्मी का महाकाव्य" । "रामकथा सूर्य-कथा है और यह ब्राह्मी श्री का महाकाव्य है ।

---

1. कठिन भूमि, कोमल पत्र, कु. राय, पृः 33.
2. वही - पृः 36.

गायत्री या सावित्री का प्रथम रूप ब्राह्मी विद्या है और उसकी श्री इसके प्रत्येक पृष्ठ पर भासमान है ।"[1] "ब्राह्मी श्री" का अर्थ होता है श्रीविद्या और सावित्रीविद्या । सामवेदियों की मध्याह्न गायत्री लक्ष्मीरूपा होती है । रामायण सावित्री प्रधान काव्य है, श्रीविद्या का काव्य नहीं है । इसी से यहाँ "ब्राह्मी श्री" या "ब्राह्मी लक्ष्मी" का अर्थ सावित्री विद्या है । सीता पराशक्ति का अवतार होने के कारण श्रीविद्या भी है । लेकिन रामायण में उसका ललिता या त्रिपुर सुन्दरी रूप सक्रिय नहीं है । सीता महालक्ष्मी का अवतार है । और वह परासूर्य राम की महामायिनी है, जिसमें सीता {सी} और सावित्री {ता} दोनों तत्वों का समाहार है । पूरा रामायण सूर्य-प्रतीकों से भरा हुआ है, जैसे राम, अयोध्या, सरयू आदि । अयोध्या के देवता सूर्य तथा इंद्र हैं । ये राम-लक्ष्मण के समानान्तर प्रतीक हैं । सरयू माने "सरण्यू" ऊषा का चौथा रूप है । जैसे - ऊषा, सूर्या, वृषाकपि और सरण्यू । "ऊषा" ब्राह्मी गायत्री की प्रतीक है । सूर्य की शक्ति होने से यह सावित्री है । अतः यह वाक् देवी है । वैदिकों ने "वाक्" को जल रूप में देखा है । अतः सरण्यू और सरस्वती नदी नाम भी हैं । यहाँ रायजी ने सावित्री विद्या की व्याख्या विभिन्न स्रोतों से किया है । किसी भी विषय पर गहरा विचार करना उनकी विशेषता है । विषय के अर्थगत गहन संकेत द्वारा उसकी सूक्ष्म और सरल व्याख्या करते हैं ।

हमारी आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह कर्मवादी या पुरुषार्थवादी तो है, परन्तु निरासक्त नहीं । यह घोर आसक्ति-प्रधान संस्कृति है और इसकी आसक्ति आत्मिकता का निषेध बनती जा रही है , इससे मनुष्य का मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाएगा ।"[2] आज समाज से मानविकता नष्ट हो रही है । इस अपरिचित मनुष्यत्व को पुनः प्रतिष्ठित करने केलिए "पंचाप्सर तीर्थ की मार कन्याएं" नामक निबन्ध हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं । अयोध्याकांड" में मांडकर्णी ऋषि और उसकी पाँच मारकन्याओं के काम-विलास का एक प्रसंग है । रामायण निरर्थक और आत्मदाह-मूलक काम-सुख का निषेध करता है । वाल्मीकि इस दृश्य को प्रत्यक्ष प्रस्तुत न करके उसकी

---

1. ब्राह्मी लक्ष्मी का महाकाव्य, कु. राय, पृः 56.
2. पंचाप्सर तीर्थ की मार - कन्यायें, कु. राय, पृः 73.

रोमैंटिकता को लेकर आगे चल जाते थे । क्योंकि महाकाव्यकार का प्रधान गुण संयम और मूल विषय से अधिक विचलित न होना है । उन्होंने पंचाप्सर-लीला जल के भीतर प्रस्तुत किया था । रामकथा में "जल" बहुधर्मी प्रतीक हैं - भक्ति, नारायण की शैया आदि । पंचाप्सर का जल कामना की वारूणी है । मनुष्य के द्वारा रूप, रस, गंध का भोगना पाप नहीं । रायजी यह कहना चाहते हैं कि चारों पुरूषार्थों के सम्मिलित रूप में उपस्थित काम ही सहज और स्वस्थ काम है । चतुर्पुरुषार्थ के संतुलित धर्म की स्थापना केलिए ही राम का अवतार हुआ है । रायजी एक स्वस्थ, और निर्मल समाज के स्वप्न में हैं, जिसमें धर्मों का पालन हो ।

कृत्तिवास के बंगला रामायण से रायजी अधिक प्रभावित हैं । इसका प्रमाण है "अकाल-बोधन" शीर्षक निबन्ध । इसमें श्रीराम की असमय पूजा का चित्र है । यह अकाल-बोधन प्रसंग वाल्मीकि और तुलसी में नहीं, कृत्तिवास के बंगला रामायण में है । "रामकथा सावित्री-प्रधान काव्य है । यह सूर्य-गाथा है । अतः इसके संदर्भ में देवी का महाशारदीया रूप ही युक्तियुक्त होता है । शारदीया अर्थात् शारदा-सावित्री । राम जंबूद्वीप की इसी भगवती की उपासना करते हैं।[1] मुझे यहाँ निरालाजी की "राम की शक्तिपूजा" शीर्षक कविता याद आती है। सीता की अर्द्धप्रकृति "सोमा" का रावण अपहरण कर लेता है, तो उसी की दूसरी प्रकृति तेजोमयी सावित्री को अकाल-बोधन के द्वारा राम जगाते हैं । इसकेलिए राम ने शरद नवरात्र की असमय पूजा कर दी । इस देवी की मूल पूजा वासंती नवरात्र में होती थी । इसी घटना की स्मृति में देवी का दशभुजा रूप आश्विन नवरात्र में पूजा जाता है । विभिन्न रामायण के विविध संदर्भों से सूर्य-प्रतीक को जगाना निबन्धकार का उद्देश्य है । प्रकृति का मनोरंजक वर्णनभीइस निबन्ध के लालित्य को रसमय बनाया [illegible] है ।

आगे रायजी लोकजीवन का उद्घाटन करते हैं । "लोक-देवता श्रीहनुमान" में भारत के आदिम देवता हनुमान की उपासना है । "यह "आदि हनुमद्" आर्यों के इंद्र, विष्णु, सोम, रूद्र के पूर्व ही किन्हीं-किन्हीं दाक्षिणात्य और मध्य भारतीय लोक-समूहों में आराध्य रहे हैं महायक्ष या महादेवता के रूप में ।"[2] हनुमान वृषाकपि आकृति के हैं ।

---

1. अकाल-बोधन, कु. राय, पृः 78.
2. लोक-देवता श्रीहनुमान, कु. राय, पृः 82.

यह वृषाकपि शब्द सूर्य और विष्णु केलिए भी प्रयुक्त होता है । आणुमंड से हाणुमंड और फिर हनुमंत । रायजी के मत में "हनुमान" ही मूल शब्द है । "आणु अर्थात् "पुरूष" का "हनु" तो ठीक है । "मान्" है स्थांतर "माल" का । "माल" का तमिल में अर्थ होता है नायक, वीर और विष्णु । "आणुमाल" अर्थात् वीर पुरूष या सेनापति । ... अतः आणुमाल का परिवर्ती रूप है "हाणुमाल" और फिर "हनुमान" ।"[1] हनुमान की कथा आर्येतर लोक संस्कृति से आयी है । ये भी आर्येतर संस्कृति से आकर बाद में भारतीय संस्कृति के अंग बन गए । इसलिए रायजी कहते हैं, "हनुमान को ठीक से समझने का अर्थ है भारतीय इतिहास की विराट् और उदार चेतना तथा समन्वय दृष्टि को समझना । वे एक महान् लोकदेवता ही नहीं, हमारे आर्य-आर्येतर समन्वित जीवन के महाप्रतीक हैं ।"[2] रायजी मानते हैं कि यदि रामचंद्र इस देश के चिन्मय रूप वेदांत के प्रतीक हैं तो हनुमान इस देश के शाश्वत रूप अविच्छिन्न भारतीय इतिहास के प्रतीक हैं । यहाँ भी हमारी सांस्कृतिक गरिमा बढ़ गई है ।

आगे सविता तत्त्व का विस्तृत विश्लेषण है । सृष्टि का प्रथम नायक सविता या सूर्य और नायिका ऊषा या श्री है । "प्रथम नायक और प्रथम नायिका" में इस सविता-तत्त्व का ही उल्लेख है । रामकथा की प्रकृति सूर्य-प्रधान है । आर्य एवं आर्येतर लोक-कल्पना ने रात्रि और ऊषा को देवता के रूप में देखा था । ऊषा का विकसित रूप "श्री" और "सावित्री" दोनों हैं । "सृष्टि का प्रथम स्पंदन है - द्युमण्डल का उद्भव, उसका सगुण अधिदेवता है सविता । द्वितीय है - अन्तरिक्ष मण्डल । उसमें ही देवलोक और पितरलोक हैं । इनका अधिदेवता है - इंद्र और सोम । तृतीय है - पार्थिव मण्डल । इसका अधिदेवता है अग्नि । एक ही सविता "स्वः" (द्यु) में सविता "भुवः" (अंतरिक्ष) में इंद्र, सोम और भू (पृथ्वी) में अग्नि बनकर स्थित है । एक ही सविता की शक्ति "स्वः" "भुवः" "भू" में भिन्न-भिन्न नाम रूपों में स्थित है ।"[3]

---

1. लोक-देवता श्रीहनुमान, कु. राय, पृः 86.
2. वही ।
3. प्रथम नायक और प्रथम नायिका, कु. राय, पृः 94.

लोकायत आचारों और विचारों पर रायजी ज़ोर देते हैं । निषादों की कल्पना के अनुसार सृष्टि "चंद्रा" है जो अमावस्या और पूर्णिमा दो स्थों में स्थित है । बाद में आगम शास्त्र में "श्री विद्या" के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । आर्यों ने "ऊषा" और आर्येतर "चंद्रा" के मिश्रण से "श्री" की कल्पना की । "ऊषा" का ही विकसित रूप है "श्री" । सीता धरती से बृहत्तर प्रतीक है । वह "श्री" रूपा है । रायजी कहते हैं कि रामकथा का द्वंद्व सविता के द्युमंडल का द्वंद्व है और यह सविता-प्रधान महाकाव्य है । इसमें सावित्री के चार रूप प्रस्तुत किया गया है - अहल्या {प्रातः उषा या गायत्री}, सीता {मध्याह्न वैष्णवी}, अनसूय्या {सांध्य रुद्राणी}, त्रिजटा {रात्रि सूर्य की सहचारिणी तुरीया सावित्री} । उर्वशी भी ऊषा का संस्करण है । "उर्वशी एक अप्सरा है । परन्तु अमृतमंथन के समय उत्पन्न अंतरिक्ष मण्डल की सप्त अप्सराओं से भिन्न वह सौर "अपमण्डल" से निकली है । वह भी है आदि ऊषा का ही एक संस्करण ।"[1] सृष्टि के उद्भव के क्षण में ही सृष्टि के उद्भास के रूप में आदिम ऊषा का उदय हुआ । आर्यों के मूलस्थान धुंध और तमस् को काटकर सूर्य-किरण सृष्टि के प्रसव का रूपक रचती थी । रायजी इसमें व्यक्त करते हैं कि प्रथम नायक सगुण सृष्टि का प्रथम देवता परासूर्य {सविता} है और प्रथम नायिका उस सृष्टि की आदि ऊषा अर्थात् श्री है । हमारे अपरिचित सविता और ऊषा के विभिन्न तत्त्वों का परिचय रायजी ने सूक्ष्म दृष्टि से किया है । पाठकों को सरल भाषा में और मनोरम तथा बौद्धिक विचारों के ज़रिये ये सब समझाते हैं ।

"ऊषा और अहल्या" शीर्षक निबन्ध में रायजी यह सूचना देते हैं कि राम की अंतर्शक्ति सावित्री के जागरण केलिए और ब्राह्मी गायत्री की जड़ता को दूर करने केलिए राम और अहल्या का आपसी मिलन अनिवार्य था । "अहल्या भी मूल रूप से "उषा" है । यह प्रातः की ब्राह्मी गायत्री का प्रतीक है ।"[2] आर्यों की भी अपनी अभिजात वैदिक संस्कृति के साथ एक लोकायत संस्कृति थी । अहल्या की कथा भी इसी आर्य लोक-संस्कृति का अंग थी । आर्य लोकायत की आगम प्रधान उपासना के केन्द्र में थी "ऊषा" जो आर्य धर्म की आदिम नारी-देवी है । "रामकथा नव्य आर्यकथा होते हुए भी मूलतः आर्य-कथा ही है जो आदिम आर्य के जातीय मानस के सनातन बिंबों से जुड़ी हुई है ।"[3] "अहल्या" शब्द का विस्तृत परिचय भी रायजी ने दिया है । यह

---

1. प्रथम नायक और प्रथम नायिका, कु. राय, पृः 103.
2. उषा और अहल्या, कु. राय, पृः 105.
3. वही - पृः 108.

उनके अधिकांश निबन्धों की विशेषता है । दिन में जिसका लोप होता है अर्थात् "ऊषा", दिन का इसमें लोप होता है मतलब संध्या । ये दोनों सूर्य से इसका संबन्ध व्यक्त करते हैं । एक अन्य अर्थ "कुमारी" भी है, जो पाप से अविद्ध । "अहल्या" का एक और अर्थ है त्रुटि या दोष से रहित । अहल्या को मैत्रेयी भी कहा जाता है, अर्थात् मित्र की पुत्री । मित्र माने सूर्य । अतः सूर्य की पुत्री है । पौराणिक परंपरा में अहल्या ब्रह्मा की मानसी कन्या है ।

"सीता - सावित्री" शीर्षक निबन्ध यह प्रस्तुत करता है कि रामायण मूल रूप में "अपहरण-उद्धार" की कथा रूढि पर आश्रित एक ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक चरित काव्य है और इसकी ऐतिहासिकता का मूल रूप है लोकानुश्रुति । "आदिकाल में साहित्य और संस्कृति व्यक्ति निष्ठ न होकर "समूह की समूह द्वारा एवं समूह केलिए" होते हैं और व्यक्तिगत प्रतिभा एवं समूह मन में अति घनिष्ठ संबन्ध होता है, जो आधुनिक युग के व्यक्तिवादी साहित्य और संस्कृति की सृजन शैली में प्राप्त नहीं होता ।"[1] इसलिए रायजी के मत में रामायण निर्वैयक्तिक काव्य है । "रामायण या कोई भी आदिकालीन महाकाव्य कमोवेश निर्वैयक्तिक {अपौरुषेय} स्वभाववाली रचना ही होगा । फिर रामायण-महाभारत तो विकासमान काव्य रहे हैं जो शताब्दी-दर-शताब्दी अर्थ के नये-नये स्तरों को अपने भीतर अंतर्भुक्त करके विकसित होते रहे हैं ।"[2] रायजी ने रामायण की अंतर्भूमि में दिव्य प्रतीकों का प्रयोग करके उसकी गरिमा को बढ़ा दिया । इसमें वर्णित उपासना पद्धति मूलतः सावित्री और आदित्य की उपासना ही है । निबन्धकार रायजी ने रामकथा के "पौलस्त्य वध" नामक प्रसंग की देवासुर संग्राम से तुलना की है तथा राम को प्रच्छन्न इंद्र भी कहा है । इंद्र ने स्वराज्य और अमृत के उद्धार केलिए लडा, जिसे असुरों ने अपहृत कर लिया था । रामकथा में अमृत और स्वराज्य के स्थान पर "सीता" है । रायजी की सृजनात्मक भावना और उसकी अर्थ-व्याप्ति यहाँ दर्शित है ।

---

1. सीता-सावित्री, कु. राय, पृः 113.
2. वही - पृः 113.

रामायण अनासक्त पुरुषार्थ योग का महाकाव्य है । गृहस्थ-धर्म अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के समन्वय से उत्पन्न पुरुषार्थ धर्म है । "अनसूया प्रसंग" में निबन्धकार रामायण के एक प्रमुख प्रसंग का परिचय देते हैं । सीता के चरित्र का मुख्य अंग है सतीधर्म । "वाल्मीकि रामायण में गीता §जीवन-शास्त्र के अर्थ में§ प्रस्तुत है अयोध्याकांड के अन्त में §चित्रकूट सभा" और "अनसूया प्रसंग" के रूप में । यह गार्हस्थ्य का महाकाव्य है और गार्हस्थ्य का चतुर्पुरुषार्थ योग अर्थ, धर्म, काम और भक्ति द्वारा रचा जाता है ।"[1] राम को अहल्या का दर्शन जितना अनिवार्य था, उतना अनसूया का दर्शन सीता केलिए आवश्यक था । सीता के मानवी देह में बैठी महामाधवी शक्ति को जगाने केलिए अनसूया के दिव्य अलंकरण की ज़रूरत थी । "सीते देखो, सायंकाल बीत रहा है । रात्रि का आगमन होनेवाला है ।"[2] सीता की रात्रि उसके हरण की सूचना देती है । अरण्यकांड से रात्रि का आरंभ होता है और सुंदरकांड इस रात्रि का निशीथ है और पौलस्त्य वध के बाद रात्रि का अंत भी होता है । "सीता की ही तरह अनसूया भी "श्री" या त्रिपुरसुंदरी के महावृद्धा रूप अर्थात् आदि महामाया की भी प्रतीक है । श्री अथवा त्रिपुरसुंदरी का षोडशी रूप सीता व्यक्त करती है तो महावृद्धा रूप अनसूया ।"[3] अनसूया के श्री और त्रिपुरसुंदरी रूप का उद्घाटन ही इस निबन्ध का उद्देश्य है जिसका सीता के साथ संबन्ध है ।

"त्रिजटा-स्वप्न" में सुंदरकांड के त्रिजटा-प्रसंग का उल्लेख है । दिवस सूर्य की सावित्री के तीन रूप हैं अहल्या, सीता और अनसूया तथा रात्रि सूर्य की सावित्री केवल एक है और वह है त्रिजटा । दिवस सूर्य की सावित्री के प्रातः मध्याह्न, संध्यावाले तीन रूप हैं । परन्तु रात्रि सूर्य की सावित्री एक है अतः वह "त्रिशीर्ष" यानी तीन जटावाली है जिसमें उसके तीनों रूपों का समाहार माना जा सकता है । सगुण दृष्टि से यह ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर की त्रिशक्तियों का एक आकृति में समाहार है और निर्गुण दृष्टि से यह अरूप या तुरिया है जिसे योगीगण ध्यानलब्ध करते हैं ।"[4] राम-कथा में चारों सावित्री रूपों की स्थापना है - प्रातः रूप अहल्या, मध्याह्न रूप सीता, सांध्य रूप अनसूया और निशीथकालीन रूप त्रिजटा ।

---

1. अनसूया प्रसंग, कु. राय, पृः 128.
2. वही - पृः 131.
3. वही - पृः 124.
4. त्रिजटा-स्वप्न, कु. राय, पृः 141.

रामायण को "काव्य बीजं सनातनम्" नाम कितना उचित लगता है, वही इस "काव्य बीजं सनातनम्" शीर्षक निबन्ध का विषय है । सामवेदियों की "छांदोग्य उपनिषद्" परा सूर्य की कीर्ति उद्गीथ-विद्या और मधु-विद्या के माध्यम से करता है । "जब "रामायण" को "काव्य बीजं सनातनम्" का उपबृंहण कहा जाता है तो इस कथन का सटीक मर्म हमें सामवेदीय छांदस परंपरा और छांदोग्य-चिंतन के संदर्भों के भीतर ही प्राप्त होगा ।"[1] वाल्मीकि छांदोग्य परंपरा से जुडे हुए हैं । रायजी स्पष्ट करते हैं कि समस्त प्रकृति में रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द के रूपों-प्रतिरूपों में जो समन्वित "छंद" या "उद्गीथ" चल रहा है, वही है सूर्य का बृहत्साम । यह उद्गीथ ही भवति को अस्ति से जोड़ता है और मनुष्य को ईश्वर से । छांदोग्य की उद्गीथ अवधारणा मात्र ध्वनिमूलक नहीं, बल्कि वह इसके भीतर समस्त आकृति-छंदों और क्रिया छंदों की लयात्मक स्वरूपता का मूल देखता है । श्रुति के अनुसार काव्य या उद्गीथ का सनातन बीज, सनातन उत्स और सनातन नायक है सूर्यमंडल का अधिदेवता तथा सनातन नायिका है सावित्री या ऊषा । स्मृति-पथ पर रामायण के चरित्र "अस्ति" के स्थायी, नित्य और विकारहीन मूल्यों को लेकर आते हैं । रामकथा "रसो वै सः" की कथा है । सारे रसों का रस है शान्त रस, शिव और अद्वैत की भूमि का रस । रामायण का रस रामत्व संज्ञा का रस है । रायजी के अभिमत में कथा के आख्यान की दृष्टि से भी रामायण का "काव्य बीजं सनातनम्" नाम उचित है । इस निबन्ध की प्रकृति प्रबन्ध जैसी है ।

इस निबन्ध-संग्रह के तीसरे भाग के निबन्ध चित्रकूट प्रसंग पर आधारित है । रामायण की प्रकृति रसात्मक और नैतिक है, इसलिए इसे 'काव्य बीजं सनातनम्' का काव्य कहा गया है । महाभारत की प्रकृति दार्शनिक है । रामायण की गीता अनासक्त पुरुषार्थयोग की गीता है तो महाभारत की गीता निष्काम कर्मयोग की । "अनासक्त पुरुषार्थयोग" शीर्षक निबन्ध में यह स्पष्ट है कि आम आदमी केलिए रामायण की गीता ही असली गीता है । क्योंकि "रामायण के अनासक्त पुरुषार्थयोग के ऊपर आधारित होकर हम किसी व्यक्ति, परिवार या राष्ट्र की संरचना कर सकते हैं ।"[2] रामायण के

---

1. काव्य बीजं सनातनम्, कु. राय, पृः 147.
2. अनासक्त पुरुषार्थयोग, कु. राय, पृः 167.

भावात्मक और वैचारिक उद्देश्यों पर रायजी दृष्टि डालते हैं । इसमें सामूहिक और व्यक्तिगत विषाद हैं । सामूहिक विषाद है अराजकता का दुःस्वप्न (सही राजा के अभाव में देश का नाश होने का दुःख) और व्यक्तिगत विषाद है भरत की आत्मग्लानि (राम को निष्कासित करने से उत्पन्न पीड़ा) । रामायण वैचारिक स्तर पर सत्य-रक्षा और धर्म-स्थापना का महाकाव्य है और भावात्मक स्तर पर सहोदर-प्रेम और दांपत्य-प्रेम का महाकाव्य । रायजी का अपना विश्वास है कि गाँधी जी अनासक्त पुरुषार्थयोगी थे । वे राम को आदर्श पुरुष मानकर अपना कार्य करते थे । रायजी इस जीवन-दर्शन को पाठकों के सामने रखकर उन्हें जगाने का प्रयास करते हैं ।

आज पूरे देश में अराजकता है । विवेकशील शासन कर्ताओं के अभाव में देश अस्वस्थ बन रहा है । "अराजकता का दुःस्वप्न" शीर्षक निबन्ध इस तथ्य के प्रकाशन केलिए लिखा गया है । आज तो समाज में शासन कर्ता अवश्य हैं, लेकिन उनमें मानविकता और कर्म करने की उत्सुकता नहीं, सब कहीं राजनीति का हाथ है । फिर देश की उन्नति संकट में है । इस निबन्ध में राजा दशरथ की मृत्यु के बाद देश में जो अराजक स्थिति का आविर्भाव हुआ, उसका चित्रण है । "जिसप्रकार सनातन मूल्यों की अंतिम मुक्ति और अंतिम प्रमाण "ईश्वर" है वैसे ही लौकिक मूल्यों का अंतिम प्रमाण और मूलभूत धारक राजसत्ता या राजा ही होता है ।"[1] अवश्य ही राजा या राजसत्ता की मृत्यु से देश अराजकता की स्थिति में पहुँचता है । जनता, जो शासन वर्ग पर अपनी भलाई की प्रतीक्षा करती हैं तथा देश के विकास का स्वप्न देखती है, वे आश्रयहीन हो जाती है । अराजक देश में बाहरी आक्रमण का भय सदैव होता है, सभा-गृह और पंचायत-भवन नहीं बनवाता; धर्मशालायें नहीं बनतीं, धनी का धन सुरक्षित नहीं रहता, मनुष्य की किसी भी वस्तु अपनी नहीं होती । ऐसी स्थिति में देश का विकास और प्रजा की रक्षा कभी भी संभव नहीं । अराजक देश के सैनिक बाहरी शक्ति के आक्रमण को रोकने की स्थिति में नहीं होंगे । अयोध्या में रावण के आक्रमण का भय है । धर्म और अधर्म के बीच की लड़ाई का भय है । रायजी राजा को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं । यम, इंद्र, वरुण और कुबेर इन चारों से अधिक श्रेष्ठतर है राजा, क्योंकि "यमराज केवल दंड देते हैं, इंद्र केवल

---

1. अराजकता का दुःस्वप्न, कु. राय, पृः 171.

पालन करते हैं । कुबेर केवल धनद हैं और वरुण केवल सदाचार का नियंत्रण करते हैं । परंतु राजा यम, इंद्र, वरुण, कुबेर इन चारों के कर्मों का अकेले वहन करता है, अतः वह इन चारों से विशिष्टतर है ।"[1] अराजकता के दुःस्वप्न में मनुष्य की रक्षा करनेवाली दो शक्तियाँ हैं - लोकशक्ति और धर्मबोध तथा सही और गलत को पहचानने का बोध ।

अगले निबन्ध "भरत की आत्मग्लानि" में निबन्धकार वर्तमान राजनीतिज्ञों का संकेत देते हैं । वर्तमान राजनीति में शासन करने की कुशलता नहीं, बल्कि अधिकार की लालसा है । अराजकता का संत्रास और भरत की आत्मग्लानि दोनों प्रसंग रामायण के विषादयोग की दो पहलू हैं । अराजकता के संत्रास का समाधान शील है तथा भरत की निराशा का समाधान भक्ति । रायजी राम को शील का प्रतीक मानते हैं और भरत को भक्ति का प्रतीक । "रामायण की यह विशिष्टता है कि गंभीर एवं सूक्ष्म भावों के गुंफों के भीतर भी प्रत्येक प्रसंग में यह महाकाव्य अपनी शीलाचारिकी {इथिक्स} को बुनता चलता है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक संदर्भ में तुलसी अपने "मानस" में भक्ति के सूत्र पिरोते चलते हैं ।"[2] भरत की आत्मग्लानि का चरम रूप वहाँ व्यक्त होता है जहाँ वह राम की वनवासयात्रा के बाद कौसल्या का दर्शन करता है । निबन्ध में यह स्पष्ट होता है कि ग्लानि और शोक का प्रसंग वाल्मीकि के भावात्मक दृष्टिकोण का निदर्शन है । भरत के व्यक्तित्व पर एक दृष्टि यों प्रकट है - "माँ, यदि मेरी कोई सम्मति हो इस पाप-कृत्य में, तो मुझे वही गति मिले जो महा अधम, घोर से घोर पातकी को मिलती है ।"[3]

इस निबन्ध में रायजी वाल्मीकि और तुलसी की महत्ता को व्यक्त करते हैं । वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने चित्रकूट-प्रसंग को महाकाव्य का एक चरम बिंदु बना दिया । दोनों भिन्न रुचिवाले हैं, इसलिए चित्रण में भिन्नता आ गयी है । "वाल्मीकि इसे सामूहिक मूल्यों और आदर्शों की गीता के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो तुलसी भक्ति के चरम आदर्श, भक्ति की सिद्धावस्था के प्रतीक भरत के मनोमय व्यक्तित्व को पंखानुपंख प्रस्तुत करने में अपनी कारयित्री प्रतिभा का चरम रूप उपस्थित करते हैं ।"[4] तुलसी ने वाल्मीकि के चित्रकूट-प्रसंग के पुरुषार्थयोग और शील-योग में भक्ति-योग का आयाम भी जुड़ा है ।

---

1. अराजकता का दुःस्वप्न, कु. राय, पृः 173.
2. भरत की आत्मग्लानि, कु. राय, पृः 177.
3. वही - पृः 175.
4. वही - पृः 178.

शासकों को कर्मोन्मुख बनाना देश के विकास की अनिवार्य बात है । "महाप्राज्ञ भरत, जगे हुए हो न?" में निबन्धकार ने राम द्वारा भरत को जगाने का प्रयास भी इसीलिए किया है । रायजी समाज से बातें करते हैं और बहुत कुछ समझाते हैं भी । सही रूप से शासन करना ही शासक का कर्तव्य है, इसकेलिए सुप्त अवस्था से जागृत होकर कर्मनिरत होना चाहिए । राजा के उत्तरदायित्व पर भी ज़ोर देते हैं । उत्तम मंत्रियों की नियुक्ति, दूसरों की राय लेने के बाद किसी कार्य पर निर्णय करना, पंडितों से उपदेश लेना, प्रजा से अधिक कर वसूल न करना, बलशाली योद्धाओं का आदर करना, आस्तिक ब्राह्मणों के उपदेश स्वीकार करना, स्त्रियों को प्रसन्न रखना, वृद्ध, बालक आदि से उदार व्यवहार करना कठोर वचन कभी भी न कहना आदि । "आज के युग में जब भारतीय राजनीति में "शील" केलिए कोई जगह नहीं रह गयी है और उसका स्थान शुद्ध "कूटनीति" ने ले लिया है, ये प्रश्न रामचंद्र के वर्तमान भारतीय उत्तराधिकारी राजनीतिज्ञों के मुंह पर तमाचे लगाते ज्ञात होते हैं ।"[1]

अगले निबन्ध भवन्ति-प्रवाह में स्थित शील-चेतना" में यह सूचना देते हैं कि मृत्यु में शोक करना व्यर्थ है । जो जीवन को सही ढंग से न जिया, उसकेलिए मरण शोचनीय है । ऐसा कहकर रामचंद्र कालचक्र और नियति के सिद्धान्त में शील की अवधारणा जोड़ते हैं । "अतः लोक में आत्मिक सुख और परलोक में "ब्रह्मलोक विहार" की दैवी ऋद्धि देनेवाली जीवन-पद्धति से जियो, अपने या अन्य के मरण की चिन्ता से निर्लिप्त रहकर ।"[2] दुःख में व्यथा न कहना और प्रिय वस्तु की प्राप्ति में अधिक उल्लसित न होना चाहिए ।

आधुनिक राजनीति पर एक निबन्ध है "त्रेता के दर्पण में आधुनिक बुद्धिवाद"। इसकेलिए रामायण के जाबाली-प्रसंग को ही रायजी ने लिया है । जाबाली का तर्क है - प्राणी अकेला जन्मता है और मरता है, इसलिए उसे किसी के प्रति कोई कर्तव्य नहीं , जीवन का लक्ष्य सुख-भोग है, प्रत्यक्ष ही सब कुछ है । भारतीय संस्कृति में "लोक" की महत्ता है ।

---

1. महाप्राज्ञ भरत, जगे हुए हो न? कु. राय, पृः 183.
2. "भवन्ति" - प्रवाह में स्थित शील-चेतना, कु. राय, पृः 193.

सारी आगम प्रधान संस्कृति का मूल लोकायत ही है । नास्तिक दर्शन केलिए "लोकायत" शब्द एक भ्रामक शब्द है । "भारतीय दर्शन की मूल दिशा है आदर्शवाद और यह आदर्शवाद "वास्तव" से लेकर "परावास्तव" तक के संपूर्ण प्रवाह को स्वीकृत करके चलता है ।"[1] आधुनिक बुद्धिजीवि अर्थशास्त्र और राजनीति पर आधारित समाधान चाहता है । "फलतः इसका अर्थशास्त्र सरकारी पूँजीवाद {स्टेट कैपिटलिसम} से आगे नहीं जा पाता । ऐसे अर्थशास्त्र का लक्ष्य मनुष्य नहीं "सर्वोच्च आंकडा" है, मनुष्य का सुख नहीं, "उच्चतम उत्पादन" है और यह सरकारी शक्ति का एक हथियार है । उत्पादन और उपभोग चरम बिंदु पर है, परंतु सभी सुख-रहित हैं क्योंकि यह अर्थशास्त्र शील से जुड़ा नहीं है और एक आत्माहीन अर्थशास्त्र है । वही हालत राजनीति की है ।"[2] रायजी वर्तमान राजनीति पर दुःखित हैं - आज भारत में सरकार और विरोधीदल दोनों लोलुपतावश हिंसामुखी, लोलुप और क्षुद्र क्षात्रधर्म को पकड़े हुए हैं । मनुष्य की कुलीनता, पवित्रता और महिमा की कसौटी है चरित्र । यह चरित्र मर्यादा और धर्म द्वारा निर्धारित शीलाचरण में निहित है ।

अंतिम निबन्ध "सत्याग्रह और समाधान" में भरत का सत्याग्रह और उसके प्रति राम के समाधान का उल्लेख है । इसमें रामचन्द्र के "मर्यादा" का उच्च रूप देख सकते हैं । वे अपने मत में स्थिर हैं, यह उनके शीलबोध की विशेषता है । पिता के वचन का पालन करना पुत्र का धर्म है । यह धर्म यहाँ व्यक्त करना निबन्धकार का उद्देश्य था । रामचन्द्र के मर्यादापुरुषोत्तम रूप के कारण रामायण को "ऋत का महाकाव्य" कहा जाता है । अपने कुल गुरु वसिष्ठ के कहने पर भी वे विचलित नहीं होते । भरत का उज्ज्वल चरित्र भी इस संदर्भ में व्यक्त होता है । "रामकथा में यह बात पग-पग पर स्पष्ट होती है कि इसके पात्र जिस काठ से गढ़े गये हैं, वह वज्रहीर काष्ठ है । काल-प्रवाह के थपेडे खाते-खाते सहस्राब्दियाँ बीत गयीं, परन्तु सारे ऐतिहासिक परिवर्तनों के मध्य यह "होछु" ज्यों का त्यों रह गया, न गला न पचा । चित्रकूट प्रसंग में सत्य को दृढ भाव से पकडे रहने का संकल्प इसका एक सुन्दर उदाहरण है ।"[3] आधुनिक परिस्थिति

---

1. त्रेता के दर्पण में आधुनिक बुद्धिवाद, कु. राय, पृः196.
2. वही - पृः 199.
3. सत्याग्रह और समाधान, कु. राय, पृः 205.

में जो सत्याग्रह और समाधान चल रहा है, उसको प्रत्यक्ष करना रायजी का उद्देश्य है । राम और भरत में सत्य की जो निष्ठा थी, वह आधुनिक राजनीति में कहाँ है' समाज की भलाई केलिए यह अटल निष्ठा अनिवार्य है ।

रामायण के शीलाचार के मूल में जो सूर्य प्रकृति है, वह सारे निबन्धों में झलकती है । मर्यादापुरुषोत्तम रूप, सवितातत्त्व और चित्रकूट-प्रसंग इसके स्रोत बन गए हैं । अनेक सूर्य-प्रतीकों का परिचय देकर हमारी सांस्कृतिक गरिमा और लोकायत मूल्यों की सुरक्षा करने का प्रयास रायजी ने किया है । मिथक के द्वारा रामत्व के भावात्मक और वैचारिक आयामों का उद्घाटन इन निबन्धों का वैशिष्ट्य है ।

निष्कर्ष

रामकथा के स्रोत से रायजी ने अपने सौन्दर्य बोध को शील बोध के साथ एकाकार करने की चेष्टा की है । "महाकवि की तर्जनी" में वाल्मीकि की एक परंपरा को प्रत्यक्ष किया गया है । विभिन्न रामकथाओं का विश्लेषण करके, उन पर रायजी ने अपने सृजनात्मक आदर्शों को प्रस्तुत किया । राम के सौन्दर्य बोध, नीति बोध और आत्मिक बोध, तीनों का पूर्ण चित्र यहाँ प्रस्तुत है । "त्रेता का बृहत्साम" में रामायण के सविता तत्त्व का उद्घाटन है । इन निबन्धों में रायजी के भावात्मक और बौद्धिक विचारों का समन्वय है । अपनी वैयक्तिक अनुभूति के द्वारा रामकथा के शील-बोध का गहरा विश्लेषण रायजी ने किया है । रामत्व के इस सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने केलिए रायजी ने विभिन्न विद्वानों के मतों और भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रंथों तथा अन्य स्रोतों को ग्रहण किया है । इसलिए इन निबन्धों में शैथिल्य होने की संभावना नहीं है । इन निबन्धों का प्रबन्धन पूर्ण है । इनमें रायजी मुख्यतः समझने-समझाने की शैली का प्रयोग करते हैं, जो ललित निबन्धकार का एक गुण है । पाठक इन निबन्धों में डूबकर हमारे पौराणिक आदर्शों, तत्त्वों और धर्मों का परिचय पाते हैं । भाव और विचार के समन्वय के कारण इनके निबन्धों की शैली में कुछ गंभीरता है, लेकिन प्रबन्धन की सफलता से समझने योग्य हो गए हैं । सारे निबन्धों में प्रकृति का प्रभाव है और उसने निबन्ध की भाषा को लालित्यपूर्ण और मनोरम बनाया है । इन निबन्धों में रायजी सच्चे अर्थ में एक अध्यापक बन गए हैं और निबन्ध में आत्मीयता का वातावरण इससे उत्पन्न हुआ है ।

अध्याय - पाँच

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में संस्कृति की अभिव्यक्ति

किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सब बातें जो उसके मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है संस्कृति कहलाती है । तात्पर्य है - संस्कृति का संबन्ध हमारे हृदय, मन और मस्तिष्क के संस्कारों से रहता है । समय-समय की परिस्थिति के अनुकूल इसमें परिवर्तन अर्थात् विकास और ह्रास दर्शित होते हैं । प्रत्येक देश की संस्कृति का मूल उद्गम वहाँ के लोकजीवन में है । संस्कृति में प्रत्येक देश के किसी जन-समुदाय की परंपराओं, रूढियों, विश्वासों और जीवन पद्धतियों का समन्वय होता है और इसका संबन्ध समाज के संरक्षण में निहित है । विभिन्न जातियों ने अपने विविध संस्कारों को संस्कृति में मिला दिया है । इसके फलस्वरूप प्रागैतिहासिक काल से अब तक उसमें संशोधन होता रहता है । भारतीय जन-जीवन की धारणाओं, उनके विश्वासों, राष्ट्रीय विचारों का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व का प्रचार इससे हुआ । मातृत्व की भावना, धर्म के प्रति निष्ठा, मोक्षप्राप्ति आदि के प्रचार से समाज का सहयोग तथा उसकी प्रगति का मार्ग भी स्पष्ट होता है । समाज के सांस्कृतिक बोध की विवेचना भी इनसे समेट लेती है । हमारा प्रस्थान बिंदु चाहे जो भी हो, लक्ष्य सर्वदा समुदाय की प्रगति और उसके व्यक्तित्व संरक्षण पर होना चाहिए ।

संस्कृति क्या है?

संस्कृति शब्द "सम्" उपसर्ग के साथ संस्कृत की कृ (भ्वा) धातु के योग से बनता है । संस्कृति शब्द का अर्थ सम्यक् कृति है । सामाजिक परंपरा से प्राप्त व्यवहार का नाम है संस्कृति । इसलिए यह सामाजिक प्रथा का पर्याय भी हो सकती है । यह मानव व्यक्तित्व और जीवन को समृद्ध बनाने वाली चीज़ भी है, तथा यह स्थूल नहीं

सूक्ष्म चीज़ है । मानव की बौद्धिक, क्रियाशील, संकल्पात्मक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक और आर्थिक सत्ता को पूर्ण रूप से विकसित करने केलिए भारतीय सभ्यता ने चारों पुरुषार्थों-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष - की स्थापना की । संस्कृति ने मनुष्य के मार्ग को पुष्ट करने केलिए इन चारों पुरुषार्थों का समन्वय किया । इसप्रकार संस्कृति में काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का सम्मिलन है । श्री. गंगाप्रसाद विमल के मत में "संस्कृति स्वयं ही एक सामूहिक चेतना अर्थात् जातीय गुणधर्म है तथा मानव समुदाय की प्रकृति अपने आप को विकसित कर निरन्तर प्रगतिशील बने रहने की है ।"[1] अज्ञेयजी ने अपने "धार और किनारे" में बताया है कि एक परिभाषा वह है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव के समग्र कर्म और उसके तन मन पर असर डालने वाले सब प्रभावों को संस्कृत के अधीन ले आती है । हमारे दैनिक जीवन के सारे व्यापार -वेश-भूषा, तेज-त्योहार, भोज-पद्धति, अतिथि-सेवा, पूजा-पाठ, शादी-विवाह, श्रद्धा, रीति-रिवाज़ आदि संस्कृति है । संस्कृति का सहज भाव से विकास होता है, और वह पुष्ट होती रहती है । हमारे जीवन का ढंग ही हमारी संस्कृति

संस्कृति का संबन्ध समाज से है । डॉ. विजयेंद्रस्नातक यह प्रमाणित करते हैं, "संस्कृति का संबन्ध समाज के संरक्षण एवं मानव-विकास से है, अतः समष्टिगत या सामाजिक अनुभव को ही संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है ।"[2] "थोडे शब्दों और व्यापक अर्थ में किसी देश की संस्कृति से हम मानव-जीवन तथा व्यक्तित्व के उन रूपों को समझ सकते हैं, जिन्हें देश-विशेष में महत्वपूर्ण अर्थात् मूल्यों का अधिष्ठान समझा जाता है ।"[3] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने "कला और संस्कृति" में कहा है - "हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है और संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है । धर्म, दर्शन, साहित्य-कला उसी के अंग हैं । संस्कृति सच्चे अर्थ में हमारी धरती होती है । इस दृष्टि से संस्कृति हमारे मन का मन, प्राणों का प्राण और शरीर का शरीर होती है ।"[4] डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं को

---

1. आधुनिकता और संस्कृति, गंगाप्रसाद विमल (आलोचना जुलाई-सितंबर, 1978).
2. विमर्श के क्षण, प्रथम खण्ड, डॉ. विजयेंद्र स्नातक, पृः 2-3.
3. हिन्दी साहित्य कोश - भाग-1, पृः 869.
4. कला और संस्कृति, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृः 1-2.

संस्कृति माना है । "नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम "संस्कृति" शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं ।"[1] हम अपने जीवन में संस्कृत होते रहते हैं और संस्कार अर्जित करते रहते हैं । यह संस्कार धरती में समय-समय पर रूप बदलकर और विस्तृत कर सदा स्थित रहता है । संस्कृति केलिए भौगोलिक सीमायें हैं, क्योंकि एक स्थल की संस्कृति एक प्रकार की होती है और दूसरे स्थल की भिन्न प्रकृति की । फिर भी इस विभिन्नता में मूलतः कुछ साम्य भी देख सकते हैं । एक संस्कृति के अन्दर अनेक संस्कृतियाँ समा जाती हैं ।

हमारी संस्कृति में अनेक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक विचारों का सम्मिलन है । वह एक समुद्र बनकर अपने अन्दर अनेक नदियों को संभाल लेती है । इसप्रकार समन्वित संस्कृति का जन्म हुआ । इस समन्वय से भावात्मक एकता, राष्ट्रीयता और नैतिकता की पुष्टि आसानी से होती है । इसीलिए हम किसी भी परिस्थिति में रहने पर एक मौलिक एकता समाहित कर सकते हैं । मिथक इसका एक प्रमुख अंग ही है । यह समूचे राष्ट्र के सामाजिक जीवन का निर्धारण करता है । यह मानवीय जीवन को प्रेरणा और प्रगति तथा वैचारिक अनुभूति भी प्रदान करती है । रामायण, महाभारत जैसी रचनाओं की कालजयी भूमिका का कारण भी यही है । वस्तुतः मिथक एक सांस्कृतिक और सामाजिक उत्पादन है । हमारे साहित्यों में संस्कृति का स्वर सुन सकते हैं । "अच्छा साहित्य तो मूलतः और अनिवार्यतः एक संस्कृति की उपज होता है और उस संस्कृति का स्वर उसमें सुनाई पडता है ।"[2] संस्कृति परंपरा का एक अविच्छिन्न, अविभक्त अंग है । यह प्रगतिशील होते हुए भी मूल सूत्रों से जुडी हुई रहती है । सचमुच परंपरा से प्राप्त काल की गति के अनुसार बहते हुए मानवीय व्यक्तित्व का सहज रूप ही संस्कृति है ।

---

1. हज़रीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (9), पृः 198.
2. युग सन्धियों पर, अज्ञेय, पृः 24.

भारतीय संस्कृति

प्रागैतिहासिक काल से भारत की संस्कृति में समय-समय पर विभिन्न शक्तियों के प्रभाव से बदलाव होता रहता है । हिन्दुस्तान में विविध धर्मों के लोग रहते हैं तथा अपने आचार-विचारों का प्रचार करते हैं । हिन्दू विविध सिद्धान्तों तथा मार्गों के प्रति सहिष्णु हैं । यह सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता तथा लक्ष्य भी है । इस तरह विभिन्न धर्मों की संस्कृति का समन्वय भारतीय संस्कृति में दर्शित है । भारतीय संस्कृति बहुरूपी होते हुए भी मानव के परस्पर आदान-प्रदान से एकरूपी बन गयी है । भारत की यह सांस्कृतिक एकता ही भारतीयता है । संस्कृति और जीवन का संबन्ध परस्पर पूरक है । जन समाज के विकास से भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप समझ सकते हैं । भारतीय संस्कृति की अन्तर्धारा में वैष्णव, जैन, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, शैव जैसे संप्रदायों का प्रवाह है, लेकिन इसमें इनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं । इनका सौहार्दपूर्ण समन्वयी धारा का प्रवाह होता है । वस्तुतः भारतीय संस्कृति में लोक जीवन की व्याप्ति है । वैदिक तथा तांत्रिक संस्कृति भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं । शुद्ध वैदिक संस्कृति कर्मप्रधान है तथा शुद्ध तांत्रिक संस्कृति भावप्रधान है । जीवन के विविध मूल्यों, आदर्शों तथा धार्मिकताओं का सम्मिलन है भारतीय संस्कृति ।

भारतीय संस्कृति को मात्र भारत की संस्कृति मानना संकुचित दृष्टि होगी । स्थान, काल और मर्यादा के आगें मानवीय संस्कृति को देखना उचित है । "भा" अर्थात् "प्रकाश में" या "प्रकाश के मार्ग में है" और "रत्" अर्थात् "दत्तचित होकर अनुष्ठान करने से । इसप्रकार "भारतीय संस्कृति" प्रकाश के मार्ग से अनुष्ठान करने से प्राप्त होनेवाली संस्कार संपन्नता है ।[1] भारतीय संस्कृति को एक परिभाषा में बाँधना कठिन कार्य है । क्योंकि इसमें विभिन्न संस्कारों का समावेश है । विविध जातियाँ अपने विभिन्न आचारों को लेकर यहाँ आयी हैं । "इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय यह भारतवर्ष है ।"[2]

---

1. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृः 41.
2. अशोक के फूल, डा. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृः 163.

डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है । मुख्यतः आर्यों-अनार्यों का समन्वय ही भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति है । आर्यों ने निषाद, किरात और द्राविड़ जातियों के मूल्यगत विचारों को स्वीकार करके भारतीय संस्कृति को संपुष्ट किया । अनार्यों का यह मौलिक विचार अब भी भारतीय संस्कृति का प्राण है । परंपरा से प्राप्त मूल्य, मातृभावना, पारिवारिक जीवन, सामाजिक दृष्टि, राष्ट्रीय एकता, मोक्ष पर विश्वास, कर्म, ज्ञान और भक्ति योग, काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष के पुरुषार्थ आदि अनार्यों के हाथ से भारतीय संस्कृति में आए हैं ।

भारतीय संस्कृति का रूप जीवन की गति के अनुसार बदलती रहती है । फिर भी वह अपने पूर्वसूत्रों से या परंपरा से सदा जुड़ी हुई है । आर्य संस्कृति का पूर्णतः प्रचार होने पर उसमें परंपरा से प्राप्त जनजीवन की झलक ही जगमगाती थी । भारतीय संस्कृति के विकास का अनिवार्य अंग ही परंपरा से प्राप्त मूल्य और आदर्श ही है । वैदिक औपनिषद, पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक परंपरा से जो तत्व हमारे सामने आये हैं, वे हमारे सामाजिक जीवन की एक उच्च भूमिका ही निभाते हैं । वे हमारे नित्य जीवन को परिष्कृत और संस्कृत करते हैं । लेकिन यह परंपरा एक बाधा के रूप में हमारे सामने नहीं आना चाहिए । परंपरा से प्राप्त ये जीवन-मूल्य सामाजिक प्रगति केलिए अनिवार्य है । इन सामाजिक मूल्यों को सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है । इससे भारतीय संस्कृति की सुरक्षा भी संभव है ।

मानव अपने कार्य-व्यापार की अभिव्यक्ति केलिए भाषा, विज्ञान, पौराणिकता, नैतिक मूल्य, धर्म आदि को विशेष रूप से अपनाते हैं । भाषा द्वारा हमारे देश में भावात्मक एकता, कर्तव्य परायणता, नैतिक मूल्य और राष्ट्रीयता की सफल स्थापन होती है। प्राग् वैदिककाल से ही मिथक, भाषा, धर्म और अर्थतत्व में व्यापक एकरूपता थी । लोक प्रचलित और धर्मनिरपेक्ष तत्वों से समन्वित भाषा किसी एक समुदाय की अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि उसमें सामाजिक अभिप्रायों की अभिव्यक्ति होती है । सामाजिक एकता का यह अनिवार्य अंग है । भाषा, साहित्य, धर्म, संगीत, संस्कृति और कला में भारतीय मन के पूर्ण चित्र ढूँढ सकते हैं ।

धर्म का वास्तविक अर्थ मानव धर्म है जो मनुष्य में मनुष्यत्व की सृष्टि करता है । धर्म के सत्य, क्षमता, विद्या जैसे लक्षणों की प्रतिष्ठा मानव-मन को अद्वितीय बनाती है । बुद्धि और ज्ञान, धर्म और सदाचार की पुष्टि करते हैं । मानव समुदाय की एकता का वास्तविक रूप प्रस्तुत करने का उत्तम साधन है मानव धर्म । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय भारतीय संस्कृति में इसलिए संभव है कि ये मानव की आध्यात्मिक प्रगति के अंग हैं । बुद्ध, हिन्दू, मुसलमान ईसाई आदि धर्मों के परस्पर विरोध से समाजिक या आध्यात्मिक एकता कठिन कार्य है और उससे उलझी हुई स्थिति उत्पन्न होती है । इसलिए इन सब धर्मों की सहिष्णुता से ही समुदाय को आर्थिक, नैतिक, सामाजिक और धार्मिक भलाई होती है । इससे मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा संभव है । भारतीय संस्कृति में सहिष्णुता का बड़ा स्थान है । अपने कर्तव्य का पालन करना धर्म का सबसे बडा सिद्धान्त है । आचार्य मनु ने धर्म के दस लक्षणों को प्रस्तुत किया है । धैर्य, क्षमा, दम अर्थात् विषयों में अलिप्तीकरण की भावना, चोरी न करना, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धता {शौय}, इंद्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध ।[1] डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म समस्या के संबन्ध में भारतीय दृष्टिकोण को ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों में व्यक्त किया है - "अन्तिम या परम सत्ता के ज्ञान की आवश्यकता, उसके अवधारण की तर्कसम्मत प्रक्रिया, परम सत्ता का अनुभव और परम सत्ता की प्रकृति के प्रतीयमान परस्पर विरोधी विन्यास ।"[2]

आदिम काल से अब तक संस्कृति में अनेक विकास-क्रम हो रहे हैं । यह व्यक्त करने का एक प्रबल माध्यम है साहित्य । संस्कृति की मूलधारा तथा परंपरा की जानकारी कलाओं द्वारा स्पष्ट होती है । कोई लिखित सामग्री न हो तो आदिम अंशों का निरावरण करना दुःसाध्य है । अतः इसका रेखांकन साहित्य-कलाओं द्वारा होता है । पुरातन शिल्प-कलाओं से तत्कालीन शासन-व्यवस्था तथा समाज का अच्छा परिचय मिलता है । संस्कृति को छूते बिना अच्छी साहित्यिक-रचना का अस्तित्व नहीं हो सकता । बदलते हुए मानवीय संबन्धों के सन्दर्भ में उस मूल उपयोगितावादी सिद्धान्तों को

---

1. "धृतिः छमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यम् क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ।। - मनुस्मृति 6/92, 221.

2. भारतीय संस्कृति कुछ विचार : डॉ. राधाकृष्णन - पृः 24.

प्रस्तुत करना विवेकशील मानव का कर्तव्य है । भारत में समय-समय पर जो-जो बाहरी शक्तियाँ और घटनायें थीं, उनकी जानकारी विविध इतिहासों से मिलती हैं । भिन्न-भिन्न आचार-विचार, शासन-व्यवस्था, राष्ट्रीय जागरण, विभिन्न आंदोलन इनका परिचय भी विविध कलाओं द्वारा प्राप्त होते हैं । जीवन की बहुस्पता को स्पष्ट करने की उत्तम सांस्कृतिक इकाई है पुराण । बिना पुराणों के अध्ययन से किसी भी देश की संस्कृति का पूर्णतः परिचय प्राप्त नहीं होता । धर्म, आध्यात्म, तथा विश्वास एवं परंपराओं द्वारा मिथक कथायें साहित्य को संपुष्ट करती हैं । इसके फलस्वरूप आधुनिक सामाजिक स्थितियों पर इनका आरोप सफल होता है । मिथक तो सामाजिक और सांस्कृतिक उत्पादन है । आर्य और अनार्यों के बीच का संघर्ष व्यक्त है और बाद में दोनों के समन्वय का भी चित्र है । देवासुर संग्राम के मिथक में आर्यों तथा अनार्यों के युद्ध का इतिहास पाते हैं । वाल्मीकि रामायण भारतीय संस्कृति की अनुपम निधि है । इसमें अनेक धार्मिक पारिवारिक और नैतिक आदर्शों का सन्दर्भ है । मानव जीवन के आदर्श चरित्र का प्रतीक है पुरुषोत्तम राम । मिथक मूलतः आदिम मनुष्य के समष्टि-मन की सृष्टि है । यह अलौकिक होते हुए भी मानव-जीवन में प्रासंगिक है ।

मनुष्य को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सम्यक् कृति करनी चाहिए । संस्कृति का अर्थ ही सम्यक कृति है । भारतीय संस्कृति अपने ऐतिहासिक काल में भी स्वभावतः एकरूपी नहीं थी । वह तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों से प्रभावित होती हुई, उनका आत्मसात् करती हुई, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढ़ती रही थी । भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक रूप का चित्रण कुबेर नाथ रायजी करते हैं, भारतीय संस्कृति की नींव है गांगेय सभ्यता और इसका विकास सप्त सिन्धु और सरस्वती के खाँटी आर्यों द्वारा नहीं, बल्कि काशी, कोशल, मगध, विदेह के आर्य, द्राविड, निषाद, किरात की समन्वित साधना द्वारा हुआ है ।"[1] आज भी यही स्थिति मौजूद है । वैज्ञानिक और तकनीकी युग की धाराओं का प्रवाह उसमें अवश्य ही काफी परिवर्तन और वृद्धि लाता है । भारतीय संस्कृति के अस्तित्व केलिए उसका ग्रहण और त्याग अनिवार्य है ।

---

1. निषाद बाँसुरी, नवरात्र की शस्य पार्वती, कु. राय.।33

आदिम कृषि-प्रधान संस्कृति से आधुनिक मशीनी संस्कृति तक जो-जो ग्रहण और त्याज्य हो गया है यह इस सुरक्षा का प्रमाण है । इसके साथ अनेक नैतिक परंपरागत मूल्य भी नष्ट हो रहे हैं । यह समाज को ह्रासोन्मुख स्थिति तक पहुँचाता है । हमारे पारिवारिक संकल्प और रूढ़ियाँ, संकट में है । ये सब मशीनी संस्कृति के प्रभाव से है । फिर भी भारतीय संस्कृति की आत्मा में लोकमन है । इसी कारण से प्राचीनकाल से अब तक भारतीय संस्कृति की सत्ता सुरक्षित है, जबकि यूनान, मिस्र, सोम और चीन की प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं ।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है उसकी समन्वय भावना । भारतवर्ष अनेक वर्गों के लोगों का देश है । अतः विविध धार्मिक पूजा और उपासना भी होती हैं । इन सबको एक संस्कृति के अन्दर सम्मिलित करके आगे बढ़ते हैं । हमारा विश्वास है कि अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलते हैं । मोक्ष की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है । चरम मूल्य की स्थिति है मोक्ष । निष्काम कर्मयोग संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है । फल की इच्छा के बिना कर्म करना चाहिए । परम सत्ता से फल अवश्य मिलते हैं । मोक्ष की प्राप्ति परम सत्य है । हमारे विभिन्न पौराणिक ग्रंथ ऐसे ज्ञान केलिए उपयुक्त निकले हैं । मानव-एकता केलिए परस्पर स्नेह, विश्वास और आदर करना हमारा परम कर्तव्य है । इन सबका मूल रूप है भारतीय संस्कृति । मानव के मानवत्व की प्रतिष्ठा इसमें निहित है । भारतीय संस्कृति उदार, सार्वभौमिक और मानवीय है । जीवन में बिखरे अनन्त संस्कारों के संयोजन से इस संस्कृति का निर्माण हुआ है । इनके अच्छे आदर्शों और विश्वासों तथा परंपराओं का संरक्षण भारतवर्ष की जान है । यह अज्ञात युग से प्रारंभ होकर विभिन्न परिवेशों से गुज़रती हुई, अनेक आचारों को अपने अन्दर समाहित कर धीरे-धीरे गंभीर रूप ग्रहण करके आगे बढ़ती रहती है ।

लोक संस्कृति

प्रत्येक मानव के चेतन मानस के अन्दर एक मूल धारा अदृश्य रूप में बहती है । वह अन्तर्धारा लोकमानस है । लोक संस्कृति का संबन्ध इस लोकमानस से है । इस अन्तर्धारा के प्रभाव के कारण ही इस आधुनिक युग में भी अनेक पूर्व परंपरायें हमारे नित्य जीवन को जाने अनजाने प्रभावित करती हैं । भारतीय लोक संस्कृति के आध्यात्मिक,

अलौकिक और आस्तिक रूप ही उसको अनश्वर बनाते हैं । लोकसंस्कृति में साधारण जन-समुदाय का आचार-व्यवहार है । भारतीय कृषि, उद्योग, पशु पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि सब का विधान लोक संस्कृति का अंग है । भारतीय लोक जीवन का छल-कपट-हीन चित्र भारतीय मन को पुष्ट करता है । भारतीय आध्यात्मिक लोक-जीवन के अभाव के कारण भारतीय संस्कृति और समाज पतन की ओर मुख है । हर एक देश की संस्कृति के मूल में यह लोकजीवन है तथा उनके विश्वास, मान्यता, परंपरा आदि हैं । आत्म-समता के कारण ही लोक संस्कृति की प्रगति संभव है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समन्वय से लोक संस्कृति की साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रगति होती है । शिष्ट संस्कृति तो लोक संस्कृति को छूते बिना अपना अस्तित्व यहाँ स्थापित नहीं कर सकती ।

लोक संस्कृति के अन्दर लोक-विश्वासों, अनुष्ठानों, पारिवारिक एवं सामाजिक परिकल्पनाओं का अध्ययन होता है । "लोक" शब्द जन-सामान्य केलिए प्रयुक्त होता है । हमारे परंपरागत जातीय संस्कार में जन-मानस की भावनायें और अनुभूतियाँ सहज रूप से व्याप्त हैं और उसका प्रभाव ही इस शिक्षित समाज में भी व्याप्त है । "लोक" संज्ञा के अन्तर्गत दीनहीन दलित, शोषित, पतित पंडित लोग और कोल, भील, किरात जैसी जंगली जातियाँ आती हैं । हिन्दी साहित्यकोश" में "लोक" और "वेद" नाम की दो परिपाटियों का चित्रण है । लोक और वेद का पुराना अन्तर यह था कि जो वेद में स्पष्टत: नहीं है वह यदि लोक में हो अथवा जो वेद में है, उसके अतिरिक्त "लोक" में हो, वह लौकिक है । यहाँ वैदिक से भिन्न शेष सारी बातें लौकिक कहलायेंगी । डॉ. सत्येंद्र का कहना है, "लोक" मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य को चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य हैं और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है ।"[1] इसी वर्ग से संबद्ध संस्कृति लोक संस्कृति कही जाती है । अंग्रेज़ी विद्वान मरटे ने स्वतंत्र जीवन-बितानेवाले लोगों को लोकजन कहा है ।[2] ये नागरिक संस्कृति और शिक्षा से सर्वदा परे हैं । जब तक लोकजीवन की प्रगति संभव नहीं है तब तक समाज की एकता असंभवसिद्ध होती है ।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, डॉ. सत्येंद्र, पृ: 747.

2. Folk lore may be said to include the culture of the people which has not been worked in to the official religion and history. But which is and has always been of self growth.
- R.R. [illegible] Psychology and Folk lore, P. 76

लोकमन पवित्र सौन्दर्य, निर्मल सत्य, अकृत्रिम व्यवहार और निष्पाप का निवास स्थान है । उनके इन स्वभावों के अतिरिक्त उन्हें अपनी जीवन-रीतियों के विकास करने का अवसर देना ज़रूरी है । लोक संस्कृति में आत्महित और जगतहित का सुन्दर समन्वय है । उनकी अभिलाषाओं की पूर्ति केलिए आवश्यक सुविधायें नहीं है । ये अपने धर्म को मानव धर्म मानते हैं । लोक साहित्य, संगीत और कथा में उनका ही जीवन-दृष्टिकोण है । उनके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की कहानी कहते हैं । लोक साहित्य में ग्राम गीतों का विन्यास संस्कृत और परिष्कृत रूप में हो तो समीचीन होगा । लोक के रहन-सहन का सर्वांगपूर्ण अध्ययन, निरीक्षण और प्रकाशन देश की भलाई केलिए आवश्यक है । हमारे साहित्य का बीज यह लोक साहित्य और जीवन है ।

यह लोकसाहित्य मूलतः उस काल के समस्त समाज का साहित्य था । इसलिए उसमें पूरे समाज का चित्र ही स्पष्ट होता है । "यह लोकायत धर्म हमारे चिन्मय भारत का, अर्थात् हमारी जातीय मनोभूमि की पेंदी या निम्नतल की रचना करता है और इस पेंदी या अवचेतन या मग्न चैतन्य के आदिम अनुभव बीज ऊपरी तल को निरन्तर प्रभावित कर रहे हैं ।"[1] सांस्कृतिक, सामाजिक, और नैतिक परिस्थितियों की पूर्ण प्रतिष्ठा प्राचीन लोकगाथाओं, और कहानियों में है । इनमें सांस्कृतिक सामग्रियों का जो चित्रण हुआ है उसका प्रभाव अब हमारे अधुनातन साहित्य में भी देख सकते हैं । परंपरा के प्रति जो मोह हमारे मन में है, वह हमारी संस्कृति की विशेषता है । ग्रामों में स्थित लोक संस्कृति को किसी भी शक्ति अस्थिर न कर सकती । लोकगीतों में मानव भावनाओं को कोमल सहज और रसात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है ।

"आधी रातिया रे डोमिनिया,
आ रे, आधी रातिया ना !
आ रे आधी रातिया ना !
हमसे रगरा मचवाले बा
आधी रातिया ना !"[2]

§अरी डोमिन, आधी रात है, तू हमसे झूठमूठ रगड़ा मचा रही है ।§

---

1. निषाद बाँसुरी, रक्षा दीप, कु. राय., पृः 172
2. निषाद बाँसुरी, कु. राय, पृः 101.

मानवता और सहिष्णुता को समाज में स्थिर कर विभिन्न जन-जातियों के बीच एकता स्थापित करना लोक संस्कृति का मुख्य तत्व है । प्रकृति और देवी-देवताओं की उपासनाओं का आविष्करण इस संस्कृति में व्यापक रूप में देख सकते हैं । जैसे सूर्य, चन्द्र की पूजा करना, गंगा नदी को माता मानकर पर्व मनाना तथा गीत गाना लोकजीवन का अंग है । कृषि के अवसर पर विभिन्न उत्सव मनाते हैं, और गीत भी गाते हैं । फसल पकने पर भी वे अपने सन्तोष प्रकट करते हैं । ज्ञान की पिपासा उनमें विद्यमान है और वह जहाँ से प्राप्त हो, ग्रहण करते हैं । हमारे बीच प्रचलित अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ इनकी देन है । लोकनाट्य और पहेलियाँ भी लोकसाहित्य के अनतर्गत है ।

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति का स्वतंत्र चित्रण

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में आपकी वैयक्तिक भावना भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित होती है । वैदिक युग से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक युग तक समन्वय की जो चेष्टा हुई है, वह इनके निबन्धों में व्यापक और सरल रूप में व्यक्त की गयी है । प्रागैतिहासिक मूलभूत मान्यतायें और परंपरायें, उत्तर भारत की देशीय संस्कृति, मूर्तिकला, उपासना-पद्धति, पौराणिक प्रसंग आदि इनके निबन्धों को सांस्कृतिक भूमिका प्रदान करते हैं । यज्ञ संस्कृति जो आर्य-पद्धति है और पूजा संस्कृति जो आर्येतर परंपरा की है, दोनों का समन्वय भारतीय संस्कृति में है । आर्य-आर्येतर परंपरा का यह समन्वित चित्रण ही इनके निबन्धों का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है । ललित निबन्धों में वैयक्तिक अभिव्यक्ति की प्रमुखता के कारण निबन्धकार के जीवन-परिवेश का सांस्कृतिक चित्रण प्रायः अधिक ललित निबन्धों में है । उनके मत में वर्तमान भारतीय संस्कृति के तीन रूप स्पष्ट हैं : लोकायत, पौराणिक और तांत्रिक । यद्यपि तीनों की उत्सभूमि आदिम लोकायत ही है । वे अनुभव करते हैं कि अपने विशिष्ट संस्कार और विशिष्ट बोध सत्ता के रूप में भारत अधिक सत्य एवं शाश्वत भूमिका निभाता है । यह उसका चिन्मय व्यक्तित्व है । हमारे भीतर व्याप्त आर्यत्व ही इस चिन्मय व्यक्तित्व की रचना करता है । हमारा लक्ष्य भी व्यक्ति और देश के चिन्मय व्यक्तित्व का संगठन और संरक्षण है ।

भारतीय संस्कृति एक है और अविच्छिन्न, अविच्छेद्य और अविभक्त है । पीपल वृक्ष के द्वारा निबन्धकार यह तथ्य व्यक्त करते हैं । मोहन जोदडो-हड़प्पा में प्राप्त मृण्मय मुहरों पर पीपल के विविध भागों का चित्र मिलते हैं । "मयूर, पीपल और वृषभ आर्य पूर्व भारतीय परंपरा के प्रतिदान हैं, जो आज भारतीय धर्म साधना और कला साधना पर छाये हुए हैं । आश्चर्य है कि यह पीपल शुद्ध आर्य वृक्ष बन गया और जनता द्वारा वासुदेव की संज्ञा पा गया ।"[1] आज समाज में आर्य और आर्येतरों के भेद का निशान भी नहीं । आर्येतर "चंडी", महिषमर्दिनी, अन्नपूर्णा देवी आर्य शाकंभरी दुर्गा में विलीन हो गयी और दशभुजा देवी के रूप में पूजा करने लगी । इस उपासना में आर्यों और आर्येतरों के समन्वय का चित्र है । "आर्य मस्तिष्क ने चंडी, महिषमर्दिनी वनस्पती मातृका, महीमाता, अन्नपूर्णा आदि सभी को एक देवता आद्या-आर्या-महाशक्ति के भीतर अंतर्भुक्त कर दिया और उसकी मूर्ति को दशभुजा दुर्गा के रूप में गढ़ा ।"[2] किसी भी जाति के सौन्दर्य बोध, प्रतीक और मिथक अपनी समष्टि चेतना में स्थायी हो जाते हैं तथा इन्हीं के द्वारा अतीत के सांस्कृतिक मूल्य, मिथक, परंपरा और प्रतीक नियंत्रित होते हैं । प्रत्येक युग का साहित्यकार इन्हें अपनी वर्तमान में जीनेवाली संवेदना द्वारा संशोधित करता है । रायजी अपनी साहित्यिक-रचना का उद्देश्य और सन्दर्भ यहाँ व्यक्त करते हैं । साहित्यकार को अतीत के सांस्कृतिक मूल्यों के जड़ अंशों को तोड़कर सप्राण अंशों से युगानुरूप अपना विचार प्रस्तुत करना चाहिए । पुरातन मूल्यों को पूर्णतः छोड देने से मनुष्य के भविष्य पर बाधा उपस्थित होगी । अगले क्षणों के चेहरे के बारे में कोई धारणा मूल्यगत अनिश्चयता के कारण नहीं उपस्थित होगी । अगले क्षण की कल्पना करना असंभव सा हो रहा है । मूल्यों पर आश्रित विद्या का भी कोई महत्व वर्तमान युग में नहीं है । संख्या या परिमाण पर आश्रित विद्या का काफी महत्व है । "दर्शन, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, साहित्य आदि का संबन्ध मूल्यों से है जिनको संख्या या परिमाण की तुला पर तौला नहीं जा सकता, परन्तु जिनका अस्तित्व जीवन में क्षण-

---

1. रय आखेटक, एक महाश्वेता रात्रि, कु. राय, पृः 118.
2. कामधेनु, देवी, कु. राय, पृः 20.

प्रतिक्षण अनुभूत किया जा सकता है ।"[1] हम सब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देश-काल के प्रत्येक सजीव सन्दर्भ में एक सर्वव्यापी प्रश्नचिह्न का अस्तित्व मानने केलिए बाध्य हो गए हैं ।

शील और सौन्दर्य-बोध को उन्होंने महत्व दिया है । भारतीयों में शील-सौन्दर्य उनके स्वभाव की विशेषता है । सविता या सरस्वती को उन्होंने शील की देवी माना है । "सविता या सरस्वती न केवल ललित सिसृक्षा की बल्कि हमारी बुद्धि, धृति, मति, श्रद्धा यानी हमारे संपूर्ण शील की देवी है ।"[2] "श्री" लक्ष्मी है और ऐश्वर्य का बिंब है , "ह्रीं" दुर्गा है और बल का बिंब है तथा क्लीं" पार्वती है और सौभाग्य का बिंब है । निबन्धकार काल या इतिहास की जलधारा गंगा की स्तुति करते हैं और उसे पशुपति की जलांजलि कहते हैं । "यह गौरीमुख हमारी "परमास्मृति" या "जातीय स्मृति" का प्रतीक है जो काल की संध्यांजलि में नित्य अस्ताचल पर उगता है ।"[3] ऊषा श्री, महालक्ष्मी और त्रिपुर सुन्दरी है । ऊषा और रात्रि एक ही काल-शक्ति के दो चेहरे हैं । हमारी अभिरुचि और दृष्टिभंगी का निर्माण परमा स्मृति करती जो परंपरा से विकसित होकर आधुनिक मन में विराजती है । यह हमारी शील दृष्टि का नियमन और स्थायन करती है । यह हमारे संस्कारों की प्रदायनी है । रायजी सरस्वती नदी को वैदिक युग के पूर्व का स्मृति-प्रवाह कहते हैं । यह नदी "सरस्वती" की ही तरह किसी नदी की प्राचीन स्मृति का संकेत देती है । वे मानते हैं कि यह मात्र नदी न होकर हमारे इतिहास की सुषुम्ना नाड़ी है ।

उत्तर भारत में प्रचलित सूर्यव्रत पर भी दृष्टि डालते हैं । इसकी शैली पौराणिक है । संस्कृत मंत्रोच्चारण करके, जल और प्रसून अर्पित करके प्रसाद ग्रहण कर सूर्य की पूजा करते हैं । प्रभात में सूर्य की वंदना करने की प्रथा अब भी प्रचलित है । सूर्य चेतन-प्रकृति का बोध है और इसका अधिष्ठात् देवता है अतिसूर्य या परासूर्य । यह परासुर्य साक्षात् परमात्मा या पुरुषोत्तम है । समूचे भारतीय साहित्य की प्रकृति

---

1. विषाद योग, माघे मेघे गतं वयः, कु. राय, पृः 208.
2. किरात नदी में चन्द्रमधु, लौट जा उत्तराफाल्गुनी, कु. राय , पृः23
3. दृष्टि अभिसार, पशुपति की संध्याजलो, कु. राय, पृः5

सूर्यप्रधान है । उदाहरण केलिए रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत । इनमें क्रमशः सूर्य, अग्नि और सोम तत्त्व विद्यमान हैं । इन तीनों के माध्यम से भारतवर्ष देश-काल और देशातीत-कालातीत को पहचानता है । घोड़ा मूलतः आर्यों का पशु है । "मानव सभ्यता को घोड़ा पालने का आदिम हुनर आर्यों ने दिया, ठीक वैसे ही जैसे ऊँट को सामियों ने और महिष को भारतीय निषादों ने पहले-पहल पालतू बनाया था । गाय आर्य जाति से इतने निबिड भाव से जुड़ी है कि आदि अर्थ व्यवस्था में यह सिक्के की तरह चलती थी ।"[1] "गौ" परमाप्रकृति की प्रतीक है यह हमारे संस्कार का अंग है । रायजी मानते हैं कि गाय के प्रत्येक अंग में प्रजापति, इंद्र, अग्नि, अर्यमा, धाता, विष्णु, महादेव आदि का स्थान है । उसके चलने और ठहरने में भी देवताओं की अभिव्यक्ति है । गाय विद्या की धेनु है और यह तन और मन को पुष्टि देती है ।

भारतीय संस्कृति में मांगलिक अवसर का बड़ा महत्व है । इस अवसर पर तरह-तरह के आचार-अनुष्ठान होते हैं । घर बनाये जाने पर, संतान का जन्म होने पर, विवाह के अवसर पर मंगलसूचक योजना होती है । फूल, चन्दन, हल्दी, तुलसी, सिन्दूर आदि मांगलिक वस्तुएँ हैं । हमारे देश का कोई भी मंगल-कार्य हल्दी और दूब के बिना नहीं होता । दीप जलाना, नारिकेल का फूल लगाना, चावल रखना, गुड़, केला आदि भी मांगलिक अवसर पर रखते हैं । ईश्वर पूजा केलिए भी यही कार्य होते हैं । सौभाग्य वृद्धि, लाभशुभ आदि बडे पवित्र शब्द हैं । पूर्वी उत्तर प्रदेश में पुत्र उत्पन्न होने पर सूतिका गृह में अग्नि के साथ सेंहुड की एक शाखा रखने की परंपरा है, संभवतः आर्यों की अग्नि के साथ निषाद किरात पूजित वनस्पति का भी आशीर्वाद नवजातक की सुरक्षा केलिए आवश्यक माना गया है ।"[2] विवाह में आर्यों ने हल्दी, सिन्दूर का प्रयोग आदिम डोम से प्राप्त कर लिया । भारतीय संस्कृति किसी को हीन न समझकर देश-काल के अनुसार अनुयोज्य भूमिका निभाती है । "भारतीय संस्कृति की मानसिक और

---

1. पर्णमुकुट, घोडे घोडे अरुण वर्ण घोडे, कु. राय, पृः 120.
2. विषादयोग, कैक्टस वन की नायिका, कु. राय, पृः 32.

आत्मिक समृद्धता का कारण यही है कि इसमें प्रत्येक इकाई को स्वतंत्र सत्ता के रूप में जीने का यथासंभव अवसर है और प्रत्येक इकाई की विशिष्टताओं को अन्य इकाइयों ने परस्पर बाँटकर ग्रहण किया है ।"[1]

भारतीय पाककला पर भी निबन्धकार ध्यान देते हैं । पाक-कला और व्यंजनावली में हिन्दू,बौद्ध, जैन सबकी संयुक्त परंपरा है । "जैसे साहित्य में नव रस है, वैसे ही भारतीय भोजन में षट्रस हैं और छह रसों के ढाँचे में राजस और साधारण स्तरों पर प्रयोग तो आज तक होते रहे हैं । ... भारतीय पाक-कला के तीन दौर हैं - सादा, स्वस्थ वैदिक युग, क्लासिकल राजसी वैदिकोत्तर युग और अन्त में तीसरा महानयुग ...।"[2] हिन्दुस्तान में स्नान के प्रति बड़ा प्रेम है । यह शरीर और मन के सौन्दर्य को उद्घाटित करता है और पावनता प्रदान करती है । रायजी स्नान को पंचम पुरुषार्थ का सहोदर मानते हैं ।

निबन्धकार के ज्योतिषीय ज्ञान का परिचय कुछ निबन्धों में मिलता है । "चतुर्थभाव जीवन का पादपीठ रचता है और उसके सम्मुख स्थित दशमभाव का शीमण्डल । ज्योतिष में इन्हें क्रमशः 'पाताल'और'व्योम'भी कहते हैं"[3] जेठ मास की राशि ज्योतिष के अनुसार वृष्भ है ।वे नक्षत्रों का वर्णन भी करते हैं । आकाश में चन्द्रलिंग नारी प्रकट हो गयी, औषधियों और रसों के स्वामी चन्द्रमा की वधु रोहिणी नक्षत्र आकाश में उदित हुई । भारतीय ज्योतिष और गणित में अनेक बातें बाहर आयी हैं । सप्ताह की धारणा बाहर से आयी है।रायजी कहते हैं "जहाँ तक मेरी जानकारी है, वार या सप्ताह के बारे में लिखित प्रमाण प्राप्त है गुप्तकाल के एक शिलालेख में ।"[4]

चिन्मय भारत अचल मूल्यों पर आधारित है तथा युगधर्म के परिवर्तन के साथ मूल्य बदलते रहते हैं, इसको शाश्वत भारत कहते हैं । चिन्मय भारत पर युगधर्म कोई

---

1. निषाद बाँसुरी, फागुन डोम, कु. राय, पृः 94.
2. गन्धमादन, छप्पन भोगों की इतिहास नदी, कु. राय, पृः 166-167.
3. किरात नदी में चन्द्रमधु, षोडशी के चरणकमल, कु. राय, पृः 69
4. पर्णमुकुट, दिवस-सप्तक, कु. राय, पृः 160.

प्रभाव नहीं डाला । शाश्वत भारत निरन्तर विकासमान होता है । मिट्टी की वर्णगत विशेषता और रासायनिक बनावट की दृष्टि से भारतीय भूमि को सादा भारत और रंगीन भारत जैसा विभाजन किया गया है । सादा भारत माने आर्यावर्त और रंगीन भारत माने निषाद-द्राविड-किरात भारत । रायजी समस्त हिन्दू धर्म को लोकायत धर्म मानते हैं । वैदिक, पौराणिक और तांत्रिक परंपरायें लोकायत परंपराओं का ही विकसित रूप हैं । आधुनिक भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत लोकायत संस्कृति है । सजल, निर्मल वर्षा ऋतु के आकर्षण ने व्रात्य यायावर आर्यों को सीधे-सादे निष्पाप कृषकों में परिवर्तित कर दिया ।

दीपावली को रायजी यक्षों का त्योहार मानते हैं । इसलिए दीपावली का एक नाम यक्ष-रात्रि भी है । इनकी गणना किन्नर, गंधर्व आदि उपदेवताओं के साथ होती है । यक्ष कुबेर का अनुचर है । दीपावली के दिन लक्ष्मीपूजन के अवसर पर गणेश-लक्ष्मी के अतिरिक्त इन्द्र और कुबेर की भी पूजा होती है । कुबेर-लक्ष्मी युग्म के स्थान पर जनमानस एवं वाङ्मय दोनों में गणेश-लक्ष्मी की स्थापना एक बौद्धिक सांस्कृतिक परिवर्तन का द्योतक है । रायजी अपना मत व्यक्त करते हैं कि, "शब्द पाने की, नाम पाने की संज्ञा पाने की साधना का ही नाम है ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता-संस्कृति ।"[1]

राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन को परंपरागत मूल्यों से युगानुरूप विधा और माध्यम न मिले तो अभिव्यक्ति का संकट मौजूद होता है । इस आधुनिक परिस्थिति में मनुष्य अकेले हैं, उनका एकमात्र आश्रय ईश्वर मर गया । हमारी सांस्कृतिक दुर्दशा पर भी निबन्धकार ध्यान देते हैं । हम भारत का अंग्रेज़ी की नज़रों से देखते हैं । यह हमारी सांस्कृतिक दुर्दशा का दृष्टान्त है । सनातन मूल्यों के वर्जन से मानव आश्रयहीन हो गए हैं । आधुनिक मशीन संस्कृति से जो लगाव मानव में है, वह अवश्य विकसित है, बल्कि साथ ही समाज में एक पार्थक्य की स्थिति स्थापित करता रहता है । परस्पर स्नेह, विश्वास, आदान-प्रदान, आर्थिक और सामाजिक स्थिति सब में एक विकृति उत्पन्न हो रही है । इसे दूर करने केलिए ही रायजी सांस्कृतिक सन्दर्भों को हमारे सामने रखते हैं ।

---

1. गन्धमादन, शब्द, श्री. कु. राय, पृ: 12.

पौराणिक ग्रंथों के आधार पर कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति का चित्रण -

बिना पुराणों से कोई भी सांस्कृतिक अध्ययन पूर्ण नहीं होता । परिवर्तनोन्मुखी समाज में परंपरा, सनातन मूल्य, आदिम आर्थिक-सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था आदि के माध्यम से सामाजिक विकसन-प्रक्रिया करना अधिक समीचीन है । इसकेलिए पौराणिक ग्रंथ एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । प्रागैतिहासिक जीवन रीतियों का चित्रण मिथक के द्वारा पौराणिक साहित्यों में मिलता है । इससे आधुनिक भारतीय जीवन में स्वीकार करने योग्य सिद्धान्तों को ले सकते हैं । इसप्रकार मिथक की भूमिका प्रासंगिक बनती है । मिथक जीवन के विविध मुख हमारे सामने प्रस्तुत करता है और इनका एकीकृत रूप भारतीय संस्कृति में है । देश की संस्कृति की जानकारी इनमें मिलती है । कुबेरनाथजी अपने ललित निबन्धों में रामायण और महाभारत के अनेक प्रसंगों के द्वारा भारतीय संस्कृति का व्यापक चित्र हमारे सामने रखते हैं । इसके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र, संस्कृत वाङ्मय यूरोपीय साहित्य तथा पुराणों से भी अनेक प्रसंग आते हैं । रामायण पर उन्होंने दो निबन्ध-संग्रह भी लिखे हैं और अन्य निबन्ध-संग्रहों में भी रामायण के कई प्रसंग आते हैं । "भारत के सांस्कृतिक मानस को ढालने में वाल्मीकि की कृति ने प्रायः एक अपरिमेय शक्ति से युक्त साधन के रूप में कार्य किया है । इसने राम और सीता जैसे या फिर हनुमान लक्ष्मण और भरत सरीखे पात्रों के रूप में अपने नैतिक आदर्शों के सजीव मानव-प्रतिमूर्तियों को उसके सम्मुख चित्रित किया है ताकि वह उनसे प्रेम कर सके और उनका अनुकरण कर सके ।"[1]

श्रीराम पुरुषोत्तम है, क्योंकि उनमें शील की प्रमुखता है । उनमें सौन्दर्यबोध, नीतिबोध और आत्मिक बोध का समन्वय है । इसलिए रायजी उन्हें पूर्णावतार मानते हैं । राम चारों पुरुषार्थ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के नायक हैं । "ऋत" के व्यापक अर्थ में "सामूहिक ऋत" (अर्थ और धर्म) तथा "व्यक्तिगत ऋत" (काम और मोक्ष)

---

1. भारतीय संस्कृति के आधार, श्री. अरविन्द, पृ: 347.

दोनों आते हैं । "ऋत" का एक अर्थ मर्यादा है । राम मर्यादापुरुषोत्तम है । रायजी ने रामायण को ऋत का महाकाव्य माना है । रामायण में प्रस्तुत करुणा व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है । धरती हमारा परिवार है और उस परिवार के एक व्यक्ति का दुःख सारे समाज का दुःख है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसी प्रचलित उक्ति यहाँ सार्थक है ।

गायत्री या सावित्री का प्रथम रूप ब्राह्मी-विद्या है । इस ब्राह्मी-विद्या की "श्री" वाल्मीकि रामायण के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रतिबिंबित है । रामायण ब्राह्मी-श्री का महाकाव्य है । निबन्धकार के शब्दों में, "रामकथा की काठी या हीर इसलिए मज़बूत है कि इसके कथा-पादप का जन्म परमाप्रकृति की ज़मीन में निहित सूर्य-बीज से होता है । ज़मीन और बीज दोनों के कारण ही यह दीर्घजीवी बन पायी है । यह एक सूर्यकाव्य है, राम नामक नक्षत्र का अयन भ्रमणवृत्त ही इसकी प्रकाशधर्मी संज्ञा है ।"[1]

रामायण में राम, लक्ष्मण और भरत अनासक्त पुरुषार्थ योग के दृष्टान्त हैं । इस अनासक्त पुरुषार्थ योग से व्यक्ति, परिवार या राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं । कर्म के फल की इच्छा इनमें नहीं । राम ने सारे सुखों को त्यागकर अपने कर्तव्य का पालन करना श्रेष्ठ कार्य माना । "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" उक्ति यहाँ सर्वथा योग्य है । रामायण का सन्देश है कि जीवन तप है, सूर्य की तरह तपकर जीवन बिताना । सूर्य तो स्वयं जलकर सबको ताप और प्रकाश प्रदान करता है, जो सब जीवजालों को अनिवार्य है । वैसे रामायण के प्रत्येक पात्र स्वयं कष्ट सहकर दूसरों केलिए जीते हैं । समाज के प्रत्येक व्यक्ति ऐसा जीवन बिताने पर समाज की भलाई आसान है । राम पिता के वचन का पालन करने केलिए अपने राज्य का त्याग करते हैं और वनवास केलिए खुशी से तैयार हो जाते हैं । लक्ष्मण भी अपना सर्वस्व छोडकर भाई की सेवा केलिए उनके साथ जाता है । भरत का भाई के प्रति जो आदर है वह प्रशंसनीय है । भाई-प्रेम के उत्तम प्रतीक हैं दशरथ के पुत्र ।

---

1. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, पृः 5.

भारतीय संस्कृति में नदियों का बड़ा पवित्र स्थान है, जैसा कि गंगा-स्नान को हम पवित्र मानते हैं। निबन्धकार रायजी का उल्लेख है कि नदी रघुकुल की देवी और पुत्रिका है। रघुओं और निषादों ने इसे मार्ग-संस्कार दिया है। रघुगणों के नेतृत्व और निषादों के श्रम के फलस्वरूप ही गंगा गंगा है, दूध और मधु की नदी है और जंबूद्वीप की पापहरा है। गंगा उस संस्कृति का प्रतीक है, जिसे रघुगण आर्य संस्कृति ने निषादों के सहयोग से विरचित किया और उनकी ही "नव्य आर्य संस्कृति" आगे चलकर भारतीय संस्कृति बनी। भारत वर्ष की "भारत" संज्ञा के मूल में ये रघुगण है।"[1]

सत्य की असत्य पर विजय, यह है राम-रावण युद्ध। रावण अत्याचारों की प्रतिनिधि है और राम सत्य की मूर्ति है। संसार से दुराचारों को हटाने केलिए ही राम का अवतार अर्थात् शील का अवतार पृथ्वी में हुआ। आदिम काल से ही समाज पर सत्य और असत्य का संघर्ष होता रहा। इस संघर्ष का अन्त करके समाज के कल्याण केलिए समय-समय पर अवतार होते हैं। राम का अवतार भी सत्य की रक्षा केलिए था। "लोकस्समस्ता सुखिनो भवन्तु" की भावना यहाँ स्पष्ट है। यहाँ निबन्धकार का उद्देश्य लोक-समाधान और सामाजिक एकता है। समाज में सत्य की स्थापना करके मानव की भलाई करना, रायजी अपना कर्तव्य मानते हैं। इन सबके आगे सत्य और असत्य का संघर्ष ज़ारी रहता है।

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन रायजी की दृष्टि में, "आर्यों ने जब अपने ऋषा-सूक्तों के साथ भारत में अनुप्रवेश किया तो यह देश आर्येतर ट्राइबों के पहले से ही आबाद था। ये आर्येतर हिमालय अंचल में किरात-निषाद थे और उत्तर-दक्षिण के आरण्यक एवं नदी प्रदेशों में निषाद-द्राविड। इनमें निषाद-द्राविड़ चन्द्रोपासक जातियाँ थीं। इनका संवत्सर भी चन्द्र था। ये मास-गणना चन्द्र के शुक्ल और कृष्ण-पक्षों के आधार पर करते थे। इनके देवता और उपासना कल्प-नारी-प्रधान थे। ये आर्येतर देवियाँ बाद में आर्य देव-मण्डल में गृहीत हो गयीं अंबिका या आदि प्रसविनी शक्ति सावित्री में।"[2]

---

1. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, पृः 35.
2. वही - पृः 95.

"रामायण" की भूमिका प्रासंगिक है । प्राचीनकाल में देश में जो अराजक स्थिति थी, वह आधुनिक स्थिति से कम नहीं थी । "रामायण" बहुत प्राचीन ग्रंथ होते हुए भी उसकी समस्यायें वर्तमान परिस्थितियों में लागू हैं । रामकथा एक युग की कथा नहीं है, यह भूत, वर्तमान और भविष्य की कथा है । रायजी को लगता है, "भारतीय संस्कृति के कलियुग के ह्रास युग में संस्कृति भीतर निहित तीन प्रकार का रूप ले रही थी : मगध-विदेह में एक नये "शील" का जन्म हो रहा था चिन्तकों और विचारकों के माध्यम से, तो मथुरा मण्डल में लोकायत संस्कृति के नृत्य-गीत समन्वित सात्वत धर्म का अनुकरण हो रहा था और अन्तर्वेदी में सनातन परंपरा अपने लुप्त मर्यादा-बोजों का वपन काव्यभूमि के भीतर कर रही थी और अपने आदर्शों को नायकों का रूप दे रही थी । इसप्रकार संस्कृति के भीतर जो जीवन और मृत्यु का युद्ध चल रहा था, उसी का एक अवदान है यह महाकाव्य रामायण ।"[1]

शुभ कार्य के आरंभ में गणेशजी की वन्दना प्राचीनकाल से ही हिन्दू संस्कृति का एक भाग है । यदि गणेशजी की पूजा आरंभ में न करेगी तो अवश्य उसमें विघ्न होता है, ऐसी एक धारणा भारतीयों में बद्धमूल हुई है । यह व्यक्त करने केलिए रायजी तुलसी-दासजी के "रामचरितमानस" में प्रयुक्त मंगल श्लोकों का परिचय देते हैं । पहला श्लोक गणेश और सरस्वती की वंदना के रूप में है ।[2] सारस्वत जीवन के आदि पूज्य हैं गणेश और सरस्वती । सरस्वती सृजन की अभिव्यक्ति है और उस अभिव्यक्ति को धारण करके लिप्यंतरण करना गणेश का काम है ।

प्रत्येक साहित्यकार अर्थयुक्त प्रकाश की रचना करते हैं । यहाँ महाभारत के महाकवि व्यास ने दावाग्नि की ही सृष्टि की । महाभारत दावाग्नि का महाकाव्य है । रायजी के मत में, "दावाग्नि जैसा ही करुण, दारुण, महिमामय और अपूर्व सुन्दर महाकाव्य ।"[3] हरएक कवि दाहक अग्नि का यार होता है, बल्कि "महाभारत" का कवि विशेष रूप से "हुताशन मित्र" होने केलिए प्रतिबद्ध था । कवि ने जंबूद्वीप में अविराम जलती हुई दावाग्नि देखा है । धर्म के विरुद्ध अधर्म की अग्नि जिसे उन्होंने देखा है, उसको

---

1. महाकवि की तर्जनी, कु. राय, पृ: 26.
2. वर्णानां अर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि ।
   मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणी विनायकौ ।।
3. दृष्टि अभिसार, दावाग्नि का महाकवि, कु. राय, पृ:36

प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । महाकाव्य में अनेक अग्नि के बिंब हैं, जैसे- 'दीप्तां अग्नि शिखामिव,' 'दीप्तं इव कालाग्नि,' 'भस्माच्छन्न इवानल,' 'तं ज्वलतं इव श्रिया,' 'जाज्वल्यमान वपुषा,' 'श्रद्धया प्राज्वलमानेन' आदि । नायिका द्रौपदी अग्नि संभवा है । रायजी इस महाकाव्य महाभारत को ऐसा मानते हैं, "गोया यह महाकाव्य न होकर अधर्म की तमसाच्छन्न रात में आत्मा का दीपोत्सव हो ।"[1]

"भगवद्गीता" के प्रथम अध्याय की विषय-वस्तु विषाद योग के आधार पर रायजी ने अपने एक निबन्ध-संग्रह का नाम "विषाद योग" रखा है । बीसवीं शती उत्तरार्ध की जीवात्मायें सभ्यता, संस्कृति और मानवीय इतिहास के द्वापर में जी रहे हैं और उन्हें कुरुक्षेत्र एवं उससे भी गर्हित प्रभास क्षेत्र की यंत्रणायें भोगनी हैं । उस युग-संध्या की युगान्त भूमि पर मन को स्थापित करके चिन्तन करना एक तरह का मानसिक योग है जिसे विषादयोग की संज्ञा देना समीचीन है । आधुनिक सामाजिक यंत्रणाओं का ही चित्र यहाँ प्रस्तुत है । द्वापर युग से भी अधिक कुकर्म और अपकर्म की दुःस्थिति है आज इस समाज में ।

पौराणिक सूत्रों का भी प्रयोग रायजी ने अपने निबन्धों में इधर-उधर किया है । "कामः तदग्रे समवर्तताधि" । काम के पूर्व यदि कोई है तो अजन्मा सहस्रशीर्षा विष्णु हिरण्यगर्भ रूप है जो भौतिक और चैतन्य दोनों का सम्मिलित रूप है । सारा सृष्टि-प्रपंच ही विष्णु की काम-क्रीड़ा है ।

कालिदास ने "शाकुन्तल" के मंगलाचरण में शिव की उस मूर्ति की वन्दना की है जो अद्वैत भाव से क्षिति, जल, वायु, अग्नि, आकाश, चन्द्र, सूर्य तथा मनुष्य में समान भाव से प्रतिष्ठित है । भारत की समस्त प्राचीन संस्कृति का जीवन्त निरूपण ही रायजी ने अपने इन निबन्धों द्वारा किया है । वर्तमान देशीय परिस्थिति ही इन पौराणिक सन्दर्भों पर आधारित निबन्धों में है । इनका सबसे प्रबल आयुध रामायण, महाभारत और पुराण है ।

---

1. दृष्टि अभिसार, दावाग्नि का महाकवि, कु. राय, पृ:37

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों - में लोक संस्कृति का स्वरूप

कुबेरनाथ राय ने अपने निबन्धों में मुख्यत: निषाद, किरात, द्राविड़ जातियों के लोकजीवन का उद्‌घाटन किया है । भारतीय संस्कृति में इस लोकसंस्कृति के प्रमुख स्थान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । लोकायत धर्म भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत है । देशी अनार्य और वैदिक आर्य दोनों एकीकृत होकर लोकायत उत्तराधिकार की रचना करते हैं । यह लोकायत उत्तराधिकार हमारी संस्कृति का प्रधान तत्त्व है । समस्त हिन्दू धर्म, जो बहुरूपी है एक लोकायत धर्म है । रायजी अपने ललित निबन्धों में चण्डी पूजा, धोबी, अहीर जाति, नौका विहार, गंगा मैया आदि में प्रस्तुत लोकजीवन का परिचय देते हैं ।

कुबेरनाथ जी हाथी को आर्येतर संस्कृति का प्रतीक मानते हैं और बुद्धकाल के आसपास सर्वभारतीय मांगलिक प्रतीक मानता था । निबन्धकार अनुमानित करते हैं कि बौद्ध धर्म को गज प्रतीक आर्येतर जनजातियों से मिला । कुशाणकालीन भारतीय कला में गजलक्ष्मी की प्रतिमा का महत्वपूर्ण स्थान था । आज भी त्योहार और अन्य मांगलिक अवसरों पर गज को अलंकरण के साथ प्रदर्शित करना मंगलसूचक है । केरल सरकार की मुद्रा में दो गजों के परस्पर शुंड मिलाकर खड़े होने का चित्र है । भारत में हस्ती को विषय बनाकर नर-हस्ती (गणेश), गजमीन और गजसिंह की प्रतिमायें प्रचलित हो गयीं । ऐसे ही "पान" सौभाग्य प्रणय और श्रृंगार का प्रतीक है । हमें फूल और चन्दन द्राविडों ने दिया है तो सिन्दूर और हल्दी तथा पान और सुपारी का प्रयोग निषादों ने हमें सिखाया । सिन्दूर तथा पान का प्रयोग सिन्धु नद के पार कहीं नहीं होता है । पान-सुपारी का प्रयोग भारतवर्ष दक्षिण भोट देश (तिब्बत), दक्षिण चीन, बर्मा, श्याम, कम्बोज, चंपा, इंडोचाइना (हिन्दचीन) मलय, माइक्रेनेशिया और न्यू गिनी तक ही सीमित है । "पान-सुपारी का प्रयोग निषादों ने दक्षिण भारतीय द्राविड़ों को बौद्ध पूर्व ही सिखा दिया था और उन्हीं निषादों से उत्तर भारतीयों ने इसका प्रयोग बुद्ध के समय के ही आसपास सीखा ।"[1] दक्षिणा के रूप में पान का प्रयोग अब भी प्रचलित है ।

---

1. पान ताम्बूल, निषाद बाँसुरी, कु. राय, पृ: 187.

घोड़ा यज्ञ शक्ति का प्रतीक है । यह मुद्रा भारतीय धर्म में आर्येतर प्रभाव से आया है । ऋग्वैदिक आर्य से लेकर शक आर्य तक हज़ार-हज़ार वर्षों तक लोकायत संस्कृति के माध्यम से उग्रतेजस्वी वैदिक घोडे को भद्र और देशी संस्कार दिया गया । मनुष्य जाति के इतिहास के पन्नों पर शताब्दी-दर शताब्दी धावमान ये घोड़े जीवन और जिजीविषा के प्रतीक हैं ।

किरात वर्ग पर्वतादि विचरण करता है । किरात शब्द की परंपरागत व्याख्या "अटन्ति यः किरे" । भारतीय साहित्य में किरात सुन्दर और अद्भुत जीव है । वह जाना-पहचाना नहीं बन सका । "जहाँ-जहाँ किरात को आर्यत्व में आत्मसात् करना पसन्द नहीं आया वहाँ-वहाँ वह स्वयं अपने को अरण्य और पर्वतों के एकान्त में ठेलता गया ।"[1] इसप्रकार ये अरण्यक जीवि बन गए । भोट वंशीय {किरात} हिमालयवासी भारतीयों द्वारा भारत में इसे प्रचलित किया गया है । भोट का अपभ्रंश भोटान या भुटान है । भोट लोग नस्ल के हिसाब से तिब्बती किरात हैं । चीनी किरात नस्ल भारत में असम के एक मुट्ठी अहोमों में ही है । भारतीय किरातों केलिए "भोट" शब्द चलता है । किरात वंशीय जनजातियों में कैक्टस तुलसी की भाँति पवित्र माना जाता है ।

गंगा मूलतः निषादों की नदी है । "गंगा" शब्द निषाद भाषा का है, जिसका अर्थ नदी है । गंगा भारत वर्ष केलिए "गं" "गं" ध्वनि लगाकर प्रवाहित होती है । यद्यपि यह निषादों की नदी है, फिर भी इतिहास के मध्य वह भारतीय आर्यत्व का प्रतीक हो उठी है । यह आदिम स्वभाव त्यागकर शुद्ध वैष्णव संस्कार ग्रहण कर चुकी है । निषाद आर्यों से पूर्व गंगा तट और मध्यप्रदेश के अधिकारी थे । ये मातृसत्ता प्रधान समाज के जीव थे । ऐतरेय महीदास निषाद-कन्या इतरा का पुत्र था । उन्होंने "पृथ्वीसूक्त" की रचना की, जो अथर्ववेद में संकलित हुआ । अथर्ववेद के अनेक अंश आदिम निषाद कवियों की पराप्रतिभा के दान हैं । निषाद मातृसत्ता प्रधान समाज के अंग होने के कारण धरती, अरण्यानी, हिमानी आदि की प्रतीक मातृ देवियों की कल्पना करते थे । आर्य पितृसत्ता के इन्द्र, द्यौस् तथा आदित्य के उपासक थे । निषादों की

---

1. किरात नदी में चन्द्रमधु, भारतीय किरात, कु. राय, पृः137

नारी देवियों की उपासना शुद्ध देशी विकास है जो निषादों के आदिम धर्म, अपदेवतापूजा, व्याधिपूजा, नदी पूजा तथा धरित्री पूजा से विकसित हुआ है । "लोकसंस्कृति और परमाप्रकृति ने इतिहास और भूगोल ने इस रूपसी धरती के संबन्ध में कोई अदृश्य अज्ञात समझौता कर रखा हो । वह भारत जो गंगा-सिन्धु-ब्रह्मपुत्र की उपत्यका द्वारा रचा जाता है सादी मिट्टी का भारत है और इसी भारत में विभिन्न रंगों की संस्कृतियाँ अपना नाम रूप खोकर आर्य बन गयी हैं ।"[1] रायजी के मतानुसार ये निषाद भारतीय इतिहास और लोकसंस्कृति, लोकधर्म और लोकभाषा का महत्तम समापवर्तक[2] निषाद है अर्थात् कोल या आस्ट्रिक है ।

आगे हम मणिपुरी के काबुई वर्गों की जीवन-रीतियों को समझने का प्रयास करेंगे । चारणों या भाटों की तरह ये "काबुई" गीतों और कथाओं की परंपरा के प्रचारक हैं । काबुई कन्या के नृत्य पर भी निबन्धकार आकर्षित होते हैं । "मैं जाकर खड़ा हो गया उस काबुई कन्या के जिसकी अंगकांति शुद्ध पिघले स्वर्ण की तरह थी, जिसका रूप तीक्ष्ण तलवार जैसा तरंगित था, जिसकी भंगिमा काल-प्रवाह पर दृष्टि शासन करनेवाली रानियों जैसी थी ।"[3] ये बडे परिश्रमी और तीक्ष्ण सौन्दर्यवाले हैं । इतिहासकार कहते हैं कि मणिपुरी जनसमाज और मणिपुर राज्य के नाग गण "कूकी चीन" नागाओं के वंशज हैं ।

असमिया संस्कृति में भात और मछली का प्राधान्य है, असमिया संस्कृति माने सरसों के तेल की संस्कृति ।"[4] इनके भोजन-प्रतीक हैं "मछली" और "खार"[5] यह देशी सोड़ा केले के रूखे पत्तों को जलाकर बनाता है । "भारतीयता भारतवर्ष के मनुष्यों में भले ही न हो, पर जलचरों - वनचरों और पेड़-पौधों में अद्भुत आकृति-साम्य,

---

1. निषाद बाँसुरी, महीमाता, कु. राय , पृः 82.
2. Highest Common Factor.
3. दृष्टि अभिसार, सहस्र फणों का मणिदीप, कु. राय, पृः 64
4. गन्ध मादन, सनातन नदी अनाम धीवर, कु. राय, पृः 157.
5. खार - खानेवाला सोड़ा

रुचिसाम्य और व्यवहार साम्य है ।"[1] आर्यों के खान-पान में मछली नहीं थे, वे जौ, गेहूँ और माँस खाते थे । लेकिन भारतवर्ष में आकर मछली और भात उनके भोजन का अंग बन गए । मछली को देवता के रूप में भी पूजते हैं । असम की बड़ो, कछारी खासी, जयन्तिया आदि जनजातियाँ मछली को देवता के रूप में पूजती हैं । और अधिक लोक कथाओं की नायक-नायिका मछली है । ईसाई धर्म-साधना में मछली एक रहस्यमय प्रतीक के रूप में पूज्य है और यह "प्रभु का आशीर्वाद" अभिव्यक्त करती है । निबन्धकार अपने गाँव मत्सा पर गौरव का अनुभव करते हैं । "यह मेरे गाँव का सौभाग्य है कि गंगा यहाँ उत्तरवाहिनी बहती है । जमानिया से ही यह उत्तरोन्मुख होती है और मत्स्या {मत्सा} तक आते-आते यह बिल्कुल उत्तर वाहिनी हो जाती है ।"[2]

पुरुष-प्रधान कामरूप[3] की संस्कृति पर भी निबन्धकार लिखते हैं । वर्तमान असमिया संस्कृति में पुरुष-प्रधान कामरूप और रोमैन्टिक, भावुक और प्रकृति प्रधान अपर असम के संस्कारों का समन्वय है, ये परस्पर पूरक भी हैं । नलबारी जिले में कृषि-प्रधान पेशेवाले लोगों में गीत नहीं नृत्य चलता है । "शिकार" एक उत्कट नृत्य है और "गोचारण" एक कोमल नृत्य, जिसमें स्थितिशीलता नहीं गतिशीलता अपेक्षित होती है । इसीलिए कामरूपी कृषि-प्रधान संस्कृति की विशेषता नृत्य नहीं गीत है । कामरूप के नलबारी अंचल के जापारकूची लघुग्राम का भी परिचय देते हैं । असम में प्रत्येक नारी को वस्त्र-बुनना, सूत कातना तथा अन्य गृहशिल्प बनाना, पाक-विद्या के समान अनिवार्य है । नलबारी अंचल में दलिया, श्रीखोल जैसे वाद्य बजाते हैं । मुखोश नृत्य और पुतुल नृत्य का भी प्रचार है । ब्रह्मपुत्र असमिया जाति के इतिहास की धारा का प्रतीक है । "ब्रह्मपुत्र भूगोल की दृष्टि से एक नदी है, मिथक की लाक्षणिक भाषा में वह अमोघापुत्र एवं देवतासंभूत है और दार्शनिक दृष्टि से वह एक आइडिया या भाव-प्रत्यय मात्र है जो विश्वमन में सगुण स्थान्तर है असम की आर्य-किरात संस्कृति ।"[4]

---

1. गन्धमादन, सनातन नदी : अनाम धीवर, कु. राय , पृः 157-158.
2. गन्धमादन, अन्नपूर्णा बाणभूमि, कु. राय, पृः 29.
3. कामरूप के मुख्य नगर प्राग्ज्योतिषपुर और हरुप्पेश्वर थे, जिनके उपकण्ठों में क्रमशः वर्तमान गुवाहटी और तेजपुर बसे हुए हैं ।
4. निषाद बाँसुरी, कथा एक नदी की, कु. राय, पृः 208.

भोजपुरी क्षेत्र की लोक सरस्वती सुजला-सुफला-शस्यश्यामला महीमाता की प्रतीक है । यह उपनिषदों और पुराणों में वर्णित पराविद्या या ज्ञान की देवी सरस्वती नहीं । यह काशिक क्षेत्र की लोकसरस्वती है । यह अन्नमय, प्राणमय और मनोमय है । लोक सरस्वती की मूर्ति में अन्न, प्राण और मन के कोषों की संयुक्त प्रतीक है । "यह हमारे लोकजीवन की ठोस प्राणवादी साधना की प्रतीक है जिसके चार पुरुषार्थ हैं : अर्थ, काम, धर्म और स्वास्थ्य ।"[1] लोक सरस्वती से कुछ पाने केलिए लोकजीवन में डूबना पड़ता है । रायजी व्यक्त करते हैं कि मानसिक और दैहिक स्वास्थ्य का स्रोत लोक संस्कृति ही है । लोक सरस्वती का प्राचीन आदिम रूप अथर्ववेद के अनेक जादू टोनेवाले मंत्रों में सुरक्षित है । इसके द्वारा प्रदत्त विद्या किताबी नहीं, पास में बैठकर सीखी जानेवाली है । रायजी के मत में लोकगाथा से भी उपयुक्त शब्द है लोकविद्या । कल्प, उत्सव, आचार, गाली-गलौज, तोड़-मरोड़, व्यंग्य और टेक आदि के साथ जानदार-पानीदार शब्दों की अतुल निधि भी इसके अन्दर लेती तो लोकविद्या का क्षेत्र व्यापक हो जाता है ।

अहीरों की लोकगाथा हैं लोरकी और विरहा । रायजी मानते हैं कि अहीर एक जीवित जाति है । क्योंकि अहीर गंभीरतापूर्वक अपनी लोरिक गाथा "लोरिकायन" तथा अपने लोकगीत "विरहा" को संभालकर ले चल रहा है और आज यह आभीर गाथा और आभीर लोकगीत ही पूर्वी उत्तर प्रदेश के पुरुष वर्ग को लोक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं । अहीर जाति महाभारत काल से ही लष्ठि युद्ध में निपुण थी । अर्जुन से इन्होंने लष्ठि युद्ध किया था । "आभीर या अहीर से कृष्ण का रक्त संबन्ध भले ही न हो, गीत का, मनो भूमि का, भाव संस्कार का संबन्ध है । ठीक वैसे ही जैसे वैदिक आर्य और वर्तमान हिन्दू के बीच रक्त का संबन्ध उतना स्पष्ट न होने पर भी "गी का, शब्द का संबन्ध प्रगाढ है और वैदिक आर्य एवं वर्तमान हिन्दू दोनों की आत्मायें परस्पर संयुक्त हैं, गोया दोनों के बीच एक ही गर्भनाल का संबन्ध है ।"[2]

संस्कृति की आधार भूमि है गाँव । धोबीताल के घाटवाले भाग को छोड़कर बाकी भाग मैले हैं । यह देखकर निबन्धकार के मन में एक सत्य का उदय होता

---

1. निषाद बाँसुरी, लोक सरस्वती, कु. राय, पृ: 9.
2. पर्णमुकुट, अभीरिका, कु. राय, पृ: 33.

"यह ताल हमारे मन के अवचेतन का प्रतीक है जिसमें हमारी अतृप्त इच्छायें एवं विस्मृति वासना इन्हीं जलचरों की तरह विहार करती हैं और कभी-कभी स्वप्न या तंद्रा के मध्य सतह से ऊपर कामरूपी चेहरा निकालकर झाँक जाती हैं ।"[1] धोबीगान का भी परिचय निबन्धकार देते हैं -

"हइयो राऽम हइयो !
अरे, राम-नाम के कारण मनवाँ गये समुन्दर तीर !
हइयो बाबू हइयो !"

निबन्धकार "चण्डीथान" शीर्षक अपने निबन्ध में चण्डीथान को देवी पर ग्रामीण लोगों के विश्वास का स्पष्ट चित्र देते हैं । अशिक्षित इन लोगों का विश्वास है कि चण्डीथान की देवी उनके गुण-दोषों का कारण है । देवी केलिए वे अपने प्राण को भी समर्पित करने को तैयार हैं । "यहाँ का आसमान, यहाँ का हवा-पानी और यहाँ के पावस-मेघ सभी इसके अधीन माने जाते हैं । अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा-अकाल, अष्टग्रह गंगा की उन्मत्त क्रुद्ध वन्या सभी को डाँटने केलिए माताओं द्वारा तेजस्वी प्रजा उत्पन्न करने केलिए हमारे पापों के बावजूद इस क्षमाशील धरती से गेहूँ - जौ और ज्वार-बाजरा जैसे शक्तिशाली शस्य पैदा करवाने केलिए, संक्षेप में प्रत्येक मंगल कामना केलिए यहाँ के निवासी इसी के पास नालिश-फारियाद करते हैं ।"[2] लोकजन इन विश्वासों पर अपना जीवन बिताते हैं ।

ग्राम संस्कृति और कृषि-सभ्यता का मूल और विकास निषाद द्वारा हुआ और द्राविडों ने नगर-सभ्यता, कला-शिल्प, ध्यान-धारणा, भक्तियोग का प्रचार किया तथा आरण्यक शिल्प और कला-संस्कारों के आविष्कारक किरात थे । इन सबका आकलन आर्यों ने कर दिया और यह भारतीय संस्कृति के रूप में विकसित हुई । इसप्रकार रायजी ने विभिन्न लोक जातियों के माध्यम से लोक जीवन का उद्घाटन किया है, जिससे हमें

---

1. विषादयोग, परास्त नरक, कु. राय, पृः 22.
2. प्रियनीलकंठी, चण्डीथान, कु. राय, पृः 81.

लोक संस्कृति का व्यापक परिचय मिलते हैं । उत्तर भारत के लोकजीवन का चित्रण उन्होंने सरल रूप में व्यक्त किया और हमारे लिए अपरिचित अनेक प्रसंगों का परिचय भी किया है । हमारी संस्कृति के मूल वर्गों का परिचय सारे निबन्धों में बिखरा गया है । निषाद, किरात, द्राविड जातियों के उत्सर्ग से संस्कृति के विकास में उनके योगदा का विस्तृत प्रस्तुतीकरण हैं उनके निबन्ध-संग्रह ।

निष्कर्ष

ललित निबन्धों में वैयक्तिक अभिव्यक्ति की प्रधानता होने से, उनमें संस्कृति की अभिव्यक्ति मुख्य अंग है । क्योंकि जीवन से जुड़ी हुई साहित्यिक विधा में उसकी संस्कृति का स्वरूप होना अत्युक्ति नहीं । व्यक्ति-व्यंजकता की प्रमुखता के कारण ललित निबन्ध में संस्कृति की अभिव्यक्ति अधिक है । रायजी ने अनार्य और आर्य संस्कृति के समन्वय का जो चित्र हमारे सामने रखा है वह अवश्य ही सामाज केलिए उत्कृष्ट उपलब्धि है । समाज, पुराण और लोकजीवन से अनेक संदर्भ रायजी ने हमारे सम्मुख रखा है । बौद्धिक और भावात्मक आयामों को प्रस्तुत करने केलिए रायजी के निबन्धों में संस्कृति एक गंभीर भूमिका निभाती है ।

अध्याय - छः

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों की प्रविधि

प्रविधि का तात्पर्य एक विषय-वस्तु, विचार या भाव को विशेष प्रकार से अभिव्यक्त करना है । रचनाकार अपने मन के विचार या भाव या अनुभव तथा रुचि-अरुचि को एक आकार देते हैं । सभी साहित्यिक विधाओं में नई प्रणालियाँ आ गयी हैं । इस तरह निबन्ध के क्षेत्र में भी काल की गति के अनुसार और विकसित प्रतिभा के अनुरूप नई प्रवृत्तियाँ स्वीकृत होने लगीं । ललित निबन्ध तक आते-आते रचना-शिल्प में नवीनता आ गयी । ललित निबन्ध एक स्वतंत्र विधा होने के कारण उसके शिल्प में नई-नई प्रवृत्तियाँ आना स्वाभाविक है । ललित निबन्धकार अपनी भावनानुकूल रचना को आकार प्रदान करते हैं और भाषा तथा शैली को नया कलेवर देते हैं । हर-एक ललित निबन्धकार को अपनी शैली होती है ।

ललित निबन्ध के क्षेत्र में विषय को अभिव्यक्ति की विशेषता के फलस्वरूप भाषा में रसात्मक सौन्दर्य और आन्तरिक लय उत्पन्न होते हैं । यह ललित निबन्ध के शिल्प की विशिष्टता है । भाषा में माधुर्य, लय और सौन्दर्य रायजी के ललित निबन्धों को लालित्य प्रदान करते हैं । रायजी ने मिथकीय संदर्भों द्वारा मिथक के अन्दर निहित लालित्य, उदात्तता और अर्थगत गहन संकेत को विस्फुटित किया । रायजी की भाषा, अनुभूति, कथन-भंगिमा, अलंकार, विभिन्न विषयों की प्रस्तुति आदि विशेष पढ़नीय हैं ।

सौन्दर्य तत्त्व एवं लयात्मक गद्य

रायजी ने अपने ललित निबन्धों में विषय के अर्थ के भावात्मक एवं बौद्धिक आयामों का विस्तार कर दिया है और उसकी रसात्मक व्याख्या देने का प्रयास भी किया । ललित निबन्ध का एक नाम कलात्मक निबन्ध भी है । इसमें

रसात्मक सौन्दर्य की गहनता प्रधान है । कविता के महत्व और प्रभाव अर्थ की अपेक्षा उसके काव्यत्व पर अर्थात् बिंबों और लयात्मक संबन्धों पर निर्भर है । पद्य में लय होना खास बात नहीं, क्योंकि ताल-लय के बिना कविता पद्य नहीं बनती । लेकिन गद्य में लय होना विशिष्ट बात है । वह तो ललित निबन्ध को सार्थक बनाता है ।

एक क्षण के भीतर अनेक मुखी बोध मिलते हैं । जीवन क्षणिक है । "जब तक स्थिति है, जब तक सृष्टि है, जब तक जन्म-मरण है तब तक एकमात्र वरणीय यही सृष्टि और उसके रूप-रस-गन्ध के अनेक बहुरंगी वल्कल ही हैं ।"[1] निबन्धकार माघरात्रि में सृष्टि के आदिम दार्शनिक बिंबों में डूबते हैं । "अब समय आया है कि तीसरी बार वे सृष्टि के आदिम बीज व्यक्त हों और मैं नचिकेता, मैं सुपर्ण, मैं गिल्गेमिश, मैं ओद्युसियस फिर अवचेतन के आदिम अन्धे लोक में उतरने को तैयार हूँ ।"[2] रायजी की दृष्टि में मन और हृदय का संबन्ध यों है, "'मन' जिसकी पुरानी संज्ञा है हृदय । हृदय सबसे बड़ा है क्योंकि यह चारों ओर से परिधिमुक्त है अतः असीम है । और असीम में ही असीम का बिंब "साक्षात्कार" के रूप में झलक सकता है ।"[3] संध्याकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य का लयात्मक वर्णन यहाँ स्पष्ट है - "धरती धीरे-धीरे ठण्डी होने लगती, मृत औषधियों में उनका स्वामी चन्द्रमा धीरे-धीरे प्राण डालता, हवा में कोमलता का प्रवेश हो जाता ।"[4] प्रकृति के इस धीमे परिवर्तन का वर्णन कविता में ज़्यादा है । लेकिन गद्य में वह उसकी विशिष्टता है । इन उदाहरणों में प्रतिपाद्य विषय की गंभीरता है और यह उसमें अन्तर्निहित अर्थगत गहन संकेत और लयात्मक सौन्दर्य की वृद्धि करती है ।

साहित्य में भाषा सहज-शील होनी चाहिए और गंभीर तथा अर्थयुक्त । इस बात को निबन्धकार यों व्यक्त करते हैं, "मुझे चाहिए नदी जैसी निर्मल झिर-झिर भाषा, मुझे चाहिए हवा जैसी अरूप भाषा, मुझे चाहिए उड़ते डैनों जैसी साहसी भाषा, मुझे चाहिए काक चक्षु जैसी सजग भाषा ... ।"[5] रायजी मन में अनुभूत रस-लोलुपता का

---

1. रस आखेटक, देह-वल्कल, कु. राय, पृः 66.
2. वही - जन्मान्तर के धूम्र-सोपान, कु. राय, पृः 82.
3. वही - पृः 87.
4. वही - रोहिणीमेघ, कु. राय, पृः 105.
5. दृष्टि अभिसार, पाकड़ बोलो रात भर, कु. राय, पृः 75

वर्णन करते हैं । "यह काम लोलुप मेघ, यह मनमौजी नई पीढ़ी का मेघ, यह आवारा मेघ, यह कुबेरनाथ राय भी अपने मन के अनुभव-सोपान पर आरोहण करती पार्वती के पद-पल्लव की एक-एक चाप के साथ अपूर्व रसमय परम पद का अनुभव कर रहा है ।"[1] भावमयी रसात्मक सौन्दर्य से भाव अधिक सजग बन गया है । कर्मशीलता के संबन्ध में रायजी का मत स्पष्ट है : "सूर्य पौरुषवान और तेजस्वी है । उसके रथ के चक्के हैं कर्मठता और अप्रमाद, सत्य ही इस रथ की ध्वजा है । प्रतिज्ञा ही इस रथ का आसन है, संकल्पारूढ मन ही इस रथ का सारथी है, बल-विवेक और साहस ही इसकी लगाम है, लोकमत-वेदमत-राजनय और समता ही इसके घोड़े हैं । मैत्री अर्थात् विश्व करुणा ही इस रथ की धुरी है ।"[2] चाहे जीवन की क्षणिकता व्यक्त करना हो या आदिम दार्शनिक बिंबों का प्रकृति में आरोप हो, मन के विचारों को स्पष्ट करना हो, सहज भाषा का प्रयोग करना हो, रस-लोलुपता का अनुभव करना हो, कर्मोन्मुख बनाना हो, सब कहीं रायजी इनको आन्तरिक लय और अर्थगत गहन संकेत के साथ प्रयोग करते हैं । इनके सारे के सारे निबन्धों में यह विशिष्टता देख सकते हैं ।

भाषा

ललित निबन्ध की भाषा काव्यात्मक, लालित्यपूर्ण, मनोरंजक, भाव प्रधान और आत्मीय है । 'बीजू आम' के रसास्वादन में कविता जैसा अनुभव होता है, "इसके {बीजू आम के} आस्वादन की शैली भी प्रणय आस्वादन की ही तरह है । हाथ में लो, पिघलाओ, अधर पान करो, रस का धीरतापूर्वक धीरे-धीरे आस्वादन करो ।"[3] धीरे-धीरे आस्वादन करने से उसमें अधिक ज़ोर होता है । साहित्यास्वादन भी धीरे-धीरे करने से प्रभावमय बनता है । ऐसी काव्यमय भाषा का प्रयोग रायजी की विशेषता है । गंगा नदी के तट पर अनिम दृष्टि से देखनेवाले निबन्धकार का कवि-मन ऐसा फूट पडता है , "गंगा का प्रवाह संयमपूर्ण है । उसकी ऊर्मियाँ चाप या चक्राकृति बनाती चलती हैं, धीरे-धीरे प्रसाद करती हैं और शान्त भाव से समाप्त हो जाती हैं ।"[4]

---

1. गन्धमादन, गौरी-मार्ग और कामुक मेघ, कु. राय, पृ: 52.
2. कामधेनु, दिवस का महाकाव्य, कु. राय, पृ: 132.
3. रस आखेटक, मोहमुद्गर, कु. राय, पृ: 167.
4. गन्धमादन, अन्नपूर्णा बाणभूमि, कु. राय, पृ: 127.

मन उच्चाटन की अवस्था में होने पर एक-एक क्षण बहुत कीमती है । यह अवस्था सोमवार की सन्ध्या के समान है । इसको निबन्धकार सरल भाषा में व्यक्त करते हैं, चाहे विषय में गंभीरता हो । "शनिवार की सन्ध्या तो मोल खरीदा आराम है, जिसके बारे में हम बिल्कुल आश्वस्त होते हैं । पर रविवार के शाम की कीमत कुछ और है अल्पस्थायी, अतः अधिक मोहक, अधिक संवेद्य और अधिक कीमती ।"[1] क्योंकि कल ही सोमवार का सबेरा आ धमकेगा और लगातार छः दिन की कर्मयात्रा शुरु होती है ।

रायजी के निबन्धों की भाषा भावात्मक अधिक है । "जिस कामधेनु की बात मैं कह रहा हूँ, वह मानस-समुद्र की बेटी है, और प्रत्येक मानस-समुद्र में यह एक अल्प रत्न की तरह स्थित है । इस धेनु के अस्तित्व का अनुभव तब होता है जब मन समुद्र का आकार लेने लगता है ।"[2] इनके ललित निबन्धों की भाषा मनोरंजक भी है । "प्रथम श्रेणी का चोर होना भी बायें हाथ का खेल नहीं, यह एक अपूर्व कायासिद्धि है ।"[3] विचारात्मक निबन्धों की भाषा में रायजी के पांडित्य का सूक्ष्म चित्र है । "इस देश में धर्म को अस्वीकृत करके धर्म निरपेक्षता को जगह धर्म-हीनता और देश-निरपेक्षता दोनों को बढ़ावा दिया गया है । एक ओर तो धर्म-हीनता के कारण नैतिक आचरण और शीलाचरण का महत्व ही समाप्त होता जा रहा है और दूसरी ओर देशी संस्कृति, देशी भाषा और देशी चिन्ता पद्धति जिसे कभी-कभी हिन्दू विशेषण भी दिया जाता है, निरन्तर तिरस्कृत की जाती है ।"[4] मानव-समाज को विकसित करने का प्रयत्न सारे तलों पर है, लेकिन देश में व्यक्ति-व्यक्ति के आचरण में संकट की स्थिति होती रहती है । इसे प्रत्यक्ष करने केलिए सशक्त भाषा का प्रयोग रायजी ने यहाँ किया ।

रायजी ने प्रथम पुरुष "मैं" के प्रयोग से भाषा को ज़ोरदार बना दिया । यह "मैं" एक व्यक्ति या रचनाकार नहीं, बल्कि पूरे समाज का प्रतीक है । "मैं" के

---

1. रस आखेटक, मृगशिरा, कु. राय, पृः 93.
2. कामधेनु, कु. राय, पृः 2.
3. निषाद बाँसुरी, रात्रिचर, कु. राय, पृः 116.
4. गन्धमादन, विकल वैत्ररथी, कु. राय, पृः 116.

प्रयोग से निबन्ध व्यक्तिव्यंजक हो जाता है । "मैं ने रक्तमंदार को नग्न अपर्णा डाल की ओर देखा । मुझे लगा कि यह मेरा वनस्पति प्रतिवेशी रक्तमंदार एक कवि है । तभी तो सिर से पाँव तक लाल फूलों से ढका है ।"[1]

ललित निबन्ध के भावात्मक एवं बौद्धिक आयामों के विस्तार केलिए विषय का विस्तृत विश्लेषण करना रायजी की विशेषता है । प्रतिपाद्य विषय के प्रत्येक शब्द पर भी ये ध्यान देते हैं । रायजी किसी एक शब्द को लेकर उसका विश्लेषण करते हैं, यहाँ तक कि उसके ध्वनि;- खंडों का भी परिचय देते हैं । उदाहरण केलिए "ह्रीं" ध्वनिखंड ह्, र्, ई ० ध्वनियों के योग से बनता है । इसमें "ह" आकाश या आदि चिदाकाश, "र" आनन्द, "ई" शक्ति और अनुस्वार शक्ति को जागृति-तरंग या उन्मेष के प्रतीक का बोध देता है ।

ललित निबन्धकार रचना करते समय हरएक शब्द के प्रयोग और प्रसंगानुकूल उसकी विशेषता तथा उसके रसात्मक सौन्दर्य पर काफी ध्यान देते हैं । रायजो अपने निबन्धों के प्रत्येक शब्द पर भावगत सौन्दर्य लाने का प्रयत्न करते हैं । इससे उनके ललित निबन्धों में कलात्मकता और लालित्य की झलक है । इनके ललित निबन्धों के शीर्षक में भी यह सौन्दर्य देखने को मिलता है । जैसे :- "पत्र मणिपुतुल के नाम", "महाकवि की तर्जनी", "मन-पवन को नौका", "किरात-नदो में चन्द्र-मधु", "गन्धमादन" आदि ।

भाषा का सौन्दर्य बढ़ाने में व्यंग्य का प्रमुख स्थान है । लाक्षणिक और मार्मिक उक्तियों से भाषा गंभीर, प्रौढ़ और मनोरंजक बन गयी है । रायजी के ललित निबन्ध में इन व्यंग्य बाणों का प्रमुख स्थान है । "यार, भीतर बड़ी माहुर है, पोस्ते का फूल है ।"[2] यह पोस्ते के फूल का लाक्षणिक प्रयोग है । पोस्ते का फूल भो देखने में सुन्दर है, लेकिन उसमें अन्तर्निहित गुण विचित्र है ।

प्रतीकों के प्रयोग से रायजी की भाषा सोद्देश्य और सजग बन गयो है । आधुनिक मानव रायजी के सम्मुख है - "मैं जीवात्मा हूँ । मैं ने अपनी उपासना को ।

---

1. दृष्टि अभिसर, पशुपति की संध्यांजलि, कु. राय, पृ: 2
2. रस आखेटक, तृषा ! तृषा ! अमृत-तृषा, कु. राय, पृ: 51.

मैं ने विधायें कंठस्थ कीं, संस्थाओं को अर्थदान दिया, आन्दोलनों को प्रतिबद्धतादान दी । सब कुछ अपनी ही आराधना थी ।"[1] यहाँ प्रथम पुरुष "मैं" के माध्यम से वर्तमान समाज ही हमारे सामने प्रत्यक्ष-होते हैं । यहाँ "मैं" मानव-समाज का प्रतीक है ।

रायजी की भाषा को बिंब अधिक सजग बनाता है । संध्याकालीन प्रकृति का एक चित्र है - "प्रत्येक दिवस के अन्त में यह नित्य आती है अपना पीतारुण परिधान धारण करके, अपनी कामुक मुद्रा और अपने रति-संकेत के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के भीतर असुर और कवि को जगाकर अन्तर्धान हो जाती है ।"[2] संध्या समय प्रत्येक व्यक्ति के मन को जगाता है और उनकी भावनाओं को जगाता है । "माघरात्रि में चारों ओर वातावरण में निशीथ की अतल गहराई रहती है, जिसमें एक नशा, एक चुप-चुप स्पर्शमय अनुभव । एक आँखें मूँद जानेवाला स्वाद ओर-छोर व्याप्त रहता है ।"[3] माघरात्रि में सब कहीं एक नशीला और चुप-चुप स्पर्शमय अनुभव का बिंब है । इसप्रकार अनेक प्रतीक और बिंबों का प्रयोग इनके ललित निबन्धों में होता है । "निरन्तर सक्रिय हाथ" परिश्रम या प्रयत्न का द्योतक है । यह भरसक प्रयत्न का बिंब है । "श्मशान में शिव, अपनी परमा प्रकृति के साथ नित्य क्रीड़ारत हैं ।" इस बिंब के द्वारा हमको मृत्यु के माध्यम से शिवत्व और आनन्द का जो बोध प्राप्त होता है, वह यहाँ व्यक्त है । 'दुष्यन्त का धावमान रथ और भागता सारंग' दोनों शिकार हैं । एक मोह के पीछे दौड़ता है तो एक मोह को ओर इशारा करता है ।

विभिन्न अलंकारों के प्रयोग से रायजी के ललित निबन्धों को भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है । इसने भाषा को काव्यमय बनाकर माधुर्य और लालित्य प्रदान किया । "अचानक, एक काले कंबल जैसी घनी काली घटा उठती है ।" इस वाक्य में घनी काली घटा का काले कंबल के समान बताया गया है, इसलिए उपमालंकार है । "अधरों की सर्वोत्तम उपमा अधर-किसलय ही है ।" इस में अधर को किसलय माना गया है, अतः रूपकालंकार है । "तृषा, तृषा !" "अमृत-तृषा" में अनुप्रास है । "ओ

---

1. कामधेनु, लोकचक्षु भगवान कपिल, कु. राय, पृः 136.
2. पर्ण मुकुट, आभीरिका, कु. राय, पृः 26.
3. रस आखेटक, जन्मान्तर के धूम्र-सोपान, कु. राय, पृः 76.

माता, ओ गंगा मैया, सोयी हो या जागी हो'" गंगा नदी को माता कहा गया है, अतः यहाँ रायजी ने गंगा नदी का मानवीकरण कर दिया है ।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा अधिक मनोरंजक बन गयी पोस्ते का फूल, नारून का फल जैसे मुहावरों से भाषा आकर्षक बन गयी है । गोरे खूबसूरत, पर तिक्त स्वभाव वाले लड़के को "नारून का फल" कहते हैं । जंगली पौधा नारून का फल नींबू के आकार के, खूबसूरत और आकर्षक पीतरंग के होते हैं । यह मुँह लगाइये तो तीन दिन तक मिचली आती रहेगी । इसप्रकार रायजी ने अपने ललित निबन्धों को रोचक बनाने केलिए काव्यमय ललित भाषा का प्रयोग किया है । लाक्षणिक प्रयोग, कोमलकान्त पदावली, भाषा को माधुर्य प्रदान करने केलिए प्रतीक और बिंबों का प्रयोग आपके निबन्धों को उत्कृष्ट बनाते हैं ।

रायजी ने अपने ललित निबन्धों की भाषा में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है । धेनु, गौ, ईश्वर, नयन, सुरक्षा, सर्वाधिक, सुख, स्वातंत्र्य आदि संस्कृत शब्दों, टेक्नोलजी, ट्रैजड़ी, कॉमड़ी, एलिएनेशन आदि अंग्रेजी शब्दों तथा उर्दू के कस्ब, शबरी, हस्त, नज़र, औसत, गज़ल, गवार, बकवास जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है । आप ने कुछ-एक अंग्रेज़ी शब्दों का हिन्दी अनुवाद भी साथ-साथ दिया है । जैसे :- आइडियलिज़्म {प्रत्ययवाद}, मैटिरियलिज़्म {भौतिकवाद}, सूपरमैन {अतिमानव}, डिवाइन {ईश्वरीय}, एग्ज़िस्टेन्स {अस्तित्व} सेल्फ {अस्मिता} आदि । भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग काफी है । जैसे :- भगली, औन, पौन आदि ।

रायजी ने अन्य भाषाओं से कविताओं का उद्धरण लिया है - जैसे:-

हिन्दी से -

"मैं
रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
सच्चाई टूटे पहिये का ही आश्रय ले ।"[1]

---

1. विषादयोग, अस्तित्ववाद पथ का नया दावेदार, कु. राय , पृः 100.

संस्कृत से -

"अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकर प्राणवल्लभे !
ज्ञानवैराग्य सिद्धयर्थं भिक्षां देहि च पार्वती ।।[1]

अनेक लोकगीतों का उद्धरण भी है -

"ढढ़नी का थान !
पाँच बीड़ा पान
नित उठि गंगा - असनान
जोगे जोगे विवाह, अमुक से अमुक का ।"[2]

शिशुवेद का वर्णन भी है -

"देखो दर्पण में
बन्द मकान में आखिरी कमरे में
दर्पण में देखो
आँखें, आँखें, आँखें !"[3]

आंग्रेज़ी कविताओं के उद्धरण भी प्राप्त होते हैं

"एंड दो आइ हैव वेण्ट एंड फ़ास्टेड,
वेण्ट एंड प्रेड
दो आइ हैव सोन माई हेड
{ग्रोन स्लाइटली बॉल्ड}
ब्रॉट इन अपॉन एक प्लैटर
आइ एम नो प्रोफ़ेट एंड देअर इज़
नो ग्रेट मैटर ।"[4]

इस तरह रायजी ने अपनी भाषा को लालित्य, चमत्कार, और माधुर्य प्रदान किया । उन्होंने भावों और विचारों को प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया । कहीं-कहीं

---

1. निषाद बाँसुरी, नवरात्र की शस्य-पार्वती, कु. राय, पृ: 129.
2. वही - फागुन डोम, कु. राय, पृ: 90.
3. गन्धमादन, शिशु-वेद, कु. राय, पृ: 301.
4. वही, आधुनिकता नई और पुरानी, कु. राय, पृ: 266.

लोकप्रचलित शब्दों का प्रयोग है तो कहीं संस्कृत निष्ठ शब्दावली का । भाषा विविध भावों से सज्जित है, अलंकारों से परिपूर्ण है, काव्यमयी है और मुहावरों तथा लोकोक्तियो से अलंकृत है ।

प्रबन्धन्

ललित निबन्ध में प्रबन्धन जितना सफल होता है उतना वह उत्कृष्ट बनता है । विषय से विचलित न होकर, उसका विस्तार करने का उत्तरदायित्व निबन्धकार को है । प्रबन्धन इसकेलिए काफी उपयोगी है । रायजी के निबन्धों में विषय का निर्णय होता है और उसका विस्तार इतिहास, पुराण, दर्शनशास्त्र आदि के द्वारा होता है और अन्त में उसका समाहार हो जाता है । यही प्रबन्धन है । विषय की प्रस्तुति केलिए अन्य अनेक प्रसंगों का सहारा लेते हैं । इससे कोई शिथिलता नहीं होती बल्कि इससे विषय का विस्तार होता है । रायजी के ललित निबन्धों पर दृष्टि डालने से व्यक्त होता है कि उनके निबन्धों का प्रबन्धन प्रभावपूर्ण है ।

"प्रिया नीलकण्ठी" शीर्षक निबन्ध-संग्रह में ऐतिहासिक, पौराणिक, प्राकृतिक, सांस्कृतिक विषयों का परिचय है । "गूलर का फूल" नामक निबन्ध एक कहानी जैसा लगता है । प्राकृतिक परिस्थितियों का चित्रण कर ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक धरातलों से विस्तार कर समाज की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है । अतः इसमें प्रबन्धन पूर्णतः सफल है । निबन्धों में शिथिलता नहीं ।

"रस-आखेटक" में मूलतः रायजी के रसात्मक सौन्दर्य-बोध व्यक्त हैं । प्राकृतिक वस्तु, ऋतु-वर्णन तथा नक्षत्रों का परिचय देकर निबन्धकार आगे बढ़ जाते हैं । "जन्मान्तर के धूम्र-सोपान" शीर्षक निबन्ध में सृष्टि का मूल क्या है? जैसे विषय को लेकर रायजी हमारे सामने आते हैं और वैदिक तथा पौराणिक मिथक परंपराओं से होकर इस निष्कर्ष में आते हैं कि "हम में जो चैतन्य या आत्मा है उसका आदि स्रोत कोई महाचैतन्य अवश्य है ।" उनका उद्देश्य मुख्यतः आधुनिक समाज का संकट है । इसमें कुछ संस्मरण भी है ।

"गन्ध मादन" में विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं के परिवर्तन के माध्यम से नवीन समाज में हुए हल्चलों का चित्रण करते हैं । नदी, ऋतु, जल, मेघ, रामायण आदि से समाज और साहित्य की विकल परिस्थिति का विस्तार से परिचय करते हैं और

अन्त में पाठकों को जागृत करते हैं । "शब्द-श्री" शीर्षक निबन्ध में "शब्द के सन्दर्भानुकूल जो प्रयोग उसकी महिमा पर ध्यान देते हैं । विभिन्न रचनाकारों के मत से इसका विस्तार कर दिया गया है ।

"विषाद योग" की स्वादानुभूति महाभारत की है और यह युगबोध की दृष्टि से प्रामाणिक है । बीसवीं शती के उत्तरार्ध की जीवात्माएँ सभ्यता, संस्कृति और मानवीय इतिहास के "द्वापर" में जी रहे हैं और उस युग की यंत्रणायें भोगनो हैं । मतलब महाभारत युग में यहाँ जो समस्यायें थीं, वह अब भी हैं । इसे प्रस्तुत करना ही निबन्धकार का उद्देश्य है । इस संग्रह में आधे ललित निबन्ध हैं और आधे वैचारिक । युग की विसंगत स्थिति का दर्शन अस्तित्ववाद प्रस्तुत करता है । अतः रायजी ने अस्तित्ववाद के विभिन्न तलों के परिचय से इसका विस्तार से वर्णन कर समाहार किया है ।

"निषाद-बाँसुरी" का मूल उद्देश्य भारतीयता की सही पहचान है । इसकेलिए निषाद-वर्ग के जीवन का विस्तृत परिचय दिया गया है । लोकजीवन, लोक-साहित्य तथा लोक-संस्कृति की महत्ता को अभिव्यक्त कर भारतीयता के मूल को पकड़ने का प्रयास रायजी ने किया । निषाद हमारी कृषि-सभ्यता का मूल वर्ग है ।

"पर्णमुकुट" में निबन्धकार घास-पात और फूल-पत्तों के साथ जन्मे लोगों का परिचय देते हैं । झरते पत्तों को देखकर रायजी ऐसा वर्णन करते हैं कि ये मूल्यबोध के ह्रास के प्रतीक हैं । वर्तमान समाज की हताशा और निराशा के प्रतीक हैं । "सूर्य और अतिसूर्य" शीर्षक निबन्ध में सूर्य को लेकर उसके विविध रूपों का परिचय देकर उसके चैतन्य का आविष्कार करते हैं ।

"महाकवि की तर्जनी" में रायजी ने सौन्दर्यबोध को शीलबोध के साथ समन्वित करने केलिए शील-सौन्दर्य की मूर्ति श्रीराम को हमारे सामने प्रस्तुत किया है । विभिन्न वाल्मीकियों का परिचय देकर रामायण के विविध सन्दर्भ, अन्य रामकथाओं में किस प्रकार आए हैं, उनका विश्लेषण कर "रामचरितमानस्" के मंगल श्लोकों की व्याख्या देकर समाप्त करते हैं तथा युग-सन्दर्भ में "रामचरितमानस्" की महत्ता पर भी प्रकाश डालते हैं ।

"पत्र मणिपुतुल के नाम" शीर्षक निबन्ध-संग्रह कुछ पत्रों का समाहार है । इसमें गाँधीजी की रस-दृष्टि और शील दृष्टि का विस्तृत विवेचन है । इसमें नयी पीढ़ी में प्रचलित विविध प्रसंगों को लेकर उनको जगाने का प्रयास ही वास्तव में हुआ है । जैसे बेकारी की समस्या, नयी पीढ़ी की अलसता, स्वदेश-प्रेम, नयी पीढ़ी के आचार-विचार आदि ।

"कामधेनु" में आदिम आर्येतर संस्कृति की महत्ता व्यंजित की गई है । रायजी ने हमारी आदिम उपासना-पद्धति तथा आदिम देवी-देवताओं के द्वारा आदिम संस्कृति का परिचय दिया है ।

"किरात नदी में चन्द्र-मधु" में रायजी ने किरात संस्कृति के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द पाठकों तक पहुँचा दिया है । निबन्धकार के चिरपरिचित असमिया किरात संस्कृति का संदर्भ भी व्यक्त है । "मन पवन की नौका" में आर्येतर भारत का प्रकाशन है । निबन्धकार बृहत्तर भारत में भ्रमण करते हैं और आर्येतर भारत को समझने का प्रयास भी करते हैं ।

"दृष्टि अभिसार" के "पशुपति की सन्ध्यांजलि" शीर्षक निबन्ध में पशुपति की सन्ध्यांजलि काल या इतिहास की जलांजलि है । सन्ध्या, रोष, मायाजाल और राग-विराग के माध्यम से काल की इस जलांजलि को प्रस्तुत किया गया है ।

"त्रेता का बृहत्साम" में विषय रामकथा है और उसके विविध पात्रों के शील-बोध का परिचय देकर सही शासक के गुण-गणों के कथन के साथ समाप्त कर देते हैं ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रायजी के निबन्ध प्रबन्धन् की दृष्टि से सफल हैं । विषय से विचलित होकर उन्होंने उस विषय का विस्तार किया है । इसलिए उनके निबन्ध शिथिलता से दूर रहते हैं ।

शैली

ललित निबन्ध में निबन्धकार पाठकों के सामने प्रकट होकर वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन करते हैं । निबन्धकार की अनुभूति, विचार, रुचि और अरुचि को अभिव्यक्त करने की रीति शैली है । ललित निबन्ध में मुख्यत: भावों का स्वच्छन्द विहार है, भाव और विचार छोटी-छोटी लहरों के समान उमड़कर आते हैं, गहरा और

नुकीला व्यंजनार्थ होता है, हृदयगत भाव के साथ-साथ बुद्धि और विचार की उपस्थिति है । इसकेलिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग भी रायजी ने किया । विक्षेप, आवेग, व्यंग्य और धारा शैली इनमें मुख्य हैं ।

विक्षेप शैली में निबन्धकार भावों को स्वच्छन्द रूप में अभिव्यक्त करते हैं, और पाठकों को उन भावों के समुद्र में डुबाते हैं भी । "प्रिया नीलकण्ठी" रायजो का प्रथम निबन्ध-संग्रह है जिसमें उनकी भावनात्मक प्रतिभा की झलक है । इसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है - "हवाओं के इन सारे कुतूहलों, सारे उल्लासों का कुरुक्षेत्र है यह नीम का पेड और माध्यम है मेरा दर्पण-सा स्वच्छ हृदय ।"[1] "रस आखेटक" में रायजी का रसात्मक मन प्रत्यक्ष होता है - "कमरे के भीतर अन्धकार का अपार समुद्र है, जिसमें कमरे को सीमा का लोप हो गया है । उस समुद्र में रोहित, बरारो, पियासं रूपसी आदि तरह-तरह की मछलियाँ मेरे पलंग के आस पास तैर रही हैं जिन्हें मेरे ही जन्मान्तर के अनुभव की नदी ने इस अन्धकार समुद्र में स्वयं का विसर्जन करते हुए बिखेर दिया है ।"[2] इस वैयक्तिक अनुभूति में विक्षेप शैली का प्रयोग है । "पहले चित्रा को वय:सन्धि और रूप-आतप, फिर स्वाति का पूर्वराग और अन्त में विशाखा का समर्पण और महाभाव ।"[3] चित्रा, स्वाति और विशाखा नक्षत्र को देखकर [illegible] निबन्धकार का मन फूट पडता है और भावना उमड़ती है । "गन्धमादन" निबन्ध-संग्रह के माध्यम से रायजी पाठकों के मन को मथित करने का यत्न करते हैं ।

रायजी ने सर्वत्र लेखन में रस और बोध का समान भाव से वितरण किया । "विषाद योग" में आधे ललित निबन्ध और आधे साहित्य निबन्ध हैं, फिर भी इसमें भी रस और बोध का समन्वय करने में रायजी ने ध्यान दिया है । "तरह-तरह की अनामा घासों में नन्हें-नन्हें फूल लग गये हैं । चारों ओर मुकुलोद्गत का उत्सव है ।"[4] "चाँदनी एक मायादर्पण है, जिसमें कटु कठोर चेहरे पर भी एक अस्पष्टता का और फलत: एक

---

1. प्रिया नीलकण्ठी, सनातन नीम, कु. राय. पृ: 30.
2. रस आखेटक, कवि तेरा भोर आ गया, कु. राय, पृ: 225.
3. गन्ध मादन, चित्र-विचित्र, कु. राय, पृ: 65.
4. विषादयोग, मुकुलोद्गम, कु. राय, पृ: 6.

कोमलता का प्रलेप हो जाता है ।"[1] निराशा, भ्रम, ग्लानि, विरक्ति आदि मन और बुद्धि की सारी क्रियाओं को ग्रास कर जाते हैं । "विषाद योग" में इसलिए अस्तित्ववाद पर कुछ विचार किया गया है । इस विषाद से ही उसका नाम विषाद योग पडा है ।

"निषाद-बाँसुरी" में लोकसंस्कृति और रस-कला है । "तुम्हारे मन में एक सहस्रशीर्षा भाव समुद्र है, इस बाहरी जलधि के समानान्तर या उससे भी बृहत्तर ।"[2] मानव-मन के कार्य-व्यापार को रायजी अपनी भावना के अनुकूल प्रस्तुत करने के कारण यहाँ भी विक्षेप शैली का दर्शन है । "पर्ण मुकुट" में भी निबन्धकार के मन में गंभीर भावों का उमडन है । "धीरे-धीरे मैं अनुभव करता हूँ कि इतिहास-भूगोल से परे देशातीत-कालातीत एक जगत है "रस" और स्थायी भावों का जगत, जिसमें हम समवयस्क हैं ...।" गरीब देशी पत्तों का परिचय पर्णमुकुट में मिलता है । मणि-माणिक का मुकुट मेरी अन्तर वासिनी परा प्रतिभा ने अलभ्य मानकर हरे-पीले कचनार या ताम्राभ पत्तों का ही एक मुकुट तैयार कर दिया है, अपने प्रिय पाठकों केलिए ।"[4] इसके द्वारा निबन्धकार युगबोध पर दृष्टि डालते हैं ।

"महाकवि की तर्जनी" में सौन्दर्य बोध और शीलबोध का समन्वय करने की चेष्टा है । "बिना शील के मात्र रूप-सौन्दर्य मालाभूषित श्मशानचैत्य की प्रतिमा जैसा भयंकर है, रावण की पान भूमि की तरह अति समृद्ध होते हुए भी उच्छिष्ट पात्रों की तरह वितृष्णाजनक है ।"[5] इसमें व्यापकतया विक्षेप शैली का प्रयोग है ।

"पत्र मणिपुतुल के नाम" में गाँधीजी की रस-दृष्टि और शील-दृष्टि के आधार पर नयी पीढ़ी को जागृत करना निबन्धकार का उद्देश्य है । "मैं जितना ही गांधीजी के जीवन, उनकी रुचि, उनके आदर्श पर चिन्तन करता हूँ उतना ही अधिक लगता है कि उनकी रस-दृष्टि का सही फार्मूला यही शान्तम्, सरलम्, सुन्दरम् था ।"[6]

---

1. विषादयोग, लंका की एक रात, कु. राय, पृ: 83.
2. निषाद बाँसुरी, गं गं गच्छति गंगा, कु. राय, पृ: 31.
3. पर्ण मुकुट, तस्य भासा सर्वं इंद विभाति, कु. राय, पृ: 87.
4. वही, अपनी बात, कु. राय, पृ: 220.
5. महाकवि की तर्जनी, सुंदरकांड : नाम और बोध, कु. राय, पृ: 147.
6. पत्र मणिपुतुल के नाम, शांत, सरलं, सुन्दरम्, कु. राय, पृ: 21.

"कामधेनु" में निबन्धकार पूर्व काल की स्थिति की कल्पना करते हैं । "मैं आज से महाशंख-शंख-पद्म-नील-खर्ब-अर्ब वर्षा क्या, अन्तन्त काल पूर्व की इस स्थिति को अपनी कल्पना द्वारा अनुभव गम्य करने की चेष्टा कर रहा हूँ, मैं चेष्टा कर रहा हूँ उस निस्तब्ध महातमस की छवि को कल्पित करने की ... ।"[1] परन्तु रायजी की कल्पना इसकेलिए पर्याप्त नहीं ।

"किरात नदी में चन्द्र-मधु" में निबन्धकार भावना करते हैं, "अपने गाँव के गंगा तट पर निचलाई रात में या एकांत संध्या में भी मुझे डर नहीं लगता, बल्कि लगता है कि मैं अकेले-अकेले नहीं हूँ , बल्कि देवताओं के साथ टहल रहा हूँ ।"[2] "मन पवन को नौका" में भी निबन्धकार के मन में भाव उमड़ रहा है । "वह एक पूर्णिमा रात्रि थी - आश्चर्यमयी पूर्णिमा रात्रि । सारा बालीद्वीप एक समाधि में डूब गया था, परन्तु समुद्र का मन और जाग्रत् हो उठा था, तथा वह निरन्तर शोश धुन रहा था ।"[3] भावात्मक अनुभूति के कारण यहाँ विक्षेप शैली है ।

"दृष्टि अभिसार" में मानव-समाज का चित्र है । "मैं क्या हूँ, मैं कह नहीं सकता, मैं नीलव्योम में मेघ की तरह निरंतर आकृति बदलते हुए चल जो रहा हूँ, मधु-माधव के गुप्तचर की तरह ।"[4] "त्रेता का बृहत्साम" में दूर के निर्जन एकांत पर निबन्धकार खडे होते हैं । "लंका का समुद्रतट । विमत्त विस्तार । आदिगंत जल । आदिगंत पवन । सामने के जल और जलधि में, पवन और व्योम का दिगंत रेखा पर निभृत समापन, अभेद समाहार ।"[5] मन की विस्तृत कल्पना यहाँ प्रत्यक्ष है । विक्षेप शैली के द्वारा कुबेरनाथजी के ललित निबन्ध भाव-लहरियों में डूबते हैं ।

आवेग शैली में वाक्य छोटी-छोटी लहरों जैसे लगते हैं । रायजो के निबन्धों में भाव और विचार उमड़कर आते हैं । "दुःख के या उल्लास के भीतर ज़हर होता है । उस ज़हर को यह खींचकर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है और धरती को जो

---

1. कामधेनु, नटराज, कु. राय, पृ: 43.
2. किरात नदी में चन्द्रमधु, जीव गृध्र का मेघदूत, कु. राय, पृ: 49.
3. मन पवन की नौका, बाली द्वीप का एक ब्राह्मण, कु. राय, पृ: 111.
4. दृष्टि अभिसार, सहस्र फणों का मणि-दीप, कु. राय, पृ: 63.
5. त्रेता का बृहत्साम, अकाल-बोधन, कु. राय, पृ: 74.

कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है ।"[1] यहाँ साहित्यकार के अनुभवों का चित्रण अवेग शैली में प्रयुक्त किया गया है । "मैं "निर्वासन" बरदाश्त नहीं कर पाता हूँ । अवश्य मुझे अकेलापन चाहिए जहाँ मैं अपने स्व के साथ रह सकूँ । पर मुझे यह पसन्द नहीं कि इस निर्वासन की पीड़ा को रस मानूँ ... ।"[2] निर्वासित वर्तमान समाज पर निबन्धकार ध्यान देते हैं । यहाँ भी आवेग शैली का चित्र है । "प्रिया नीलकण्ठी" में इस शैली का खूब प्रयोग है ।

"रस आखेटक" में चाँदनी का एक वर्णन यों है - "आठवीं-नवीं कक्षा के किसी धेनु-कन्या जैसी कलोर चाँदनी । पर पहर रात बीतते-बीतते यही गौरी, यही "धेनु-कन्या" एक षोडशी बन जायेगी और सृष्टि पर दुग्ध-धवल कौमार्य और रूप की धारा बहने लगेगी और तब लगेगा कि मैं खलिहान में न बैठकर किसी स्वयंवर सभा में बैठा हूँ ।"[3] मानसिक दर्पणों का आकर्षक चित्र आगे है - "दार्शनिकों ने माया-दर्पण का बखान किया है, सन्तों ने हिरदय-दरपन को धो-पोंछ कर निर्मल प्रसन्न रखने की बात की है, कवियों ने मन-दर्पण में ताक-झाँक और यार आँखें करके निर्मम विधाता को बार-बार फाँकी दी है ... ।"[4] विभिन्न दर्पणों का परिचय उमड़े हुए भावों पर निर्भर है । इसलिए यहाँ आवेग शैली का प्रयोग है ।

"गन्धमादन" में वसन्त ऋतु की तन्मयता की कल्पना रायजी यों प्रकट करते हैं - "इस बार तो लगता है कि गाँजा पीकर आया है और बागों में, कुंजों में, कछारों में, कूलों-उपकूलों में सर्वत्र ही उत्तान श्रृंगार का श्रव्य और दृश्यकाव्य रच रहा है ।"[5] काल की गति के अनुसार ऋतुओं में भी परिपवर्तन होता रहता है ।

"विषादयोग" में धोबी-ताल का एक वर्णन है । "चाहे माघ का ठिठुरत सीपा हो या वसन्त का पवित्र पुलकमय प्रभात हो, अथवा पावस का मेघाच्छन्न दुर्दिन हो, पौ फटने के पूर्व ही, पास के महेश्वर-मन्दिर की प्रातः आरती के घण्टे टनटनाते ही रहते हैं ... ।"[6] इस वर्णन में आवेग शैली है ।

---

1. प्रिया नीलकण्ठी, कु. राय, पृः 172-173.
2. वही, निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया, कु. राय, पृः 112.
3. रस आखेटक, एक महाश्वेता रात्रि, कु. राय, पृः 115.
4. वही, दर्पण-विश्वासी, कु. राय, पृः 128.
5. गन्धमादन, उजड्ड वसन्त और हिप्पी जलधर, कु. राय, पृः 98.
6. विषाद योग, परास्त नरक, कु. राय, पृः 27.

"निषाद-बाँसुरी" में निबन्धकार नौका-विहार का रसीला-वर्णन करते हैं । "मेरी यह भी धारणा है कि इस आधुनिकता के इस अन्तरिक्षयान-युग में भी जलयात्रा, बैलगाड़ी, पर्णकुटी, वनभोज तथा नदीवक्ष पर रात्रि में एकान्तवास का अपना एक अपूर्व स्वाद है जो न पाने पर अगले जन्म की तो नहीं जानता पर इसी जन्म में हमारा मन गोबर-कीट हो जाता है ।"[1] पुरातनता के प्रति निबन्धकार का मोह यहाँ स्पष्ट है ।

"पर्णमुकुट" में वसन्तागमन का वर्णन है - "आने दो वसंत को, आवारगर्दी का "महाभाव" वसंत के अनलिखे महाकाव्य में अंकित है और मैं इस महाभाव की बाँसुरी को फागुन से वैशाख तक, एक आनन से नहीं, दशानन होकर बजाऊँगा, तभी सूद-मूल समेत तृप्ति मिलेगी और मैं पुनः वाणासुर भाव धारण करके सहस्त्र-सहस्त्र भुजाओं से गधमृदंग बजाकर दशों दिशाएँ गमगमा दूँगा ।"[2] वसन्तागमन से निबन्धकार का मन हर्षों से भरा गया है ।

"महाकवि की तर्जनी" में पौराणिक मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा नई साहित्यिक कृतियों की रचना पर ज़ोर दिया गया है । निबन्ध-संग्रह का आरंभ दो आत्माओं के वार्तालाप से होता है । इस वार्तालाप में आवेग शैली है ।

"पत्र मणिपुतुल के नाम" में इनकी मनोरंजक भाषा को समझ सकते हैं । यह पत्र-विधा में लिखा गया है । "तेरी गोराई तो गंगाजली है । पर वह होगी कांचन-पद्म जैसी, तपोरता पार्वती जैसी । तेरे मुंह पर तो बचपन को चेचक के दाग हैं जो बारीक निगाह वाले व्यक्ति को दिख ही जाते हैं ।"[3] यहाँ मानव-समाज को आवेग शैली में प्रस्तुत किया गया है ।

"कामधेनु" में भारतीय वाङ्मय का मंथन है । "एक नदी है जिसको अनुगूंज मैं निरंतर सुनता हूँ, जो मन के निभृत एकांत में तरह-तरह के आख्यान कहती है और जब मैं थककर सो जाता हूँ यह कहकर कि प्यारी नदी, अब तुम भी सो जाओ, तो भी यह गुडाकेश नदी सोती नहीं ।"[4] यहाँ नदी कल्पना की नदी है । यहाँ रायजी की कल्पना आवेग शैली में व्यक्त है ।

---

1. निषाद बाँसुरी, पाहन-नौका, कु. राय, पृः 51.
2. पर्णमुकुट, मधु-माधव पुनः पुनः, कु. राय, पृः 14.
3. पत्र मणियुतुल के नाम, शांतं, सरलं, सुन्दरम्, कु. राय, पृः 16.
4. कामधेनु, कु. राय, पृः 1.

"किरात नदी में चन्द्र-मधु" में किरात संस्कृति के भाव और रस का चित्र है । "नदी का नील जल है । नीली झील के सिरहाने चाँद बैठा है । चाँदनी, नदी-नदी, स्रोत-स्रोत में अपना मुँह धो रही है । हवाओं में चतुर्दिक् एक चुप-चुप का गोपन संकेत टँग गया है । ऐसे में कामना-विमत्त होकर नदी जल में उतर पड़ा हूँ ।"[1] संस्कृति को गहराई में पकड़ने का प्रयत्न है ।

"मन पवन की नौका" में सांस्कृतिक चिन्तन है । "चन्दन के पिटकों में भरी हुई तालपत्र की पोथियाँ । कण्ठ में, वाणी में, मन में और मुखाकृति में, सर्वत्र शील का शतदल प्रस्फुटित है और दृश्य में वह शत-शत गंधों-शब्दों और रूपों की आकृति ले रहा है ।"[2] सनातन मूल्यों की प्रतिष्ठा आवेग शैली में चित्रित है ।

"दृष्टि अभिसार" में निबन्धकार व्यक्ति या समाज से आत्मीयता स्थापित करने का प्रयास करते हैं । "यमुना-तट पर रातों में चाँदनी इतनी गाढ़ी झरती है कि घड़े में भर लेने की तबीयत होती है । दूध झरती राका निशा और सुप्त यमुना का एकांत पुलिन पाकर मानस-घट मधु से लबालब हो उठता है । मानस-मधु रह-रह बाहर छलक जाता है और बाहर की सुप्त यमुना देह के भीतर जग जाती है और विह्वल-विकल कर देती है जैसे कोई बात कलेजा मथ रही हो ।"[3] चाँदनी निबन्धकार की दृष्टि में चित्रित की गयी है ।

"त्रेता का बृहत्साम" में निर्जन रात का एक चित्र है - "निर्जन रात्रि, विनिद्र निशा । बड़ा ही विचित्र अनुभव था । दुःखद नहीं विचित्र । अद्भुत और प्रातिभज्ञान-संपन्न अनुभव । भय के स्वाद से परे । भयातीत परंतु भयानक ।"[4] निर्जन रात बड़ा विचित्र-सा लगता है ।

इस तरह इनके सारे निबन्ध-संग्रहों में आवेग शैली का प्रयोग है, जिससे ललित निबन्ध के लालित्य और भाव अधिक उदात्त बनते हैं ।

---

1. किरात नदी में चन्द्र मधु, विमत्त गयंद, कु. राय, पृः 104.
2. मन पवन की नौका, जलमाता मेनाम, कु. राय, पृः 71.
3. दृष्टि अभिसार, गंगा-यमुना-सरस्वती, कु. राय, पृः 17.
4. त्रेता का बृहत्साम, कठिन भूमि, कोमल पग, कु. राय, पृः 38.

रायजी के निबन्धों में व्यंग्य शैली का प्रयोग भी देख सकते हैं । व्यंग्योक्तियों में शब्द का व्यंजनार्थ, बडा गहरा और नुकीला होता है । "प्रिया-नीलकण्ठी" में मशीनीकरण पर व्यंग्य किया गया है । "भविष्य में मृत्यु भी स्वाभाविक नहीं होगी, जीवन की कौन कहे ! मृत्यु के दो ही मार्ग शेष रह जायेंगे : आत्मघात और हत्या ।"[1] स्वाभाविकता के वातावरण में काफी मशीनीकरण हो चुका है ।

"रस आखेटक" में मानव की मूर्खता पर तीखे व्यंग्य करते हैं । "हिन्दुस्तान" की खेती को यहाँ के शुक-सारिका, कोकिल, चकोर, मयूर, सारस आदि नष्ट कर डालते हैं, अतः अमेरिका से कोई दवा आ रही है । जो भारत के बाग-बगीचों पर बरसायी जायेगी और ये पक्षी मर जायेंगे - खेती बच जायेगी ।"[2] "मैं तो कहता हूँ कि यदि ऐसे ही आर्य-द्राविड विभाजन करते जाना है तो फिर एक दिन सभ्यता-संस्कृति की कौन कहे, प्रत्येक भारतीय के शरीर का विभाजन करना होगा ।" यह अस्वस्थ समाज का व्यंग्य चित्र है ।

आधुनिक समाज पर गहरा व्यंग्य "गन्धमादन" निबन्ध संग्रह में देख सकते हैं । "आधुनिक रसोईघर का अर्थ है स्टोर रूम, रंधनशाला नहीं, जहाँ बिजली चूल्हा, प्रेशर कुकर के बावजूद राज्य है रिफ्रिजरेटर, डिब्बे बन्द मांस, बीन, सलाद, सूखे बिस्किट, पावरोटी, मक्खन, क्रीम आदि का ... ।"[4] यहाँ आधुनिक सुख-सुविधाओं का मार्मिक वर्णन है ।

"विषाद योग" में व्यंग्य का एक चित्र इस प्रकार है । "यों कभी-कभी बदमाश घोंघियों के माध्यम से इस गीति-रचना में दर्द के फूलों को तरह शरारत के व्यंग्य - कण्टक भी फूटते हैं । जैसे दरगाही के ही भाई चकमकवा की टेक है : "छियो छी ! छी छी ! फटेगा तो फटेगा ।"[5]

---

1. प्रिया नीलकण्ठी, डूबता हुआ देवत्मान कु. राय, पृः 44.
2. रस आखेटक, विरूपाक्ष, कु. राय, पृः 213.
3. वही, एक महाश्वेता रात्रि, कु. राय, पृः 118.
4. गन्धमादन, छप्पन भोगों की इतिहास नदी, कु. राय, पृः 176.
5. विषादयोग, परास्त नरक, कु. राय, पृः 23.

"निषाद बाँसुरी" में माँझी रंगा मल्लाह के चरित्र में व्यंग्य का चित्र है । "गाँव के सबसे पुराने माँझी रंगा मल्लाह से बातें करने में बडा मज़ा आता है, यहाँ तक कि उनका सच भी बडा आनन्ददायक होता है तो झूठ की तो कोई बात ही नहीं ।"[1] यह रंगा माँझी निबन्धकार के गाँव में रहनेवाले हैं ।

"पर्ण मुकुट" में पुरातनता और आधुनिकता का विचार है । "उन पुराने गीतों के स्थान पर जब मैं आज के नये फाग होली के गानों का स्मरण करता हूँ, तो मुझे लगता है कि सचमुच ही आधुनिकता का एक अर्थ "बर्बरता का पुनरुत्थान" भी होता है ।"[2] पुराने गीत और आधुनिक गीतों पर निबन्धकार का व्यंग्य यहाँ स्पष्ट है ।

"महाकवि की तर्जनी" में निबन्धकार की व्यंग्य शैली देख सकते हैं । "मुर्गी-मटन-पुलाव आदि से सजे टेबल के बीच में दही-भात की तरह, मत्सा ग्राम के सयानों के बीच रज़ील कुबेरनाथ राय की तरह, नये समाजवादियों के बीच दरिद्र सर्वोदय पात्र की तरह उस समूची लंका में एक ही वैष्णव परिवार था । वह था विभीषण का परिवार ।"[3] यह राक्षसों के बीच वैष्णव विभीषण का चित्र है ।

जीवदेह का प्रतीक व्यंग्य शैली में "पत्र मणि पुतुल के नाम" में व्यक्त किया गया है । "भारतीय मन्दिरों में सज्जा बाहरी दीवार पर रहती है और भीतर का गर्भ-गृह सादा और शून्य रखा जाता है ।"[4] बाहर माया वल्कल है भीतर है आत्मा का निर्गुण निराकार मन्दिर ।

"मन पवन की नौका" में मानव के अन्दर की संस्कृति को जगाने का कार्य है । "नये अगस्त्यों को अब दक्षिण समुद्र में नहीं उतरना है , प्रत्येक मानस हृदय-समुद्र से उन्हें निमन्त्रण मिल रहा है ।"[5] संस्कृति अपने-आप फैल रही है, प्रत्येक इकाई के भीतर की अन्तः संस्कृति विकसित करना अनिवार्य है ।

---

1. निषाद बाँसुरी, पाहन-नौका, कु. राय, पृः 49.
2. पर्ण मुकुट, मधु-माधव पुनः पुनः, कु. राय, पृः 19.
3. महाकवि की तर्जनी, अशोक फूल, अब और कितनी रात है' कु. राय, पृः 135.
4. पत्र मणिपुतुल के नाम, काम-वृश्चिक और वेदना की गली, कु. राय, पृः 92.
5. मन पवन की नौका, सिन्धु पार के मलय मारुत, कु. राय, पृः 37.

रायजी की व्यंग्य पूर्ण वाणियों से उनके ललित निबन्ध अधिक मनोरंजक बन गये हैं ।

धारा शैली में हृदयगत भाव प्रमुख है, फिर भी बुद्धि और विचारों की उपस्थिति है । इसमें निबन्धकार के भावों की गति निश्चित वेग से आगे बढ़ती है और निरन्तर प्रवाहित होती है । "हिन्दुस्तान की धरती ही ऐसी है कि इसमें श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि विभक्त अलग-अलग नहीं आते । एक के भीतर दूसरे को परत समायी है ।"[1] "प्रिया नीलकण्ठी" के निबन्धों में धारा शैली का विस्तृत प्रयोग है ।

"रस आखेटक" में निबन्धकार एक लघु नचिकेता बन जाता है, "मैं नचिकेता, मैं सुपर्ण, मैं गिल्गेमिश, मैं ओद्युसियस फिर अवचेतन के आदिम अन्धे लोक में उतरने को तैयार हूँ ।"[2] सृष्टि के मूल में काम है । आदिमता के प्रति निबन्धकार का लगाव यहाँ स्पष्ट है ।

"गन्धमादन" में शब्द के प्रयोग की महत्ता पर ध्यान दिया गया है । "यह शब्द-श्री या कोष-श्री एक दियासलाई की डिबिया है । प्रत्येक शब्द एक-एक तिली है । डिबिया में पड़ी है, कोई कीमत नहीं । पर अचानक प्रयोग की रगड खाकर भक से जल उठती है ।"[3] प्रयोग द्वारा शब्द में चैतन्य होता है ।

"विषादयोग" में मनुष्य की अवस्था का चित्र है । आजकल चालीस से ज़्यादा जीना अनैतिकता है । "मेरी समझ से इसका अर्थ यही होगा कि चालीस वर्ष के बाद जीवन के सहज लक्षणों का परिवर्तन-परिवर्धन-सृजन का आत्मिक और मानसिक स्तरों पर ह्रास होने लगता है ।"[4] प्रत्येक आयु में मनुष्य की जो अवस्थायें हैं उसको रायजी ने इस निबन्ध में व्यक्त किया है ।

"निषाद बाँसुरी" में निबन्धकार गंगा नदी की स्वर-लहरी में डूब जाते हैं । "मैं अनुभव करता हूँ कि यद्यपि देखने में नदी एक है पर वास्तव में यह दो स्थों में

---

1. प्रिया नीलकण्ठी, निर्वासन और नीलकण्ठी प्रिया, कु. राय, पृ: 108.
2. रस आखेटक, जन्मान्तर के धूम्र-सोपान, कु. राय, पृ: 72.
3. गन्धमादन, शब्द-श्री, कु. राय, पृ: 10-11.
4. विषादयोग, उत्तराफाल्गुनी के आसपास, कु. राय, पृ: 14.

प्रवाहित हो रही है : एक है जल-प्रवाह रूपा भागीरथी और दूसरी है मेरे मानसलोक की चिन्मयी विरजा, जो इसी नदी का घट-घट व्यापी सूक्ष्म रूप है ।"[1] यहाँ मानसिक अवस्था का चित्र है ।

"पर्णमुकुट" में रायजी प्रकृति का आस्वादन करते हैं । "संध्या तो भय और रहस्य की वेला है ही । मैं इस छवि का भरपूर आनन्द उठाने केलिए खडा हो जाता हूँ, क्योंकि चलते-चलते यह आस्वादन संभव नहीं ।"[2] यहाँ निबन्धकार का कवि-मन प्रत्यक्ष होता है ।

"महाकवि की तर्जनी" में फटिक-शिला पर बैठे श्रीराम का चित्र है । "लगता है उनकी मर्यादाशील दृष्टि और सौन्दर्य का सूक्ष्मबोध एक ओर, तथा भीतर-भीतर सुलगता हुआ दुःख दूसरी ओर परस्पर साथ-साथ सक्रिय हैं ।"[3] श्रीराम फटिक-शिला में बैठकर पूर्वस्मृतियों में डूबा है, उसे देखकर निबन्धकार ऐसा अनुमान करते हैं ।

"पत्र मणिमुतुल के नाम" में निबन्धकार सच के अस्तित्व पर ध्यान देते हैं । "कभी सच्चाई गुहा में निवास करती थी और उसका अन्वेषण करनेवाले अमृत पाकर दार्शनिक बन जाते थे । अब सच्चाई सर्प की बाँबी में निवास करने लगी है और उसका अन्वेषण करनेवाले दंश पाकर "विद्रोही" हो जाते हैं ... ।"[4]

"कामधेनु" में मानव के अस्तित्व का प्रश्न है । "एक पाँच समकेंद्रिक वृत्तों की सत्ता, एक वृत्त के भीतर दूसरा वृत्त और केंद्र एक ही । इतिहास {काल} के भीतर है देश, देश के भीतर है देह, देह के भीतर है मन, मन के भीतर है "अस्मिता" या "सेल्फ" । ये पाँच वृत्त आत्मा के केंद्र के चारों ओर सक्रिय हैं और इनकी संपूर्ण सक्रिय स्थिति को ही जिस नाम-रूप से पहचाना जाता है वह मैं ही हूँ । वही मेरा अस्तित्व है ।"[5] अस्तित्व का यह धारक जीव अब गड़बड़ स्थिति में है ।

---

1. निषाद बाँसुरी, विरजा नदी और मधुमय सूर्य, कु. राय, पृ: 25.
2. पर्ण मुकुट, आभीरिका, कु. राय, पृ: 27.
3. महाकवि की तर्जनी, फटिक-शिला, पृ: 117.
4. पत्र मणिमुतुल के नाम, पाँत का आखिरी आदमी, कु. राय, पृ: 9.
5. कामधेनु, लोकचक्षु भगवान कपिल, कु. राय, पृ: 136.

"किरात नदी में चन्द्र-मधु" में गैंडे का एक चित्र है । "गैंडा बौद्धों के "खग्गविषाण सुत्त" का महाप्रतीक है और बौद्धों के कामना-निग्रह दर्शन से मेल खाता हुआ एक कवच-बद्ध जीव है, बौद्ध स्थविर की तरह रस का निषेध करके एकान्त वास कर रहा है ।"[1] यह गैंडा वैराग्य, संयम और निरंकुशता का प्रतीक है । निबन्धकार ऐसा मानते हैं ।

"मन पवन की नौका" में बैठकर रायजी को ऐसा लगा "समुद्र से सुन्दर और कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, विधाता की सृष्टि तिलोत्तमा नारी भी नहीं । यह अनुभव तीन आयामों वाले वर्तमान से मुझे खींचकर चौथे आयाम सनातन महाकाल में ठेल गया और एक ही साथ, एक ही काल बिन्दु पर खड़े होकर मैंने भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों में विचरण करने का अपूर्व सुख प्राप्त किया ।"[2] निबन्धकार मन पवन की नौका पर विचरण करते हैं ।

"दृष्टि अभिसार" में प्रकृति के प्रति विशेष लगाव है । "एक नदी नहीं । एक के भीतर तीन नदी । एक गंगा के भीतर तीन गंगा । एक सरस्वती के भीतर तीन-तीन सरस्वती ।"[3] त्रेता का बृहत्साम" में रायजी रामकथा को प्रस्तुत करते हैं । "मैं इस कथा से अपने निराशा के क्षणों में जिजीविषा, करुणा-बोध और अभय प्राप्त करता हूँ । समग्र मानवीय स्थिति में यह कथा इसीलिए मूल्यवान है कि इसका स्थायीभाव जिजीविषा, करुणा और अभय का त्रिकोण व्यक्त करता है ... ।"[4] इसप्रकार रायजी के निबन्धों में "धारा शैली" का प्रयोग ललित निबन्ध की अभिव्यक्ति को सशक्त बना दिया गया है । ललित निबन्ध के लालित्य और काव्यमयी भावना बढ़ाने में उनकी शैली समर्थ बन गयी ।

इससे स्पष्ट है कि रायजी के ललित निबन्धों में अनुरूप शैलियों का प्रयोग है, जिससे रायजी की लेखन-क्षमता प्रत्यक्ष होती है । भावात्मक, रसात्मक और मनोरम एवं उदात्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति केलिए विक्षेप, आवेग व्यंग्य और धारा शैली का विशेष योगदान है ।

---

1. किरात नदी में चन्द्र-मधु, गैंडा और चन्द्र-मधु, कु. राय, पृ: 1-2.
2. मन पवन की नौका, कु. राय, पृ: 25.
3. दृष्टि अभिसार, गंगा-यमुना-सरस्वती, कु. राय, पृ: 6.
4. त्रेता का बृहत्साम, कु. राय, भूमिका

शीर्षक

रायजी का प्रथम निबन्ध-संग्रह है "प्रिया नीलकण्ठी" । संसार की रक्षा केलिए परम शिव विष पीकर नीलकण्ठ बन गया । उसी प्रकार रायजी की कल्पना और प्रतिभा विषमायी नीलकण्ठी है । दु:ख और उल्लास के भीतर ज़हर होता है । उस ज़हर को स्वयं पीकर यह कल्पना और प्रतिभा श्यामकण्ठ हो जाती है । जो कुछ पाठ्क को देती है वह शुद्ध-प्राण और रस है । इसलिए इसका नाम "प्रिया नीलकण्ठी" बन गया ।

"रस आखेटक" के निबन्धों में निबन्धकार की रसात्मक भावना का आखेट है ।

"गन्धमादन" वस्तुत: शब्दों के कुसुमित अर्थों से पाठकों के मन को उन्मथित करता है ।

"विषादयोग" की संज्ञा रायजी ने इसलिए दिया है कि गीता के प्रथम अध्याय की विषय वस्तु का नाम है यह । "हम यानी बीसवीं शती उत्तरार्ध की जीवात्मायें" सभ्यता, संस्कृति और मानवीय इतिहास के "द्वापर" में जी रहे हैं और हमें कुरुक्षेत्र एवं उससे भी गर्हित प्रभास क्षेत्र की यंत्रणायें भोगनी हैं । इस युग-सन्धया की युगान्तभूमि पर मन को स्थापित करके चिन्तन करना एक तरह का मानसिक योग है जिसे मैं "विषाद योग" की संज्ञा देता हूँ ।"[1]

"निषाद बाँसुरी" के ललित निबन्धों का मूल उद्देश्य रस है । "लोकसंस्कृति इन निबन्धों का "भगवती तनु या "दिव्य वपु रचती है और रस इनके भीतर की अमृता नामक प्राण-कला है ।"[2] भारत के आदिम निषाद जातियों की जीवन रीतियों का बिंब इसमें उपलब्ध है ।

"पर्ण मुकुट" के माध्यम से निबन्धकार ने कुछ देशी पत्तों का परिचय दिया है । "आज मैं आपको देशी पत्तों का एक मुकुट रचकर समर्पित कर रहा हूँ और हम में से जो लोग घास-पात, फूल-पत्तों के साथ-साथ जनमे हैं, उन्हें निकट से जानते हैं, पहचानते हैं, उन्हें गरीब देशी पत्तों का यह पर्ण मुकुट अक्षय अच्छा लगेगा ।"[3] जंगली मानवों का प्रतीक है यह "पर्ण मुकुट" ।

---

1. विषादयोग, अपनी बात, कु. राय, पृ: 246.
2. निषाद बाँसुरी, वही - पृ: 232.
3. पर्णमुकुट, वही - पृ: 220.

"महाकवि की तर्जनी" सौन्दर्य-बोध और शील-बोध के समन्वय का प्रतीक है ।

"पत्र मणिमुतुल के नाम" प्रतीकात्मक ललित-निबन्ध संग्रह है, जिसमें मणिमुतुल नयी पीढ़ी की प्रतीक है । गाँधीजी की रस-दृष्टि और शील-दृष्टि, के द्वारा नयी पीढ़ी का जागरण करना इस संग्रह का उद्देश्य है ।

"कामधेनु" का दावा या सामने आने की युक्ति इसी आधार पर है कि यह साहित्य के मूलधर्म से जुड़ी हुई रचना है और इस मूलधर्म के एक कोण, पाठक को "मानसिक वृद्धि" से यह प्रत्यक्ष भाव से जुडी है ।"[1] "नटराज" तथा "शंख और पद्म" क्रमशः भवति और लोकायत का बिंब है ।

"किरात नदी में चन्द्रमधु" मुख्यतः भारतीय किरात संस्कृति के रूप-रंग-रस के बिंब और संस्कार प्रस्तुत है । "इसमें किरात संस्कृति की नदी में झलकते हुए भाव और उस के चन्द्रबिम्बों को फुटकर छवियाँ ही मिलेंगी । इसी से इसका नाम रखा गया है "किरात नदी में चन्द्र-मधु" ।"[2] इसमें भारतीय संस्कृति के अन्दर आर्येतर तत्वों को महिमा का उद्घाटन है ।

"मन पवन की नौका" में निबन्धकार मन-पवन की नौका से अगस्त तारा, एक नदी इरावदी, जलमाता मेनाम आदि विविध घाटों की सैर करते हैं । मन पवन की नौका यहाँ प्रतीक है ।

"दृष्टि अभिसार" में निबन्धकार की दृष्टि अभिसारगत है ।

"त्रेता का बृहत्साम" शीर्षक पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर राम के इस तेजस्वी शील और सौन्दर्य का उद्घाटन करने की चेष्टा है ।

रायजी की भाव-भंगिमा, लालित्य पूर्ण अनुभूति और मनोरंजक शब्दावली के द्वारा निबन्ध-संग्रहों के शीर्षकों में रसात्मक सौन्दर्य आया है ।

---

1. कामधेनु, भूमिका (द्वितीय संस्करण), कु. राय, पृ: 10.
2. किरात नदी में चन्द्र-मधु, अपनी बात, कु. राय,

मिथक

मिथक मूलतः आदिम मानव के समष्टि-मन की सृष्टि है तो भी इसकी भूमिका मानव-जीवन में प्रासंगिक है । धर्म, परंपरा, विभिन्न साधना, विश्वास, अध्यात्म आदि से संपुष्ट मिथक-कथा कुबेरनाथ जी के ललित निबन्धों में देख सकते हैं । इनके ललित निबन्धों में मिथक तकनीक या प्रविधि के रूप में आया है और स्वतः संपूर्ण मात्रा में विषय-वस्तु बन कर भी । रामकथा संबन्धी उनके निबन्ध "महाकवि की तर्जनी" और "त्रेता का बृहत्साम" इसके दृष्टान्त हैं । इसमें उसके भावात्मक तथा बौद्धिक आयामों का विस्तार करना निबन्धकार का उद्देश्य था ।

किन्तु रायजी के ललित निबन्धों में मिथक प्रविधि के रूप में किस प्रकार आया, इसे देखना है । उनके अन्य कुछ निबन्धों में उन्होंने मिथक के अन्तर्निहित मूल्यों का उपयोग किया है । मिथक की अभिव्यक्ति के लालित्य, उदात्तता और अर्थगत गहन संकेत इसमें मुख्य है । "प्रिया नीलकण्ठी" में रायजी ने कहा है कि उनकी कल्पना और प्रतिभा विषपायी नीलकण्ठी है । मतलब साहित्यकार अपनी कल्पना और प्रतिभा के शुद्ध अंशों को पाठकों तक पहुँचाते हैं । जिसप्रकार नीलकण्ठ ने स्वयं ज़हर पीकर संसार की रक्षा की । यहाँ "विषपायो नीलकंठी" अभिव्यक्ति का गहन संकेत देती है ।

"आधीरात का नवजातक" शीर्षक निबन्ध में कृष्णावतार का प्रसंग है । श्रीकृष्ण-जन्म के अवसर को निबन्धकार यों प्रकट करते हैं कि मन के भीतर जो अंधकार है, वह हमेशा प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहता है । एक नन्हो-सी किरण से उसमें चैतन्य होता है । कृष्णावतार पर पूरे समाज इस प्रकाश की प्रतीक्षा में थी ।

दिन या दिवस सूर्य से जुड़ा हुआ है और रात सोम से । दिन उज्ज्वल, प्रखर और पवित्र होता है तो रात्रि श्यामल, मधुमय और कोमल होती है । दिन और रात की इस तन्मयता को व्यक्त करने केलिए रामावतार और कृष्णावतार का संदर्भ रायजी ने अपने निबन्धों में प्रयुक्त किया है । रामावतार शुक्लपक्ष में और दिन में हुआ है तो कृष्णावतार कृष्णपक्ष में और रात में ।

रायजी अपनी रचनाओं के मर्म को समझाने केलिए हमारे सामने गन्धमादन ही लाए हैं । इस गन्धमादन रूपी रचना से कुसुमित अर्थों का सुगन्ध फैल रहा है ।

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति केलिए पूर्णिमा और विशाखा के संयोग को हमारे सम्मुख रखा गया है । इस संयोग को मणिकांचन संयोग या कोमल-किशलय संयोग या ईश्वर-मुख और प्रेमिका-मुख का ध्यान संयोग माना गया है ।

सरस्वती अन्तःसलिला है । इस तरह हमारे अन्दर भी एक अदृश्य शक्ति या भाव है जो समय-समय पर प्रयोग में आता है । महर्षि अगस्त्य को निबन्धकार एक खास व्यक्ति न मानकर एक आइडिया, एक भावधारा और एक मानसिक उत्तराधिकार का मिथकीय स्थान्तर या पात्रीकरण मानते हैं ।

"संपाती के बेटे" निबन्ध के संपाती उन साहित्यकारों का प्रतीक है जो चारों ओर पराजय और निराशा हो तो भी पछताते नहीं । ये अपने पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते । साहित्यकार अपने लक्ष्यों को सफल करने का भरसक प्रयत्न करते हैं । युगानुकूल प्रतिकरण करते हैं भी ।

मौन के प्रवेश से शब्द का विस्फोट शान्त हो जाता है । शब्द के भीतर मौन का प्रवेश ध्यान है । रायजी के मत में मौन का एक नाम "बुद्ध हृदय" है । बुद्ध उनके अन्तिम समय में मौन ही थे, किन्तु अन्य लोगों को सब कुछ समझाते थे । एक अन्य संदर्भ में बुद्ध के अन्दर-मन के जागरण का प्रसंग दिया गया है । लोगों का विचार है बोधि वृक्ष पर अनिमेष लोचन दृष्टि से देखने पर सिद्धि मिलेगी । क्योंकि बुद्ध ने इस बोधि वृक्ष को अपना आश्रम मानकर जिया था । उनको यहाँ से दिव्य बोध भी मिल गया । इसलिए निबन्धकार का कथन है कि उन्होंने अनिमेष लोचन दृष्टि से देखा ।

रायजी के ललित निबन्धों के अर्थगत गहन संकेत मिथकीय संदर्भों के द्वारा सशक्त बन गया । उनको लालित्य और उदात्तता प्रदान करने केलिए मिथक के अन्तर्निहित मूल्यों अर्थात् "असोसियेशनल वाल्यू" का योगदान है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि रायजी के ललित निबन्धों के काव्यमय भाव, लालित्य, अनुभूतिगत विचार, भावनात्मक दृष्टि, कल्पना प्रवणता, और माधुर्य बढ़ाने में आन्तरिक लयात्मक सौन्दर्य प्रधान है ।

भाषा में आन्तरिक लयात्मकता की जो गुंजाइश है वह रायजी के ललित निबन्धों के शिल्प की विशिष्टता है । प्रतीक, बिंब, अलंकार, काल्पनिक भावना आदि से भाषा मनोरंजक, काव्यमयी और लालित्यपूर्ण बन गई है । इनके ललित निबन्धों में कोई शिथिलता नहीं । विषय की क्रमपूर्ण अभिव्यक्ति इन निबन्धों की विशेषता है, अर्थात् इनमें प्रबन्धन संपूर्ण और पुष्ट है । ये सब रायजी के निबन्धों को अभिव्यक्त करने की रीति में सहायक बन गए हैं । प्रविधि के रूप में मिथक का प्रयोग रायजी के ललित निबन्धों का सबसे सफल प्रयास है । अन्य ललित निबन्धकारों में मिथक का प्रविधि के रूप में आना विरल ही है । रायजी के ललित निबन्धों के मिथक के आन्तरिक मूल्य उच्च भूमिका प्रदान करती है ।

अध्याय - सात

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों का मूल्यांकन - प्रतिनिधि ललित निबन्धकारों के संदर्भ में

हमने पिछले अध्यायों में रायजी के ललित निबन्धों का विस्तृत अध्ययन किया है । इसके फलस्वरूप, उनके व्यापक ज्ञान, अनुभूतियों की संदर्भानुकूल अभिव्यक्ति, अनुभवों का प्रकाशन, भाषागत विशिष्टता और विषयों में निहित अर्थों को प्रत्यक्ष करने की कुशलता से हम परिचित हो गए हैं । रायजी के ललित निबन्धों की गरिमा का सूक्ष्म परिचय पाने केलिए समान विधा में कार्यरत ललित निबन्धकारों से उनकी तुलना करना अधिक संगत है । इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी के प्रतिनिधि ललित निबन्धकार के संदर्भ में कुबेरनाथ रायजी की विशिष्ट प्रतिभा को मूल्यांकित करने का प्रयास किया गया है ।

हिन्दी ललित निबन्ध साहित्य को अपेक्षित स्थान देकर विकसित करनेवालों में प्रमुख हैं - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, रामवृक्ष बेनीपुरी, कुबेरनाथ राय, हरिशंकर परसाई आदि । इनमें हिन्दी ललित निबन्ध केलिए आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदीजी और डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी का योगदान अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है । इन दोनों को हम हिन्दी के प्रतिनिधि ललित निबन्धकार मान सकते हैं । इनके निबन्धों में हिन्दी ललित निबन्ध की सभी विशेषताएँ एवं संभावनाएँ दृष्टव्य हैं । अतः यहाँ इन दोनों के साथ आलोच्य निबन्धकार कुबेरनाथ रायजी के निबन्धों का तुलनात्मक विश्लेषण करके उनका मूल्यांकन करेंगे ।

ललित निबन्धकार आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

इतिहास लेखक, उपन्यासकार, आलोचक और निबन्धकार के रूप में द्विवेदीजी काफ़ी लोकप्रिय हैं । निबन्ध के क्षेत्र में उन्होंने अन्य विधाओं के समान प्रतिष्ठा पायी है । एक अध्यापक होने के नाते उन्होंने समाज को अपने व्यक्तित्व के अंशों को सौंप दिया था । द्विवेदीजी के सारे निबन्ध "हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली" खंड-9 और खंड-10 में संकलित हैं । उनके निबन्धों में सार्व भौमिक मानवीय मूल्यों की सुरक्षा का प्रयास है । भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति द्विवेदीजी की जो आस्थ थी, उसका प्रमाण है उनके निबन्ध । "नाखून क्यों बढ़ते हैं" शीर्षक निबन्ध में मानव-जीवन की सफलता और सार्थकता दर्शित होती हैं । प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनका विशेष लगाव है । शिरीष के फूल, अशोक के फूल, कुटज, देवदारु, वसंत आ गया है जैसे निबन्ध-शीर्षक इसके दृष्टान्त हैं । "अशोक में फिर फूल आ गये हैं । इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है ।"[1] उनके ज्योतिषीय ज्ञान का परिचय "भारतीय फलित ज्योतिष", "प्राचीन ज्योतिष", "ज्योतिर्विज्ञान", "नया वर्ष आ गया" नामक निबन्धों में मिलता है । "नया वर्ष आ गया" में वे यह स्थापित करते हैं कि मनुष्य की संस्कृतियाँ परस्पर विरोधी नहीं होती । "क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि शताब्दियों की परंपरा से गिनते हुए हम जिस दिन को रवि का वार कहते हैं, उसे सुदूर इंग्लैण्ड के लोग अपनी एकदम भिन्न परंपरा से गिनकर भी सन-डे (सूर्य का दिन) कहते हैं । सारे संसार में सोम या चन्द्रमा के वार को लोग सोम या चन्द्रमा का वार ही कहते हैं । ... प्रत्येक धर्म में इन दिनों के साथ व्रत, पूजा और शुभाशुभ फल जुड़े हुए हैं ।"[2] द्विवेदीजी ने सौन्दर्य के आकर्षण को जीवन मूल्य के रूप में देखा है । वसन्त पंचमी के पूर्व जन्मे आम्र-मुकुल मुरझा गये और उसको दुबारा फूलना पड़ा । यह दृश्य द्विवेदीजी की दृष्टि में यों प्रकट हुआ है - "नववधू के समान यह बिचारी आम्रमंजरी ज़रा-सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी ।"[3] उनके निबन्ध "अशोक के फूल", "कल्पलता", "विचार और वितर्क",

---

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - खंड-9, जगदीशनारायण द्विवेदी, मुकुन्द द्विवेदी, पृ:
2. वही - पृ: 92.
3. वही - पृ: 43.

"विचार प्रवाह", "कुटज" और "आलोक पर्व" मानव के आन्तरिक भाव सौन्दर्य का प्रमाण है । उन्होंने मानव को साहित्य का लक्ष्य मानकर विश्व मानवता और मानव की समन्वय साधना पर ज़ोर दिया है । यह सूचना भी दी गई है कि पाश्चात्य विचारों को स्वीकारते समय भारतीय विचारों की उपेक्षा करना मूर्खता है । "हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान" में किरात या मंगोल जातियों , कोल या आस्ट्रिक जातियों और द्राविड़ जातियों की संस्कृतियों का परिचय देकर आदिम संस्कृति का नवीन भारतीय संस्कृतियों में होनेवाले प्रभाव स्पष्ट करते हैं ।

इसप्रकार ललित निबन्धकार का उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं, रसानुभूति की अभिव्यक्ति है । द्विवेदीजी के निबन्धों में विषय को प्रस्तुत करने की रीति को समझना समीचीन होगा । आपने अपने निबन्धों के विषय के भीतर अपनी रुचि, भावना और विचारों का प्रयोग किया । लालित्य उनके निबन्धों को भावात्मक और रसात्मक बनाते हैं । देवदारु वृक्ष का चित्र द्विवेदीजी की दृष्टि में, "सीधे ऊपर की ओर उठता है, इतना ऊपर कि पासवाली चोटी के भी ऊपर उठ जाता है, एकदम द्युलोक का भेद करने की लालसा से ।"[1] निबन्धकार अपने विचार और भावों को अपने निबन्ध में अभिव्यक्त करते हैं, इसलिए निबन्ध वैयक्तिक और आत्मीय बनता है । "पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है । इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है । ... असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे ।"[2] ये अपने मन की भाव तरंगों से अपने अहं को द्रवीभूत करते हैं और पाठक से तादात्म्य स्थापित करते हैं । अशोक के फूल के माध्यम से मानव की अवस्था का पूर्ण चित्र आपने हमारे सामने रखा है । "कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश में नववधू के गृहप्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है । फिर एकाएक मुसलमान सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया ।"[3] बातचीत की शैली से निबन्धों में आत्मीयता का वातावरण मिल है । "तो क्या हुआ यह सब मनुष्य की आत्म-केन्द्रित दृष्टि का प्रसाद है ।"[4]

---

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ: 35.
2. वही -पृ: 19.
3. वही।
4. वही - पृ: 37.

"दीपावली : सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमा-पर्व" नामक निबन्ध में दीपावली महोत्सव मनाने के उद्देश्य का कहानी-जैसा वर्णन किया गया है । पाठक इसीलिए इसे पढ़ने को उत्सुक हैं । भाषा काव्यात्मक होने के कारण एक आन्तरिक लय उत्पन्न होता है । "भारत-वर्ष के नक्षत्र-तारा-खचित नील आकाश, नद-नदी पर्वतों से शोभायमान विशाल मैदान और तृण-शाद्वलों से परिवेष्टित हरित वनभूमि ने इस देश को उत्सवों का देश बना दिया है ।"[1] भाषा को अधिक रोचक बनाने केलिए व्यंग्य की सहायता ली गई है । शिरीष के फूल, नये फूलों के आने पर भी अपना स्थान नहीं छोड़ते । इसे द्विवेदीजी इस प्रकार चित्रित करते हैं, "मुझे इनको देखकर उन नेताओं की बात याद आती है, जो किसी प्रकार ज़माने का रुख नहीं पहचानते और जहाँ तक नयी पौध के लोग उन्हें धक्का मारकर निकाल नहीं देते तब तक जमे रहते हैं ।"[2] "सामाजिक याथार्थ्यों को खोलने केलिए शिरीष के फूल के द्वारा विनोदपूर्ण भाषा का प्रयोग आपने किया है । निबन्धकार संकेत देते है कि पाठक अपने गुण-दोषों का सूक्ष्म विश्लेषण करें । मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा इसको सूचना देते हैं । "हमारे गाँव में एक पण्डितजी थे । अपने को महाविद्वान मानते थे । विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी । शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे । विद्या के ज़ोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से ।"[3]

द्विवेदीजी के निबन्धों में कुछ मात्र संस्कृति विषयक हैं - "भारतीय संस्कृति की देन", "भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या", "संस्कृतियों का संगम", "सभ्यता और संस्कृति", "हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान" आदि इसके दृष्टान्त है । हमारी परंपराओं का समाज में जो महत्व है और आधुनिक संदर्भ में वह कितना लागू है, इस पर भी द्विवेदोजी काफी ध्यान देते थे । जैसे - "हमारी महत्ती परंपरा" तथा "परंपरा और आधुनिकता । इनमें उनकी सांस्कृतिक चेतना की गरिमा श्रेष्ठ है । प्रकृति, प्रसिद्ध

---

1. हमारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, 9, पृ: 79.
2. वही - पृ: 26.
3. वही - पृ: 38.

त्योहारों और व्यक्तियों का चित्र, धार्मिक विश्वास और साहित्यिक रचना, संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति, गुरु-शिष्य परंपरा आदि इनके निबन्धों का विषय है । कहीं-कहीं उनकी वैचारिक दृष्टि झलकती है तो कहीं उनकी सहृदयता और कलात्मकता झलकती है । "भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या" में उनकी वैचारिक और विश्लेषणात्मक दृष्टि-स्पष्ट है इसी परिमाण में द्विवेदीजी की भावना का उद्गम देवदारु, शिरीष के फूल जैसे निबन्धों में है । मनुष्य सारी सृष्टि में श्रेष्ठ होने के कारण उनकी सांस्कृतिक चेतना का मुख्य अंग मानव ही है । "आन्तरिक शुचिता भी आवश्यक है", "गतिशील चिन्तन", "क्या निराश हुआ जाय" आदि पर द्विवेदीजी की मानवतावादी प्रतिष्ठापना है । सत्य, प्रेम अहिंसा, त्याग आदि मानविक गुणों और आदर्शों का चित्र प्रस्तुत किया गया है । पौराणिक परंपराओं के माध्यम से इन आदर्शों को नवीन संदर्भों में प्रयुक्त किया गया है ।

ललित निबन्ध में हृदयगत अनुभूति प्रधान होती है । इसका मतलब यह नहीं कि विचार पक्ष इसमें नहीं । अनुभूति विचार के साथ मिलकर रहती है । इसप्रका विचार और अनुभूति के समन्वय से विषय की अभिव्यक्ति होती है । द्विवेदीजी के निबन्धों में यह दर्शित है । "यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है । दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता । ... अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनायें निकली हैं । कबीर बहुत-कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक । कालिदास भी ज़रूर अनासक्त योगी रहे होंगे । शिरीष के फूल फक्कड़ाना मस्ती से ही उपज सकते हैं और "मेघदूत" का काव्य उसी प्रकार से अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदय में उमड़ सकता है ।"[1]

शब्द, प्रतीक, बिंब आदि शैली के उपकरणों द्वारा आपने अपने निबन्धों में लालित्य, रसात्मकता और आकर्षण पैदा किया । "इतिहास आगे बढ़ा । पलीते-वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बमवर्षक वायुयानों ने इतिहास को किसी कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालुम है । नख-धर मनुष्य अब एटम-बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है । पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं ।

---

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ: 27.
2. वही - पृ: 106.

नाखून मनुष्य की पाशविकता का प्रतीक है । विषय की प्रस्तुति में कल्पना का प्रयोग होता है । "अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त से स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी ।"[1]

आपके ललित निबन्धों के शिल्प पर ध्यान दें तो यह समझ सकते हैं कि द्विवेदीजी के ललित निबन्धों में सरलता और विद्वता का अपूर्व संयोग है । सरल एवं प्रभावशील भाषा के प्रयोग से आप अपने निबन्धों को भावपूर्ण बनाते थे । "कुटज क्या केवल जी रहा है' वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति केलिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता ... ।"[2] संस्कृत का प्रभाव सब कहीं देख सकते हैं । "संस्कृत के किसी भी काव्य, नाटक, कथा और आख्यायिका को पढ़िए, वसन्त-ऋतु का उत्सव उसमें किसी-न-किसी बहाने अवश्य आ जायेगा ।"[3] संस्कृत से काफी उद्धरण भी दिए हैं -

स्तद्वि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध स्व च ।।[4] {महाभारत}

अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। जैसे : - रमणीय, संचित, निर्वैयक्तिक, सत्य, अनाहत, शस्त्र, लक्ष्य, आदि । हल्ला, सुमिरन, ओढ़ना, फक्कड, भीड-भाड़ आदि तद्भव शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है । संस्कृत के शीर्षक भी हैं - "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" सर्वे फंसां परोधर्मः आदि । उर्दू-अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है - किस्म, हज़ार, मज़ाक, नज़दीक, मौका, दोस्त, बुखार, मौज,

---

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ: 23.
2. वही - पृ: 33.
3. वही - पृ: 56.
4. वही - पृ: 109.

नाराज़ आदि । अंग्रेज़ी के भी शब्दों का प्रयोग किया गया है । कल्चर, प्लेट, पिक्चर टाइप आदि । अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी अनुवाद भी देख सकते हैं - अंकगणित (अरिथ मैटि बीजगणित (अलजबरा), रेखागणित (ज्यॉमैट्री), त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) आदि ।

द्विवेदीजी ने भाषा में लाक्षणिकता और कलात्मकता लाने केलिए कहावतों और मुहावरों का प्रयोग किया है । "न ऊधो का लेना न माधो का देना ।", ऐसे दुमदार से लंडूरे ही भले । अलंकारों के प्रयोग से भाषा अधिक काव्यात्मक हो गई है । शिरीष के साथ आरग्वध (अमलतास) की तुलना नहीं की जा सकती । वह पन्द्रह-बीस दिन केलिए फूलता है, वसन्त ऋतु के पलाश की भाँति । उपमालंकार यहाँ दर्शित है ।

आपके अपार ज्ञान के कोष में भारतीय संस्कृति, इतिहास, दर्शन, नीति-शास्त्र और कला हैं , जिन्होंने आपके निबन्धों में उत्कृष्ट भावना और लय उत्पन्न कर दिया है । प्रकृति के प्रति प्रेम और मानव के प्रति रागात्मक भावना आपके निबन्धों का प्राण है । इनको व्यक्त करने केलिए भाषा में जो लालित्य प्रदान किया गया है , वह आपके निबन्धों को उच्च कोटि के ललित निबन्ध बनाते हैं । काव्यात्मक भाषा का प्रयो करने से निबन्ध गीत के अधिक निकट आते हैं और आन्तरिक लय भी उत्पन्न कर देते हैं । कुटज, शिरीष के फूल, वसन्त आ गया है, आम फिर बौरा गये । जैसे निबन्ध इसके दृष्टान्त हैं । शान्तिनिकेतन के वातावरण से वे प्रभावित हुए हैं और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी आप काफी प्रभावित हैं । ये आपके सृजन के प्रेरणा स्रोत हैं । "आशोक के फूल" यह प्रमाणित करते हैं ।

अब हम डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के ललित निबन्धों की विशेषताओं को ध्यान में रखकर श्री. कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों से उनकी तुलना कर सकते हैं । प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रसात्मक दृष्टि इन दोनों की प्रमुख विशेषता है । द्विवेदीजी के अशोक के फूल, कुटज और रायजी के प्रियानीलकण्ठी, रस आखेटक आदि यह स्पष्ट करते हैं । भारतीय संस्कृति के प्रति जो लगाव है ये इनके निबन्धों की आत्मा है । "सभ्यता और संस्कृति", "भारतीय संस्कृति की देन", "भारतीय संस्कृति का स्वरूप" जैसे निबन्ध द्विवेदीजी की सांस्कृतिक दृष्टि को प्रमाणित करते हैं तो "निषाद बाँसुरी", "त्रेता का बृहत्साम", "कामधेनु" आदि निबन्ध संग्रह रायजी की सांस्कृतिक गरिमा व्यक्त करते हैं

मानव के समन्वय की साधना दोनों का लक्ष्य है । इन दोनों को अपने कर्मस्थल से निबन्ध लिखने में काफी प्रेरणा मिली थी । द्विवेदीजी शांतिनिकेतन के वातावरण से प्रेरणा पाकर अपने निबन्धों में मानव-कल्याण का भाव भर देने में सफल निकले हैं । रायजी स्वामी सहजानंद सरस्वती विद्यापीठ के प्राचार्य के रूप में शैक्षिक समस्याओं का हल करने का प्रयत्न अपने निबन्धों के द्वारा करते रहते हैं । दोनों मिथकों की सहायता से आधुनिक भारतीय संदर्भों का ध्यान देते हैं । "भीष्म को क्षमा नहीं किया गया"। शीर्षक निबन्ध में द्विवेदीजी ने साहित्यकार को यह उपदेश दिया है कि भारत की दुर्दशा को अनदेखा करना बड़ा अपराध है । "कामधेनु" शीर्षक निबन्ध-संग्रह में रायजी ने भारतीय वाङ्मय का मंथन किया है ।

दोनों महानों ने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रकाशन से अपने ललित निबन्धों को आत्मीयता का वातावरण प्रदान किया । रायजी अपने निबन्धों के बारे में ऐसा मत प्रकट करते हैं, "मैंने सर्वत्र अपने लेखन में "रस" और बोध" का समान भाव से वितरण किया है ... ।"[1] द्विवेदीजी ने अपने समाजोन्मुख वैयक्तिक विचार यों प्रकट किया, "मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ । ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं ।"[2] इन दोनों निबन्धकारों की भावात्मक अनुभूति, समाज के कठोर याथार्थ्यों का स्पर्श कर अभिव्यक्त हो जाती है । व्यंग्य और सरल भाषा के द्वारा निबन्ध अधिक मनोरंजक हो जाते हैं । ललित निबन्ध केलिए विनोदमय भाषा का प्रयोग प्रमुख है । वह यहाँ दर्शित है । दोनों में संस्कृत साहित्य का काफ़ी प्रभाव देख सकते हैं । कई विशिष्ट व्यक्तित्वों का परिचय भी आ निबन्धों में मिलते हैं । जैसे शेक्स्पियर, निराला, अज्ञेय, बंकिमचन्द्र, राजाराम मोहन राय, कालिदास, वाल्मीकि आदि । लोक संस्कृति का व्यापक चित्रण करने केलिए आंचलिक शब्दों का सहारा लिया गया है । भोजपुरी से आप दोनों प्रभावित हैं । दोनों की व्यापक जानकारी चाहे इतिहास की हो, पुराण की हो, शैक्षिक हो, सामाजिक हो, सबका प्रमाण है आपके निबन्ध । समाज में प्रचलित कहावतों, और

---

1. विषादयोग, कु. राय, पृ: 221.
2. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, कु. राय, पृ: 107.

मुहावरों के प्रयोग से भाषा सरल और मनोरंजक हो गई है । कल्पना के सहारे अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति आपके सारे के सारे निबन्धों में है । यह ललित निबन्धकार की विशेषता है । भाषा को पुष्ट करने केलिए कल्पना तत्व अनिवार्य है और शैली इससे उत्कृष्ट बन जाती है । प्रतीक और बिंब तथा अलंकारों के द्वारा आपकी भाषा-शैली सशक्त बन जाती है । रायजी ने 'प्रिया नीलकण्ठी" नामकरण इसलिए दिया है कि परमशिव के समान साहित्यकार भी स्वयं कष्ट सहकर पाठकों को रस-बोध प्रदान करते हैं । "प्रियानीलकण्ठी" निबन्ध-संग्रह सहित्यकार को यातना का प्रतीक है द्विवेदीजी ने नाखून को मनुष्य की पाशविकता का प्रतीक माना है ।

द्विवेदीजी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी, बंगला और अंग्रेज़ी के विद्वान थे । आपने अपने निबन्धों में भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष और विभिन्न धर्मों का गहराई से अध्ययन किया है । छोटी-सी-छोटी बात का सूक्ष्म विश्लेषण करने की आपकी कुशलता अद्वितीय है । रायजी ने भी इतिहास, दर्शन, भूगोल, संस्कृति, ज्योतिष, और विभिन्न धर्मों के अध्ययन से अपने निबन्धों को संपुष्ट बना लिया है ।वे संस्कृत, प्राकृत, भोजपुरी और अंग्रेज़ी के पंडित हैं।संस्कृत और अंग्रेज़ी से आप काफी प्रभावित हैं । द्विवेदीजी ने निराला, पंत, दिनकर, प्रेमचन्द जैसे हिन्दी साहित्यकारों के विचारों का अलग निबन्ध ही लिखे हैं । रायजी ने तो एक निबन्ध में विषय की प्रस्तुति के साथ विभिन्न साहित्यकारों की साहित्यिक महिमा के संदर्भों का विश्लेषण किया है । जैसे निराला की राम की शक्तिपूजा नामक कविता से कुछ संदर्भ अपने में में लाया है । इस प्रकार दोनों ने ललित निबन्ध के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट वैयक्तिक अनुभूतियों के द्वारा और विशिष्ट शैली से अपना स्थान जमा लिया है । रायजी के निबन्धों में सर्वत्र एक पौराणिक वातावरण मिलता है तो द्विवेदीजी के निबन्धों में सामाजिक वातावरण है । दोनों का लक्ष्य मानव-समाज का उन्नयन है । सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों को सजग करने केलिए सहायक निकले हैं ।

ललित निबन्धकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र

एक प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार के रूप में ललित निबन्ध को अपने स्वानुभूत चिन्तन और मधुरिमा से संपुष्ट करने का प्रयास विद्यानिवासजी ने किया वे कवि, आलोचक और सांस्कृतिक चिन्तक हैं, लेकिन उनकी बहुमुखी प्रतिभा का

ललित निबन्ध के क्षेत्र में हुआ । मिश्रजी ने निबन्धों को अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम माना है । "कभी-कभी लगता है निबन्ध लिखना मेरी लाचारी है, अपने अस्तित्व को कायम रखने का एकमात्र साधन है ।"[1] उनके मत में हिन्दी व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की अपनी कुछ मौलिक परंपरायें हैं, जो हिन्दी की प्रकृति के स्वतंत्र विकास का ही प्रमाण देती हैं । हिन्दी का "मैं" "हम" का विरोधी नहीं । पश्चिम के व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों से हिन्दी व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का मूल भेद भी यही है । ललित निबन्ध के क्षेत्र में मिश्रजी की कीर्ति के आधार ये हैं - "शेफाली झर रही है", "गाँव का मन", "संचारिणी", "लागौ रंग हरी", "भ्रमरानन्द के पत्र", "अंगद की नियति", "छितवन की छाँह", "कदम की फूली डाल", "तुम चन्दन हम पानी", "आँगन का पंछी और बनजारा मन", "मैं ने सिल पहुँचाई", "साहित्य की चेतना", "वसंत आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं", "मेरे राम का मुकुट भीग रहा है", "परंपरा बंधन नहीं", "काँटीले तारों के आर-पार", "कौन तू फुलवा बीननिहारी", "अस्मिता केलिए", "तमाल के झरोखे से", "भारतीयता की पहचान", "नैरन्तर्य और चुनौती" आदि ।

डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी कलात्मकता और अनुभूति के द्वारा ललित निबन्धों का जो ढाँचा तैयार किया, उसको आगे बढ़ाकर निबन्धों को संपुष्ट कर का प्रयास विद्यानिवासजी का है । रोचकता के साथ सशक्त अभिव्यक्ति मिश्रजी के ललि निबन्धों की विशेषता है । "अपने से संवाद करते हुए वे निकलते थे, कभी बोलकर लिखा भी पर यह सब अपने से और दूसरों से साथ-साथ किया जानेवाला संवाद था जो निबन्ध में अर्थ पाता था ।"[2] मिश्रजी के ललित निबन्ध लालित्य, भाव-प्रवाह, सांस्कृतिक चेतन प्रकृति, पौराणिक कथाओं का चित्रण, वैयक्तिकता, लोक संस्कृति के प्रति मोह, अहं, भा की काव्यात्मकता और गद्य के आन्तरिक लय आदि से परिपुष्ट है । उनके ललित निबन्ध में एक ओर गाँव की मिट्टी की गंध है तो दूसरी ओर संस्कृत होने का व्रत भी है । जो मूल से जुड़ जाने से आदमी संस्कृत बनते हैं ।

---

1. वसंत आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र. भूमिका
2. दस्तावेज़, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ: 16.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदीजी के समान मिश्रजी भी संस्कृत साहित्य से प्रभावित हैं । भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को ग्रहण करने केलिए रामायण, महाभारत जैसे इतिहास ग्रंथों का सहारा लेते हैं । इनकी कालजयी भूमिका से वर्तमान युव जनों को जागृत करने का प्रयत्न भी करते हैं । मिश्रजी को अपनी पारिवारिक परिस्थितियों से संस्कृत भाषा का काफी ज्ञान प्राप्त हुआ । वैदिक सूक्तियों का प्रयोग उनके निबन्धों में प्राप्त है । सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से मिश्रजी का आत्मीय संबन्ध है

मिश्रजी के निबन्धों में परंपरा के प्रति आस्था और लोकमंगल की भावना निहित है । परंपरा इतिहास नहीं है और इतिहास पुराण से भिन्न है । "हमारी परं काल या देश को मनुष्य में स्थित या निवर्तमान देखती है । ... परंपरा को स्वीकार करने का अर्थ बंधन नहीं, अनुशासन का स्वेच्छा से वरण है, विधयात्मक उदारता केलिए अपनी समस्त हत्याओं का समर्पण है । इसलिए वह इतिहास से बड़ी है और हमारेलिए तो अपरिहार्य है, वही हमारी शक्ति है ।"[1] भारतीय परंपरा आरोपित उद्धार में विश्वास नहीं करती । वह कहती है "तुम अपने उद्धारकता स्वयं हो, अन्तदीप बनो, आत्मदीप बनो ।" जीवन की अखण्डता और निरन्तरता की स्वीकृति भारतीय परंपरा की विशेषता है । आत्मावलोक करते हुए प्राचीन चिंतन को नयी व्याख्या करते हुए उसे नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न आपने किया ।

रामायण और महाभारत में निहित विराट दुःख मिश्रजी के मन को मथता रहता है । "तमाल के झरोखे से" नामक निबन्ध में मिश्रजी का यह दुःख दर्शित है, "आते ही सघन छायावाले तमाल पर दृष्टि गयी, याद नहीं किसने इसको पहचनवाया क्योंकि इसको पहचानते ही लगा कि कब से इसे पहचानता हूँ । काली कालिन्दी को इसी ने अपनी घनी काली छाया से और काला भँवर बना दिया, इसी ने गोरी राधा के उज्ज्वल नील प्यार की छाँह और सघन, और सार्द्र कर दी ।"[2] ऐन्द्रिक और इंद्रियातीत के द्वन्द्व में अर्थ संपन्नता प्राप्त करने का अनुभव यहाँ व्यक्त है । "दुःख के

---

1. परंपरा बन्धन नहीं, विद्यानिवास मिश्र, पृः 15.
2. तमाल के झरोखे से, वि. मिश्र, पृः 77.

अनुभव की तीव्रता विवेक की यात्रा से ही नापी जाती है जिसमें जितना ही चिंदश उन्मीलित होगा, उसमें उतनी ही दुःख की तीव्रता अभिव्यक्त होगी ।[1]

भारतीय संस्कृति में जो समन्वयी धारा है, यह आपके निबन्धों का प्राण है । "मुझे लगता है कि मेरे जैसे आदमी को जिसकेलिए विभाजन रेखायें कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, चाहे वह परंपरा और आधुनिकता के बीच हों, चाहे देवता और आदमी के बीच हों, चाहे कल्पना और यथार्थ के बीच हों, चाहे अध्यात्म और बाह्य-विषय के बीच हों, चाहे समाज और व्यक्ति के बीच में हो, चाहे प्रेम और कर्तव्य के ब हों, चाहे कर्तव्य और अधिकार के बीच ।"[2] सामाजिक एकता ही यहाँ लक्ष्य है । भ और ज्ञान का ऐक्य, व्यवहार और परमार्थ को अलग-अलग पहचान, नानात्व में एकत्व दर्शन ही भारतीयता है । भारतीय संस्कृति को उसके उदात्त मूल्यों से पृथक करके देखा नहीं जा सकता । शिव की प्रतिष्ठा उनकेलिए सौन्दर्य, समन्वय और सामंजस्य की प्र है । हिमालय हमारी संस्कृति के अग्रदूत के रूप में दिखाई पड़ता है जो आत्मदान में विश्वास करती है । आपने हल्दी, दूब जैसी मांगलिक वस्तुओं को प्रतीकात्मक बनाए हल्दी और दूब का संयोग सत्, चित् और आनंद का समन्वय है ।

मिश्रजी के मन के उल्लास और विषाद का स्रोत आंचलिक संस्कृति है । उनकी प्रवृत्तियों में यह मूल जीवन-राग देख सकते हैं । "मेरे घर की संस्कृति के मांगलि उपादान मूर्त रूप में हल्दी-दूब और दधि-अच्छत ही हैं, इसलिए शहर में एक लंबे अरसे त बसने के बाद भी मन इन मंगल-द्रव्यों की शोभा केलिए ललक उठता है ।"[3] ग्राम जीवन की शोभा है आम्र-मंजरी, इससे निबन्धकार अधिक रीझते हैं । आम्र मंजरी के माध्यम वे सामान्य जीवन और उसकी संस्कृति के सौन्दर्य-मंगल को अभिव्यक्ति कर रहे हैं । "प की हवा धूलि के बगूले उठाने लगी है और बड़ी तेज़ी से पत्तियाँ झहराने लगी हैं । गु

---

1. कंटीले तारों के आर-पार, वि. मिश्र, पृः 50.
2. वही - पृः 101-102.
3. गाँव का मन, वि. मिश्र, पृः 79.

कसमसाने लगा है, नीबू, मौसमी, गन्धराज उत्तेजित हो उठे है, आम सचमुच बौरा गया है ।"[1] आपके निबन्धों में लोकभाषा और लोकगीत के प्रति ललक है । भोजपुरी अंचल के इतिहास, भूगोल, संस्कृति और उसकी समस्यायें भी आपके निबन्धों में हैं । वे अपने जन्मस्थान का स्मरण इस प्रकार करते है, "यह नहीं छूटता कि अमराई में से होकर स्कूल जाना होता था और एक घंटावाला पीपल पड़ता था । उसके बारे में कई प्रकार की कथायें प्रचलित थी । तेज़ सपाट के साथ उसको बिना देखे हम रास्ता पार करते थे । बस एक मंत्र था-बरगदवाले वीर बाबा का स्मरण कर लो, जो भय से छुटकारा दिलाकर रास्ता पार करा देता था ।"[2] वे फागगीत पर रमते हैं---

सजनी हो मन मोर मनाबै बसन्त न आवै ।
फूलै हो फूल फरै जनि तरुवर राग फाग कोऊ गावै ।"[3]

इसप्रकार के लोकगीत आपके निबन्धों में सर्वत्र उपलब्ध है ।

प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और उससे गहरा तादात्म्य स्थापित करने के लिए आप उत्सुक हैं ।" साहित्य की विधा के रूप में हिन्दी व्यक्ति व्यंजक निबन्ध संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की कथा-विशेष रूप से "आख्यायिका" का ही उत्तराधिकारी है और वह इसीलिए प्रकृति एवं मानव जीवन में एक बिंबानुबिंब भाव देखने का अभ्यासी है ।"[4] प्रकृति के प्रति उनका प्रेम यहाँ द्रष्टव्य है--"जाने कितने बरस कितने युगों दूर से कोई रागिनी रोक रही है, बाबा, नीम का पेड न काटो, नीम चिडियों का बसेरा है, चिडियाँ उड-पड जायेंगी, नीम की डालें अकेली रह जायेंगी ।"[5]

---

1. तमाल के झरोखे से, वि. मिश्र, पृ:72
2. वही, पृ:15
3. गाँव का मन, वि. मिश्र, पृ:30
4. कंटीले तारों के आर-पार, वि. मिश्र, पृ:196
5. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, वि. मिश्र, पृ:69

भारतीय संस्कृति की विडंबना पर भी आप प्रकाश डालते है । "आज समूचे विश्व में पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी के बीच इतनी चौड़ी खाई उत्पनन हो गयी दिखती है कि जितनी कभी-इतिहास में पहले नहीं दिखी ।"[1] आज मनुष्य परस्पर विश्वास नहीं करते और यहाँ तक कि अपने ही ऊपर विश्वास नहीं करते । "हम अपने ही ऊपर सब से अधिक अविश्वास करते हैं, हमने विश्व को गाँधी दिया, गाँधी के विचार दिये, पाशविकता से लड़ने का एक अजीब हथियार दिया और हमें स्वयं गाँधी पर विश्वास नहीं है, गाँधी हमारे लिए केवल एक वार्षिक अनुष्ठान रह गये हैं ।"[2] सामाजिक यथार्थ के प्रति आप यहाँ व्यंग्य करते हैं । वे आधुनिकता को निरन्तर सजगता मानते है और यह सजगता अपने परिवेश और समाज के प्रति होनी चाहिए ।

ललित निबन्ध में आपने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की रागात्मक अभिव्यक्ति की है । इसीलिए लालित्य आपके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है । "धूप और बर्फ का यह गठबन्धन बडा विचित्र लगता है । -------बर्फ के कारण धूप और चमक उठी है । धूप के कारण बर्फ भी और उजली हो गयी है । धूप ने बर्फ को स्वप्निलता से उभारकर यथार्थ रूप दे दिया है । बर्फ ने धूप के यथार्थ को स्वप्निल आभा दे दी है ।"[3] अपनी रागात्मक अनुभूतियों को अधिक सजग बनाने के लिए काव्यात्मक भाषा का प्रयोग आपके निबन्धों में देख सकते है । "रागाकुल चित्त ही वसन्त का अधिष्ठान है, इसलिए कोयल बोले न बोले, भोर में अलसायी दखिनैया बहे न बहे, आम में बौर आये न आये, महुआ के कूचे द्रवें न द्रवें, कुछ अन्तर नहीं पड़ता, चित्त अकुला पडे, बस उसी क्षण बसन्त का आविर्भाव हो गया ।"[4] अहं एवं व्यक्ति मन का चित्रण ललित निबन्ध की विशेषता है ।

---

1. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ:17
2. भारतीयता की पहचान, वि. मिश्र, पृ:76
3. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ:84
4. वही पृ:119

निबन्धकार के सामने पाठक होता है और वे अपने मन की अनुभूतियों का साधारणीकरण कर देते है । "मुझे देश के बाहर आने पर यह अनुभव होता है कि घर को पहचानने के लिए बाहर ही अच्छी जगह है । अपनी संस्कृति को अच्छीतरह से जानने के लिए दूसरी संस्कृति का संदर्भ आवश्यक है ।" पाठक इससे अपनी ओर ध्यान देते हैं और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ निबन्धकार का अहं बदलकर उस का साधारणीकरण हो जाता है । निबन्धकार निज के आत्म-भावों को दूसरे तक पहुँचाते हैं और आत्मीयता स्थापित करतें है । यहाँ मिश्रजी "पुल" को लेकर मानव-मानव के संबन्ध को अपनी भाव लहरियों से प्रमाणित करते हैं।" यह किनारों की ऊँचाइयों को नहीं, उन की जडों को जोडता है, शायद जोडता भी नहीं केवल हाथ -फैलाकर छूता है ।"[1] मानव का परस्पर स्नेह यहाँ उन का उद्देश्य है । ललित निबन्धों में प्रभावपूर्ण, वास्तविक और आन्तरिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है । मिश्रजी अपनी अनुभूति के आधार पर यह करते हैं । "अमराई से जुडने का अर्थ होता है, वसंत से जुडना, वसंत की तैयारी से जुडना, जीवन के नवीकरण की प्रक्रिया से जुडना, शक्ति के सघन श्यामल प्रसार से जुडना---।"[2] भाषा को अधिक गंभीर, सरस और रमणीयबनाने के लिए व्यंग्य की प्रमुखता है । "हम या तो बिना जाने-समझे भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की डींग हाँक सकते हैं या बिना जाने-समझे इसकी हीनता और अनुपादेयता को कोसने में ही अपनी आधुनिकता प्रमाणित कर सकते हैं ।[3] आप के निबन्धों में नाटकीय तत्वों का समावेश है । यह कहीं कहीं बातचीत के रूप में ही तो कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में, कहीं समझने-समझाने के रूप में । "प्रश्न उठता है कि विश्वविद्यालयों में मुकदमेबाजी इतनी क्यों बढी? हिन्दुस्तान में सज्जन के अनेक लक्षणों में एक लक्षण है अदालत से दूर रहना । तब भी सज्जनता को खतरे में डाल कर लोग क्यों अदालत की शरण ले रहे हैं? कुलपति के पास अर्जी लगाने का तरीका क्यों नहीं अपनाया जाता?-[4]

---

1. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ:98
2. कंटीले तारों के आर-पार, वि. मिश्र, पृ:93
3. भारतीयता की पहचान, वि. मिश्र, पृ:76
4. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ:22

ललित निबन्ध में वैयाक्तिक अभिव्यक्ति की महत्ता है । इसलिए निबन्धकार सामाजिक सन्दर्भों को, अपने अनुभवों के आधार पर सीधे पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं । इस संदर्भ में "मैं" के द्वारा विषय को अभिव्यक्त करते हैं । पाठक निबन्धकार को अपने साथ देखते हैं । "मैं रुक्कर पीछे देखता हूँ तो सब से पहले मेरा मन हिमालय के चरणों में बिछी हुई घानी तराई की स्निग्ध स्मृतियों में भीग-सा उठता है । मेरा जन्म उसी तराई की धरती में हुआ है और बचपन भी उसी के रस से सिंचित होकर के पला है ।"[1] हमारी मूल भावनाओं से हमें जो रागात्मक संबन्ध है, वह यहाँ स्पष्ट है ।

वैचारिक और हृदयगत अनुभूति का समन्वय ललित निबन्ध का मुख्य तत्व है । हृदयगत अनुभूति विचार के साथ मिलकर ललित निबन्ध भी रचना करती है । "महाभारत के प्रारंभ में दो वृक्षों की कल्पना की गयी है । एक वृक्ष है दुर्योधन, मन्युमय-अर्थात् क्रोध, ईर्ष्या-जैसे विकारों का आगार । कर्ण इस वृक्ष का तना है । शकुनि इस की शाखा है । दुःशासन इसके फल-फूल और विचार-शून्य धृतराष्ट्र इसकी जड है । दूसरे वृक्ष है - युधिष्ठिर धर्ममय-सत्य, अहिंसा, करुणा जैसे गुणों के आगार । अर्जुन इसके तने है । भीम इसकी शाखा है और नकुल-सहदेव इसके फल-फूल । इसकी जड है श्रीकृष्ण, वेद की ज्ञानराशि और इस ज्ञानराशि को आत्मसात् करनेवाले ब्राहम्ण ।"[2]

निबन्धकार को अपने भाव और विचारों को सशक्त बनाने के लिए शैली को उत्कृष्ट करना चाहिए । निबन्धकार की कल्पना शैली में अनुस्यूत रहती है और यह कल्पना विषय की प्रस्तुति में होती है । इस में निबन्धकार की सहृदयता और चिन्तनशीलता ही प्रमुख है । उदाहरण के लिए "वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं" निबन्ध संग्रह में "बर्फ और धूप" नामक एक निबन्ध है । इस में बर्फ और धूप

---

1. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, वि. मिश्र, पृः।
2. परंपरा बन्धन नहीं, वि. मिश्र, पृः2।

विभिन्न स्वभाव की संस्कृतियों के प्रतीक हैं । "बर्फ और धूप की चक्रवाक-क्रीड़ा शायद इसी प्रकार के सहज उदार भाव की मूर्त्त लीला है । यह बहुत विरल है, पर यह एक आदर्श स्थिति है । एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न स्वभाव की संस्कृतियाँ भी एक दूसरे को दीप्ति और अर्थ प्रदान कर सकती हैं ।"[1] इसप्रकार विचार और भाव का समन्वय, शैली और कल्पना तत्त्व आपके निबन्धों की अनुभूति को पुष्ट करते हैं ।

ललित निबन्धकार को इसमें सतर्क रखना चाहिए कि उनकी भाषा ललित, काव्यात्मक, मनोरम और आलंकारिक हो । "हमारी लक्ष्मी व्यवसाय-सागर में निवास करती आयी है और वह शक्ति रूपिणी है, वह जुआ खेलती है, रुपये-पैसे का नहीं समूचे जीवन का, जन्म जन्मार्जित पुण्य का, यहाँ तक कि कैवल्य का ।"[2] मिश्रजी भाषा के प्रति अपना विचार यों व्यक्त करते हैं, "मैं भाषा के प्रति अपना दायित्व इतनी सजगता से इसलिए निभाना चाहता हूँ कि मानवीय संवेदना का तगादा है कि साहित्यकार अनबोलत या संवादहीनता की स्थिति बराबर तोड़ता रहे । सबसे अधिक संवादहीनता संवाद की अतिशय औपचारिकता में आती है । ... मैं शब्दों के तप को लिखने केलिए बहुत आवश्यक मानता हूँ ।"[3] तत्सम शब्दों का प्रयोग काफी है - परिणय, आभिजात्य, प्रत्याख्यान, मांगल्य आदि । तद्भव शब्द - भटा, अंतरा, अंगिया, अंकटा आदि उर्दू-फारसी के शब्द भी हैं - मुसीबत, अंदाज़, मंज़िल, कैफियत आदि । अंग्रेज़ी के शब्द - ट्रिप, ब्रेकफास्ट, लेंच, क्लासिक, मिनिस्टर, गजट, डिस्ट्रिक्ट, फोटो आदि । मुहावरों का प्रयोग भी है - "तो इस तरह ये सरस्वती कान खा रही है", "इनकी छाती जुड़ा नहीं सकती" ।

ललित निबन्ध में काव्यात्मकता का आभास है । यह गद्यगीत के अधिक निकट है । इसलिए इसकी भाषा में आन्तरिक लय होती है । इस लयात्मकता से निबन्ध में रसात्मकता, लालित्य और मनोरमता आती है । "कुछ लोग ऐसे होते हैं,

---

1. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ: 90.
2. वही - पृ: 142.
3. दस्तावेज़-46, पृ: 55.

जिनकी वन्दना इसलिए की जाती है कि उनकी वन्दना सभी करते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी वन्दना इसलिए की जाती है कि उनकी वन्दना लोग करेंगे और कुछ लोगों की वन्दना इसलिए की जाती है कि उनकी वन्दना लोगों ने की है ।"[1]

ग्रामीण वातावरण के प्रति आपका गहरा मोह है । "तमाल के झरोखे से" शीर्षक निबन्ध में आपने ग्राम्य-जीवन का वर्णन किया है । स्कूल-जीवन, घर के परिवे का स्मरण और गाँव की प्रकृति का वर्णन करके, आपके शहरी-जीवन में यह ग्रामीण-जीवन प्रभाव कितना है, यह स्पष्ट करते हैं । आपके निबन्धों के प्रबन्धन को विजय यहाँ प्रमाणि होती है । ललित निबन्धकारों के मन में जो रागात्मकता है वह उनके ललित निबन्धों के शीर्षक में स्पष्ट दर्शित हैं । आंगन का पंछी और बनजारा मन, तुम चन्दन हम पानी, वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, हल्दी, दूब और दधि-अच्छत, कटहल, नारियल, बन्दउँ तब, सदा आनन्द रहे एहि द्वारे आदि ।

आपकी भावना के ये अनूठे शिल्प आत्म-व्यंजना और लालित्य से अभिभूत हैं । आप अपने निबन्धों को इसप्रकार अभिहित करते हैं कि व्यक्ति प्रधान निबन्ध में कुछ लोग विचारतत्व की खास उपयोगिता नहीं देखते और वैसे लोगों को शायद मेरे निबन्धों में विचारतत्व देखे भी न, परन्तु मैं अपनी आस्थाओं का अभिनिवेश रखे बिना कहीं भी नहीं रहना चाहता, निबन्धों में तो और भी नहीं । संस्कृत में आपका अगाध पांडित्य निबन्धों में दर्शित है, वहाँ वैचारिक अनुभूतियों का लगाव भी है । किन्तु उस अनुभूति को अभिव्यक्ति में जो आन्तरिक लय उत्पन्न हुआ है वह आपकी सफलता है । मनोरंजक, संगीतात्मक और ललित भाषा के प्रयोग से आपके ललित निबन्ध पाठकों को रमाते हैं और अपने को समझने योग्य बनाते हैं । एक ओर संस्कृत के विविध तलों का स्पर्श है तो दूसरे स्तर पर अपने लोक-जीवन की इच्छा है । चाहे संस्कृत के व्याकरण का प्रसंग हो या अन्य या लोक-संस्कृति का परिचय देना हो सब कहीं आपके व्यक्तित्व का प्रभाव है । व्यक्तित्व का यह प्रभाव आपके ललित निबन्धों में सभी तत्व, विशेषतायें और भाषा-शैली का क्रम-बद्ध संयन करने में सफल बन गए हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी,

---

1. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, वि. मिश्र, पृ: 126.

अज्ञेयजी, कालिदास आदि प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाओं में जो रमणीय भाव उत्पन्न हुए हैं उन पर भी आप काफी ध्यान देते हैं । यह भी आपकी हृदयगत अनुभूति की ही झलक है । "नैरन्तर्य और चुनौती" जैसे निबन्ध-संग्रह में दृष्टि डालने पर वैयारिक भाव अधिक महसूस होता है । लेकिन उसमें विषयों को अभिव्यक्त करने की रीति और मौलि भावनायें, कोमल पदावली, छोटे-छोटे वाक्य और गंभीर व्याख्यात्मक दृष्टि अद्वितीय है । परंपरा के अच्छे अंशों को नवीन संदर्भों में लागू करने का प्रयास आपका लक्ष्य है । इसकेलिए उन्होंने मिथकों का सहारा लिया है । आँचलिक जीवन का स्पंदन अधिक भावमयी ढंग से चित्रित किया गया है ।

लोक संस्कृति के प्रति आपका जो लगाव है वह कुबेरनाथ राय के निबन्ध में उपलब्ध है । "निषाद बाँसुरी", "किरात नदी में चन्द्रमधु" जैसे निबन्ध-संग्रह इसका प्रमाण है । रायजी ने अलग-अलग निबन्ध-संग्रह लिखकर परंपरा को पकड़ने का प्रयास किया मिश्रजी ने रामायण, महाभारत जैसे इतिहास ग्रंथों से कई सन्दर्भ लेने का प्रयास किया तो रायजी ने रामकथा पर दो निबन्ध-संग्रह ही लिखा है । प्रकृति के प्रति प्रेम दोनों में उपलब्ध हैं और किसी भी विषय को अपनी-अपनी भावना के अनुकूल अभिव्यक्त करने की कुशलता प्रशंसनीय है । दोनों निबन्धकारों की भाषा-शैली अलग होती हैं, तो भी ला मनोरम और क्रमबद्ध भाव प्रवाह की है । संस्कृत से काफी प्रभावित होने के कारण तत्स शब्दों का प्रयोग व्यापक रूप में है । अंग्रेज़ी का प्रभाव भी दोनों में है । अनेक लोकग का विश्लेषण कर भोजपुरी से अपना प्रभाव स्पष्ट कर दिया गया । मिथकों को सहार से नवीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर दोनों ने काफी विचार व्यक्त किया । आधु शैक्षिक व्यवस्था में जो समस्यायें हैं उसपर व्यंग्य किया गया और इससे उत्पन्न बेरोज़गा पर चिन्ता व्यक्त की गई है । हज़ारीप्रसाद द्विवेदीजी, विद्यानिवास मिश्रजी और कुबेरनाथ रायजी तीनों अध्यापक होने के नाते इन समस्याओं को खूब समझाने का अवसर मिला है और शिक्षा पर राजनीति का प्रभाव एक हद तक हानि पहुँचाता है । इस प वे काफ़ी दुःखित हैं भी ।

अपने ललित निबन्धों में अपनी वैयक्तिक भावना के अनुकूल अनेक प्रतीक और बिंबों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया है । इसप्रकार भाषा अलंकृत बनाया और पाठक उसमें डूब जाने को उत्सुक हो गए । यह इन निबन्धकारों

शैली की विशेषता है । अपनी वैयक्तिक भावना से वसन्त का चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं, हिमालय स्वयं हमारे सामने प्रकट होते हैं, जंगली जातियाँ प्रकट होती हैं, अनेक पर्व और त्योहार देख सकते हैं तथा भारतीय जीवन हममें झलकते हैं । इस आत्मोपत से निबन्धकार और पाठक अधिक निकट आते हैं । ललित निबन्ध के तत्त्व, उसकी विशेषतायें इसप्रकार अनजाने ही आपके निबन्ध में आयी हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि इन विशेषताओं के अनुकूल आप रचना करते हैं । आपकी रचना की विशेषता यह है कि भावना विचार के अन्दर झलकती है, अतः भाषा ललित हो गई है । वैयक्तिक भावना को सामाजिक भूमिका देना वैयक्तिक निबन्ध की महत्ता है ।

मिश्रजी के वैचारिक निबन्धों में व्याख्यात्मकता मिलती है तो रायजी में रसानुभूति अधिक मिलती है और रस और शीलबोध का समन्वय भी है । कोई भी विषय कहने में रामायण, महाभारत जैसे महत् ग्रंथों के विशेष संदर्भ पकड़ना इन दोनों की विशेषता है, यह द्विवेदीजी में उतना नहीं है । द्विवेदीजी सीधे समाज से ही सामग्री लायी है लाए हैं । इन तीनों की भावात्मक प्रतिभा के दृष्टान्त निबन्ध-संग्रह के शीर्षक ही हैं । अशोक के फूल (द्विवेदीजी) आंगन का पंछी और बनजारा मन, (मिश्र) मन पवन की नौका (राय) आदि ।

निष्कर्ष

हिन्दी के दो प्रतिनिधि ललित निबन्धकारों के साथ कुबेरनाथ राय जी की तुलना करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने निबन्ध के अतिरिक्त अन्य विधाओं पर भी अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है । इन विधाओं से वे प्रभावित भी हुए हैं तथा निबन्ध-क्षेत्र को विकसित करने केलिए यह उपयुक्त हो गया है । लेकिन इनसे भिन्न कुबेरनाथ रायजी केवल निबन्ध के क्षेत्र में अपना पैर रखते हैं, इससे उनको इसे पर्याप्त विकसित करने का अवसर भी मिल गया है । केवल एक विधा में ध्यान केन्द्रित करने से रायजी ने उस विधा की समस्त संभावनाओं का समावेश कर पाए । उनके निबन्धों में विषय-वैविध्य है, लेकिन वे अपनी प्रतिभा को इस तरह संयोजित करते हैं कि पाठक उलझन की स्थिति में न आ जाय ।

अन्य निबन्धकारों से रायजी की एक विशेषता यह है कि आप लंबे-लंबे निबन्ध लिखते हैं । यह इसलिए कि विषय की प्रस्तुति केलिए वे अपनी मौलिक भावनाओं से अनेक अनुकूल वातावरणों से गुज़रकर लक्ष्य पर आते हैं । इससे निबन्ध में कोई शैथिल्य नहीं है । विशेष शब्दों को लेकर उसका गहन विश्लेषण रायजी की एक विशेषता है । काव्यात्मक, ललित और रसात्मक भाषा का प्रयोग उनके निबन्धों के वैशिष्ट्य हैं ।

उपसंहार

ललित निबन्ध में अनुभूति के द्वारा ललित निबन्धकार उसके विषय का रस जुटाते हैं । रस की यह अभिव्यक्ति जीवनगत सर्वत्र व्याप्त विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों का परिचायक है । रचनाकार में निहित विषय-तत्त्व, रचना की अभिव्यक्ति का सूक्ष्म बिंदु है ।

ललित निबन्धकार अपने परिवेश से जुड़कर ही निबन्ध का सूक्ष्म अंकन करता है । स्वतंत्र होने के कारण परिस्थिति का प्रभाव ललित निबन्धकार में पड़ना स्वाभाविक या सहज है ।

ललित निबन्धकार निबन्ध में भोगे हुए यथार्थों का चित्र प्रस्तुत करता है । सारे वातावरणों से उद्दीपन पाकर परिवेश को भोगता है । इसप्रकार रचनाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व की रचनात्मक साहित्यिक और समष्टिगत अभिव्यक्ति संभव है । इसे निबन्धकार अपनी रचनात्मक उपलब्धि मानता है । रचनाकार के भावमूलक और विचारमूलक अनुभवों की रसात्मक अनुभूति व्यक्त होती है । निबन्धकार को आत्मपरक अभिव्यक्ति में उसके सारे क्रियाकलापों के भिन्न-भिन्न अंक संकलित हैं । आत्माभिव्यंजन ललित निबन्ध की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है ।

कुबेरनाथ रायजी ने भी "ललित निबन्ध" नाम ही स्वीकारा है । कुबेरनाथ जी के ललित निबन्धों पर दृष्टि डालने पर ऐसा मालुम होता है कि सर्वत्र काव्यात्मकता का प्रवाह है । कभी-कभी ऐसा महसूस होता है कि हम कोई कविता पढ़ रहे हैं । यह उनकी सृजनात्मक विशेषता है । उनकी आरंभिक तीन रचनाओं - प्रियानीलकण्ठी, रस आखेटक, गन्धमादन - में रागरंजित प्रतिभा का प्राधान्य है, इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें बोध का निशान भी नहीं । बुद्धि तत्त्व के बिना कोई निबन्ध उस नाम के योग्य नहीं है । इन तीन संग्रहों में रायजी का उद्देश्य मूलत: रसात्मक

उद्भावनाओं का उल्लेख करना है । "निषाद बाँसुरी" में आकर रायजी ने लोकजीवन पर अधिक ध्यान दिया है । फिर भी रस का पलड़ा पकड़कर आगे बढ़ते हैं । "विषाद योग" में आकर रायजी रस और बोध को साथ-साथ अभिव्यक्त करते हैं । "पर्णमुकुट" में लोकजीवन से तादात्म्य स्थापित कर दिया गया है । "महाकवि की तर्जनी" में पौराणिक मूल्यों को पुनः स्थापित कर देने में सफल निकला है । रामायण के द्वारा रामकथा का रसोद्देश्य प्रस्तुत किया गया है । भारतीय संस्कृति की गरिमा बढ़ाने में यह सहायक हुआ है । "पत्र मणिमुतुल के नाम" में गाँधीजी की रस दृष्टि और शील दृष्टि का परिचय दिया गया है । यहाँ भी रायजी की दृष्टि अनुभव व समझ की एकान्विति पर ज़ोर दी गई है । "कामधेनु" प्रबन्ध-संग्रह है, इसलिए उसमें भाव का स्थान प्रधान नहीं । विषय का सीधा विश्लेषण किया गया है । यह भी लोकोपासना पर आधारित संग्रह है । "किरात नदी में चन्द्रमधु" मुख्यतः किरात संस्कृति की रसात्मकता का चंद्रबिंब है । असमिया किरात संस्कृति के अनेक संदर्भ इसमें आए हैं । "मनपवन की नौका" में भारत के अनेक सांस्कृतिक संदर्भों का भावमय उल्लेख है । "दृष्टि अभिसार" में बहुरूपी चेहरों का दृश्य है । इसमें तीन निबन्ध रिपोर्ताज भी हैं । और अन्तिम निबन्ध "त्रेता का बृहत्साम" मूलतः रामकथा के विभिन्न प्रतीकों और बिंबों से भरा है । ये रायजी की सृजनात्मक प्रतिभा के दृष्टान्त हैं ।

अब रायजी की दृष्टि हमारे पौराणिक मूल्यों पर केन्द्रित हैं । ललित निबन्ध प्रायः अतीत स्मृतियों के साथ आरंभ होता है, तब पाठक उसमें रमते हैं तथा उसमें रुचि लेते हैं भी । रायजी ने विभिन्न स्रोतों के द्वारा अतीत गरिमाओं का अंकन किया है । व्यक्ति, वस्तु, इतिहास, पुराण, दर्शनशास्त्र आदि सब के द्वारा उन्होंने अपनी रचना का निर्माण किया । रामायण के अनेक संदर्भ इनके निबन्धों में मिलते हैं । फिर एक विशेषता होती है कि इनके निबन्धों में लोक-शब्दों का अधिक प्रयोग है, विशेष लोकजीवन के उद्घाटन में । पाठकों को इसमें कठिनाई महसूस होती है कि वे उनसे परि नहीं । फिर भी लोकजीवन के संदर्भ में ये शब्द सहज और स्वाभाविक ही हैं । असमि लोक बोलियों का ही प्रयोग अधिक है । क्योंकि हर एक रचनाकर अपने जन्मस्थान के परिवेशों से प्रभावित हैं ।

रसात्मक सौन्दर्य और काव्यात्मकता को झलक का उत्तम दृष्टान्त है उनके आरंभिक तीन निबन्ध । इन निबन्ध संग्रहों की अपेक्षा शेष सभी निबन्ध गंभीर बन गए हैं । यह रायजी की विकसित सृजनात्मक प्रतिभा का प्रमाण है । लेकिन सारे के सारे निबन्धों में विषय के रसात्मक उद्देश्य को प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य है । तभी तो उन्होंने स्वयं स्वीकारा है कि ललित निबन्ध एक लालित्य बोध या रसबोध पर आधारित होता है ।

रायजी के छहों ललित निबन्ध संग्रहों को एक कोटि में रखा गया है । "प्रियानीलकण्ठी" में प्रकृति-चित्रण की मनोरमता है । प्रकृति के माध्यम से हमारे पुराने अस्वीकार योग्य विश्वासों पर गहरा व्यंग्य है । विभिन्न सामाजिक समस्याओं का उल्लेख रायजी ने किया है । विभिन्न मानवीय भाव और प्रकृति के तादात्म्य का रसात्मक विश्लेषण ही उसकी विशेषता है, इसलिए इसमें काव्यमय लयात्मक सौन्दर्य और कल्पना का मिश्रण है ।

"रस आखेटक" में प्रकृति सौन्दर्य और वैष्णव रसास्वादन का सूक्ष्म चित्र है । मृगशिरा, रोहिणी आदि नक्षत्रों द्वारा अपने ज्योतिषीय ज्ञान को रायजो ने प्रत्यक्ष किया । "गन्धमादन" में भी प्रकृति का स्थान प्रमुख है । नदी और जल को सौन्दर्यमय अभिव्यक्ति बढ़ाते हैं । सरस्वती और शब्द-श्री के तादात्म्य का सूक्ष्म चित्र उसमें उपलब्ध है । ऋतु परिवर्तन में प्रकृति के विभिन्न रूपों का जो वर्णन है वह बिलकुल मनोरंजक है । इन तीन निबन्ध-संग्रहों में प्रकृति और ऋतु की महत्ता है । रायजो के भावात्मक सौन्दर्य के अन्दर समाज में निहित भिन्न-भिन्न हलचलों की उजाला है ।

"विषादयोग" तक आते-आते रायजी की चिन्ताधाराओं में दार्शनिकता का स्वर आ गया है । ईश्वर और ईश्वरत्व की अस्वीकृति पर गहन विचार किया गया है । इसके आधे ललित निबन्ध भावात्मक ही हैं । अन्तिम आधे निबन्ध पाश्चात्य साहित्यकारों के माध्यम से अस्तित्ववाद पर विश्लेषण और सामाजिक विसंगत स्थिति का व्याख्यात्मक विश्लेषण है । यहाँ रायजी का लक्ष्य सामाजिक उन्नयन ही है । युगबोध की दृष्टि ही इसका रसात्मक सौन्दर्य है ।

ललित निबन्ध में पत्रात्मक शैली का हाथ है । रायजी का एक ललित निबन्ध-संग्रह इस पत्रात्मक शैली में लिखा गया है । "पत्र मणिपुतुल के नाम" में रायजी ने मणि पुतुल को पत्र लिखा है । गाँधीजी की रस-दृष्टि पर अधिक भावात्मक विचार व्यक्त है और इसके माध्यम से आधुनिक मानवीय जीवन को जागृत किया गया है । रोज़गारी की समस्या, देश-प्रेम, साहित्यिक महिमा आदि प्रस्तुत करने में उनकी रसात्म अनुभूति अद्वितीय है ।

"दृष्टि अभिसार" में विभिन्न विषयों का समन्वित सौन्दर्य है । इस शिव, गंगा, श्रीकृष्ण, महर्षि व्यास, चण्डीथान, कुक्कुट, मणिपुरी संस्कृति, भाषा आदि ने इस संग्रह की रसात्मक भूमिका निभायी है । इसमें दो यात्राविवरण भी हैं, जिससे आत्मीयता का वातावरण महसूस होता है । अनुभूति और विचार का समन्वय इसमें भ दिखाई देता है । कुलमिलाकर ये छः ललित निबन्ध संग्रह रसप्रधान हैं और साथ ही वैचारिक अभिव्यक्ति उद्भूत हैं भी ।

रायजी के पाँच निबन्ध-संग्रह लोकसंस्कृति परक हैं । लोकजीवन में प्र बिंबित आदिम दार्शनिक प्रतीक, उपासना, त्योहार; कृषि, शिल्प-कला आदि का उल्ल इसमें है । "निषाद बाँसुरी" लिखने का उद्देश्य रसात्मक ही है । इसमें गंगातटीय निषाद संस्कृति के कृषि-विधान का परिचय है । इसमें भोजपुरी बोली के अनेक शब्द है लोकगीत, लोक-आचरण और विभिन्न पेशाओं की महत्ता का ललित चित्रण है । लोक शिल्पों की ह्रासोन्मुख स्थिति को देखकर रायजी ने लोक-शिल्प के ग्रामीण कलाकारों व जागृत करने का प्रयास किया है । मूल सांस्कृतिक जागरण इसमें उपलब्ध है ।

"पर्णमुकुट" मूलतः तमस और जागरण का संदेश देता है । कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष के विभिन्न प्रतीकों द्वारा रायजी ने सामाजिक जागरण करने का प्रयास किय भिन्न भिन्न नक्षत्र और सूर्य के आदिम बिंब के द्वारा लोकसंस्कृति के विभिन्न आयामों स्पष्ट चित्र उपलब्ध है । भोजपुरी किसान और भोजपुरी क्षेत्र का भावात्मक वर्णन मि है । भारतीय संगीत, वर्षा का वर्णन, भोजन परंपरा, सरस्वती पूजा, आदि का सौ हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है । "कामधेनु" में हमारी उपासना पद्धति के विभिन्न प्रतीक हैं, जिसकी आकृति प्रबन्ध जैसी है । प्रत्येक भाव-प्रतीकों का परिचय दिया ग

समाज विभिन्न कालों और अवस्थाओं के द्वारा परिवर्तित होता रहता है । "किरात नदी में चन्द्र-मधु इसपर आधारित है । "जीर्णवस्त्र और पापहरा नदी" में रायजी का स्वर रहस्यात्मक हो गया है । वसन्त ऋतु के आगमन का जो चित्र प्राप्त है वह अधिक भावमय है । सार्व भौमिक दुःख और प्रेम का दार्शनिक विचार उपलब्ध है । असमिया संस्कृति के लोकगीत और गयंद की सांस्कृतिक गरिमा यहाँ स्पष्ट की गई है । "मन पवन की नौका" भारतीय संस्कृति का मूलाधार है । बृहत्तर भारत की संस्कृति में भी वह मूल एकता दर्शनीय है ।

"महाकवि की तर्जनी" और "त्रेता का बृहत्साम" अनेक पौराणिक प्रतीकों से भरे हुए हैं । एक न एक वाल्मीकि के द्वारा विभिन्न मानसिक भावों का चित्रण है । विभिन्न सूर्य प्रतीकों के द्वारा पौराणिक मूल्यों की सुरक्षा की गई है । आर्य-आर्येतर समन्वित भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्रोत यहाँ व्यक्त है । चारों पुरुषार्थों का व्याप विश्लेषण किया गया है । मानवीय गुणों का मापन राम के शील -सौन्दर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष है ।

कुबेरनाथ जी के ललित निबन्धों पर दृष्टि डालने पर यह मालुम होता है कि इसकी स्वतंत्रता केलिए संस्कृति का बड़ा हाथ है । भारतीय संस्कृति की विभिन्न शाखाओं के एकीकरण का चित्र स्पष्ट करना रायजी का उद्देश्य है । रामायण, महाभा उपनिषद् और इसके अतिरिक्त अन्य पौराणिक ग्रंथों के द्वारा आर्य-आर्येतर संस्कृति का प्रस्तुत किया गया है । लोक संस्कृति के प्रति विशेष लगाव रायजी के मन में है । असमि संस्कृति का संपूर्ण चित्रणललित निबन्ध, यात्रा विवरण, पत्र आदि के माध्यम से निबन्धक ने किया है । सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार संस्कृति में जो नये-नये आ गये हैं उसे स्वीकार करने में कोई हिचक उनके मन में नहीं है । मूल्य संकट का दूरी हमारी मौलिक परंपराओं से संभव है । साथ ही इसमें प्राचीन अंधविश्वास, जो आज फैल रहा है, दूर करने का प्रयास है । गाँवों के शहरीकरण से उद्भूत सांस्कृतिक ह्रास व दूर करना हर एक मानव का कर्तव्य है । समाज में व्याप्त अकेलापन, निराशा, विसंग आदि सभी इसी कारण से उद्भूत हैं । इसे पढ़ने पर हमारी सांस्कृतिक गरिमा का खू और खुला परिचय होता है । रायजी का उद्देश्य भी संस्कृति का रसास्वादन है औ उसके भावों को ग्रहण करना है तथा उसके बोधपक्ष को स्वीकारना है ।

रायजी के ललित निबन्धों के शिल्प पक्ष पर ध्यान देने पर उनके वैशिष्ट्य का स्पष्ट संकेत मिलता है । निबन्धों के लयात्मक सौन्दर्य और काव्यात्मकता यह स्पष्ट करते हैं । प्रबन्धन की सफलता से ललित निबन्ध के लालित्य की वृद्धि हो गइ है । यद्यपि कहीं-कहीं भाषा में शिथिलता होते हुए उनके काव्यात्मक मन उसे दूर करता है । भाषा अलंकृत, सहज, प्रवाहमय, सुनियोजितपदावलियों से परिपुष्ट है । प्रत्येक संदर्भ के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में रायजी सफल निकले हैं । स्वतंत्र अभिव्यक्ति को हक से रायजी ने भाषा के नियोजन में निजी मान्यतायें प्रस्तुत की हैं । इसलिए हमें ऐसा लगता है कि भाषा के क्रम में कोई अव्यवस्था है । बोलचाल की शब्दावली और लोक बोलियों के अधिक प्रयोग से उनके निबन्ध साधारण पाठकों के निकट है । फिर भी हर एक प्रदेश के शब्दों या बोलचाल से अपरिचित होने के कारण विभिन्न कोषों को सहायता लेना पड़ता है । सयमुच ज्ञान का एक विस्तृत क्षेत्र हमारे सामने है । मिथकों में अन्तर्निहित मूल्यों को समाज सापेक्ष प्रस्तुत करने में वे सक्षम हैं । विभिन्न मुहावरे अ लोकोक्तियाँ भी उनके ललित निबन्धों में आत्मीयता की सृष्टि करती हैं ।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध ललित निबन्धकार आचार्य हज़ारीप्रसाद द्वि और डॉ. विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्धों से कुबेरनाथजी की विशेषता यह है कि इ काव्यात्मकता अधिक है । एक अंग्रेज़ी अध्यापक होने पर भी हिन्दी के क्षेत्र में इस तरह अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन करना उनका वैशिष्ट्य है । केवल ललित निबन्ध- पर टिके रहने के कारण उस पर उनके अद्वितीय ज्ञान-भंडार को खोलने का पर्याप्त अवसर विचार उनके मन में कूट-कूट कर आने के कारण निबन्ध कभी कभी बहुत लंबा हो जाता साधारण पाठक छोटे निबन्धों पर अधिक रुचि लेते हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि आचा हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने अपने ललित निबन्धों में पाण्डित्य प्रकाशन नहीं किया । उनकी ज्ञान-गरिमा के दृष्टान्त हैं उनके बहुस्पर्शी निबन्ध-संग्रह । अवश्य ही आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी से रायजी काफ़ी प्रभावित हैं । कुबेरनाथजी के निबन्धों में अनुभूति और समझ का समन्वय कल्पना और शैली में अनुस्यूत रहता है । इ रायजी ने अपने ललित निबन्धों में स्वतंत्र रूप से शैली का प्रयोग किया है । पत्र रिपोर्ताज, टिप्पणी, अनुचिन्तन आदि इनके निबन्धों में उपलब्ध हैं ।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति, सांस्कृतिक तन्त्वों की अवधारणा, व्यक्तित्व की व्यंजना जैसी विशेषताओं के कारण ललित निबन्ध को एक सृजनात्मक विधा माना जा सकता है । कुबेरनाथजी के ललित निबन्धों की संस्कृति, भाषा जैसी पहलुओं पर अब भी गहन अध्ययन की संभावना है ।

दूरभाष : २२२

कुबेर नाथ राय
प्राचार्य

स्वामी सहजानन्द सरस्वती विद्यापीठ
(महाविद्यालय) गाजीपुर-२३३००१

संदर्भ

दिनांक 7/1/84

महोदय,

आप के पत्र का उत्तर तो अलग गया था - मेरे भाई ने लिख भी मेरा अनुमोदन दिये हैं। और जो उनका अनुभव (जिसमें कि वह आज का मिलाकर) | आपके द्वारा पूछे उनका उत्तर इस प्रकार है

जन्म : 3-1-35 (अगहन पंचमी में) | पर जाँच तिथि है 26 मार्च, 33 | मैत्र अमावस्या | मीन राशि | पूर्वाषाढ़ा | सूर्य-चन्द्र युक्त कुण्डली में मंगल केतु मकर के नवम में धनि और लग्न में राहु |

पारिवा : किसान-परिवार | व स्त्रीपक्ष का दोनों ही जिला जिलानद्द पारिवा पढ़ा है | अमावसुत परिवार में जितना वैष्णव उपासना की आवश्यकता होती है, सब आज भी मानते हैं |

शिक्षा : कानपुर विश्वविद्यालय से B.A. (विषय : English, Philosophy) और गोरखपुर विश्व से M.A (English, 1957) में |

कार्य : ① 1957 से 1986 (June) तक Nalanda College Biharsharif में अध्यक्ष के Senior Lecturer & Head of the Dept.

② July 1986 से स्वामी सहजानन्द विद्यापीठ में Principal (पहले यह एक पद था नहीं कर अलग है। पहले Professor-Head of the Dept. का पद था तो यह नया पद होने में आया है)

उपलब्धियाँ : (1) उच्च शिक्षा विभाग बिहार सरकार के सामान्य शिक्षा पुरस्कार, सामाजिक कार्य के लिये Gandhi Peace Foundation का अन्तर्राष्ट्रीय गांधी शताब्दी पुरस्कार तथा उपाधियाँ | सामाजिक कार्यों के लिये [illegible] पुरस्कार मिले हैं। [illegible] उपाधियाँ मिली हैं।

कुबेर नाथ राय
आचार्य

दूरभाष : २
स्वामी सहजानन्द सरस्वती विद्यापीठ
(महाविद्यालय) गाजीपुर-२३३००१

संदर्भ

दिनांक 16/3/[illegible]

सुश्री श्रीदेवी,

आपका पत्र मिला। 'नेता का वृहत्रोल' के बा[illegible] कोई नयी [illegible] रचना प्रकाशित नहीं हो पायी है।

'कामधेनु' की द्वितीय (संक्षिप्त) संस्करण इस वर्ष अवश्य निकलेगा जिसमें ४-५ नये निबंध और जुड़ेंगे। उसे देखा जा सकता है। प्रथम संस्करण की तुलना में यह विशेषतः है। प्रकाशक है वही National Publishing House, 23, Daryaganj, New Delhi (110002).

पहला संस्करण [illegible] नयी दिल्ली से निकला था। प्रस्तावित निबंध संग्रह 'उत्तरकुरु' (Uttarkuru 'National' के ही यहाँ प्रकाशित है। जिसमें निबंध की किताबें कम बिकती हैं और वह भी मेरे निबंध तो काफी ही पढ़ते हैं। वैसे मैंने लिखी है अपेक्षाकृत लोकप्रिय पाठकों के लिए ही। 'उत्तरकुरु' आर्यों के [illegible] ई. पू. की आर्य-भूमि है। Oxus अर्थात वंक्षु के [illegible] यह अब [illegible] तुर्किस्तान की नयी तुर्की भाषा में लोकप्रिय है Indo-Iranic Arya की भूमि जिसे संस्कृत में उत्तरकुरु के नाम से जाना जाता है। मेरा विषय है Search for National Identity। 'निषादवंशी' तथा 'मानव' की नसों में Austic तत्वों को खोजना। 'किरात नदी ने चन्द्रमुखी' में Mongoloid को। इसमें मोटिफ अन्वेषण

पुस्तक अपने कालेज की Library में भेज सकती है। अथवा निबंध 'कपिल' पढ़ें - 'Kapil'-problem in Indian Philosophy कपिल' एवं नदी में, कई को-रेलेट के साथ-साथ - देखा है अनीश्वर!

महोदया,

मेरे निबंधों में 'शिल्पक' 'तकनीक' (अर्थात् 'प्रौद्योगिकी' से आगे की तकनीकें हैं) के रूप में आया है और स्वतः स्पष्ट है कि 'विषय' वस्तु बन जाती है। 'शिल्पक' के कर्म में शिल्प एवं 'विषय' वस्तु है और उसके अर्थ' का विस्तार उसके मानवीय एवं बौद्धिक आयामों के विस्तार अथवा अन्यथा तो हेतुक या [illegible] 'सम्बन्धकारक' है तो उद्देश्य [illegible]

एक ही शिल्पक 'प्रौद्योगिकी' से अगले हैं

परन्तु अन्य [illegible] पर 'शिल्पक' के अन्दर निहित 'associational values' को मैंने exploit किया है अर्थात् (1) लोगों के (1) लोगों के अथवा (2) उपलब्ध अवसर (3) किसी अर्थगतग्रहण उद्देश्य के लिए जिसमें सामाजिक से काम मतलब नहीं लिया है। वहाँ पर यह प्रविधिक संज्ञा बन जाती

(Contd) (2) (See our lecture)

Example : मैंने यही की और अभिप्रेत को यहाँ दृष्टि दिया है।

यह अभिप्रेत लोगन दृष्टि' एक शिल्पक्षेत्र एकता देती है अर्थात् associational value हुआ। बुद्ध जब काया और मन के द्वन्द्व से ऊपर उठ पहले पहल वैशाखी पूर्णिमा के उपरान्त गये तो उन्हें जो उनके अभिप्रेत दृष्टि थे

[illegible] मैंने जो उन्हें intuition से बोधगम्य हुआ कि [illegible] यही वह स्थान है जहाँ जीवन की हिरने निरंजना = उनकी [illegible] दृष्टि अभिप्रेत लोगन से उस वृक्ष को [illegible] [illegible] के उपरान्त यही वह [illegible] जो [illegible] में निरंजना

ग्रंथ-सूची

कुबेरनाथ राय के निबन्ध-संग्रह

कामधेनु – प्र. सं. 1990, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

किरात नदी में चन्द्र मधु – प्र. सं. 1983, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-1.

गन्ध मादन – प्र. सं. 1972, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी

त्रेता का बृहत्साम – प्र. सं. 1986, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

दृष्टि अभिसार – प्र. सं. 1984, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

निषाद बाँसुरी – प्र. सं. 1974, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-1.

पर्ण मुकुट – प्र. सं. 1978, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1.

पत्र मणिमुतुल के नाम - प्र. सं. 1980, गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

प्रिया नीलकण्ठी - प्र. सं. 1968, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली-6.

मन पवन की नौका - प्र. सं. 1982, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6.

महाकवि की तर्जनी - प्र. सं. 1979, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

उस आखेटक - प्र. सं. 1970, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली-6.

विषाद योग - द्वि. सं. 1978, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

अन्य निबन्धकारों के निबन्ध

अंगद की नियति - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1984, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6.

आलोक पर्व - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, प्र. सं. 1972 राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली-6.

कँटीले तारों के आर पार - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1976, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

काग भगोड़ा - हरिशंकर परसाई, प्र. सं. 1983, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-7.

खरगोश के सींग - श्री प्रभाकर माचवे, द्वि. सं. 1960, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद ।

गाँव का मन - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1985. वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.

जोग लिखी - सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, प्र. सं. 1977, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली ।

तमाल के झरोखे से - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, द्वि. सं. 1989, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली-2.

नैरन्तर्य और चुनौती - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1988, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6.

परम्परा बन्धन नहीं - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1976, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।

पश्यन्ति - धर्मवीर भारती, प्र. सं. 1969, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-5.

भारतीयता की पहचान - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, प्र. सं. 1989, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें - हरिशंकर परसाई, द्वि. सं. 1981, ज्ञान भारती, दिल्ली-7.

मेरे राम का मुकुट भीग रहा है - डॉ. विद्यानिवास मिश्र, द्वि. सं. 1979 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

ललित निबन्ध - डॉ. वेंकट शर्मा, प्र. सं. 1986, पल्लव प्रकाशन, दिल्ली-6.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खंड-9 और खंड-10 - संपादक : जगदीश नारायण द्विवेदी, मुकुन्द द्विवेदी, प्र. सं. 1981, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-2.

आलोचनात्मक ग्रंथ

आधुनिक साहित्य - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, तृ. सं. संवत् 2018 वि. भारती भण्डार, इलाहाबाद ।

आधुनिक हिन्दी निबन्ध - डॉ. राजेन्द्रमोहन भटनागर, प्र. सं. । सामयिक प्रकाशन, दरियागंज ।

काव्य के रूप - गुलाबराय, च. सं. 1958, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6.

कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य – अमिता सिंह, प्र. सं. 1982, ग्रंथायन सर्वोदय नगर, सासनी गेट, अलीगढ़-202001.

निबन्धकार अज्ञेय – डॉ. प्रभाकर मिश्र, प्र. सं. 1977, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल – पो. कृष्णदेव झारी, प्र. सं. 1958, ज्योतिप्रसाद साहित्य प्रकाशन, अम्बाला छावनी

निबन्ध संग्रह – संकलन कर्ता हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीकृष्णलाल, तृ. सं. 1962 ई. साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद

प्रतिनिधि हिन्दी निबन्धकार – डॉ. हरिमोहन, प्र. सं. 1980, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

पौराणिक संदर्भ कोश – डॉ. एन.पी. कुट्टन पिल्लै, प्र. सं. 1984. किरण प्रकाशन, हैदराबाद ।

भारतीय संस्कृति कुछ विचार – डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन, प्र. सं. 1974, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।

भारतीय संस्कृति के आधार – श्री. अरविन्द, प्र. सं. 1968, श्री. अरविन्द सोसाइटी, पॉडिचेरी-2.

भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं कला – संपादक डा. नगेन्द्र, सं. 1972,
एस. चन्द एण्ड कंपनी प्रा. लि. दिल्ली-5

विचार और अनुभूति – डॉ. नगेन्द्र, व. सं. 1965,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6.

विविध विधाओं के प्रतिनिधि साहित्यकार डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी – डॉ. विनोदिनी सिंह, प्र. सं. 1986
कैपिटल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6.

संस्कृति के चार अध्याय – श्री. रामधारी सिंह दिनकर, प्र. सं. 195
केदारनाथ सिंह उदयाचल राष्ट्रकवि दिनकर पथ, पटना-800016.

समसामयिक हिन्दी निबन्ध – श्री. ज्ञानेंद्र वर्मा, प्र. सं. 1969,
ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली-9.

समसामयिक हिन्दी साहित्य उपलब्धियाँ – श्री. मन्मथनाथ गुप्त, प्र. सं. 1967,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-7.

समाज और संस्कृति – डॉ. सावित्री चन्द्र शोभा, प्र. सं. 1976,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2.

समीक्षात्मक निबन्ध – डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, द्वि. सं. 1969,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6.

सर्जन और संप्रेषण – संपादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन, प्र.
1984, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्

सृजन और अंतर अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य - डॉ. वीरेन्द्र सिंह, प्र. सं. 1985,
श्याम प्रकाशन, जयपुर-302003.

साहित्य और संस्कृति - मोहन राकेश, सं. 1990,
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली

साहित्य और सामाजिक संदर्भ - डॉ. शिवकुमार मिश्र, प्र. सं. 1977,
कला प्रकाशन पो-10, दिल्ली-32.

साहित्य का समाजशास्त्र - डॉ. नगेन्द्र, प्र. सं. 1982,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-2.

साहित्यालोचन - श्यामसुंदर दास, च. सं. 1962,
इंडियन प्रेस प्रा. लि. इलाहाबाद ।

साहित्यिक निबन्ध - डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, प्र. सं. 1959,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

साहित्यिक निबन्ध - देवीप्रसाद गुप्त, प्र. सं. 1984,
पंचशील प्रकाशन, जयपुर-302003.

साहित्यिक निबन्ध - डॉ. मनमोहन शर्मा, प्र. सं. 1965,
कृष्ण ब्रदर्स कचहरी रोड, अजमेर ।

साहित्यिक निबन्ध - राजनाथ शर्मा, सप्तम सं. 1963,
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।

साहित्य आधुनिकता और आयाम - डॉ. हर्षनारायण नीरव, प्र. सं. 1983, अमर प्रकाशन, मथुरा - 281002.

साहित्य चिन्तन के नये आयाम - डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, प्र. सं. 1983, संजय प्रकाशन, दिल्ली - 52.

साहित्य में सृजन के आयाम और विज्ञानवादी दृष्टि - डॉ. राजेन्द्रकुमार, सं: 1980 प्रकाशन संस्थान 216, दिल्ली-32.

साहित्य मूल्य और प्रयोग - डॉ. बैजनाथ सिंहल, प्र. सं. 1985, संजय प्रकाशन, दिल्ली-52.

साहित्य सिद्धान्त और शोध - डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित सं. 1975 ई, मनीषी प्रकाशन, मेरठ - 250 001.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्र. सं. 1980, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-2.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : कुछ संस्मरण - संपादक कमलकिशोर गोयनका, प्र. सं. 19९ किताबघर, नई दिल्ली-2.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिन्तन - डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा, प्र. सं. 1990, साहित्यागार जयपुर - 302003.

हिन्दी अनुसन्धान - डॉ. विजयपाल सिंह, प्र. सं. 1978, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

हिन्दी का गद्य साहित्य – डॉ. रामचन्द्र तिवारी, प्र. सं. 1955, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, प्र. सं. 1976 विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2.

हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास – डॉ. बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे, प्र. सं. 195 किताब महल, इलाहाबाद ।

हिन्दी निबन्ध की विभिन्न शैलियाँ – डॉ. मोहन अवस्थी, प्र. सं. 1969, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद ।

हिन्दी निबन्ध के आधार स्तंभ – डॉ. हरिमोहन, प्र. सं. 1988, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

हिन्दी के वैयक्तिक निबन्ध – श्रीवल्लभ शुक्ल, प्र. सं. 1963 ई, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद ।

हिन्दी निबन्धकार – प्रो. जयनाथ नलिन, द्वि. सं. 1964, आत्माराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली-6.

हिन्दी निबन्ध का विकास – डॉ. ओंकारनाथ शर्मा, प्र. सं. 1964, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर ।

हिन्दी ललित निबन्ध स्वरूप एवं मूल्यांकन – संतराम देशवाल, प्र. सं. 1988, प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली-6.

हिन्दी साहित्य का इतिहास - संपादक डॉ. नगेन्द्र, प्र. सं. 1973, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6.

हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अठारहवाँ संस्करण सन् 1978, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (त्रयोदश भाग) - श्री. हंसकुमार तिवारी, प्र. सं. संवत् 202: नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास - डॉ. गुलाबराय, प्र. सं. 1938, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा-3.

हिन्दी साहित्य कोश भाग-2 - संपादक धीरेन्द्र वर्मा, आत्माराम एंड सन्ज़, दिल्ली-6.

अंग्रेज़ी ग्रंथ

An Introduction to the Study of Literature - William Henry Hudson, Second Edition, March 1965. George G.Harrap & Co. Ltd., London Toronto Wellington Sydney

An Essay on Criticism - Graham Hough, First Edition-1966 Gerald Duck Worth & Co. Ltd., 3 Henrietta Street, London WC-2.

Literature and Criticism - H. Coombes, Fifth Edition 1964, Chatto And Windus, London.

पत्रिकाएँ

कल्पना – अंक 211, 1969

दस्तावेज़-26 – वर्ष-7, अंक-2, 1985
संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।

दस्तावेज़-46 – वर्ष-12, अंक-2, 1990
संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका – अंक-2, संपादक मंडल
श्री. कमलापति त्रिपाठी, डॉ. नगेन्द्र,
श्री. करुणापति त्रिपाठी, संवत् 2026 वि.
वर्ष-74, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

प्रकर – अंक-5, मई 1978, संपादक वि. सा.
विद्यालंकार, राणाप्रताप बाग, दिल्ली-7.

प्रकर – अंक-11, 1979, संपादक वि. सा.
विद्यालंकार राणाप्रताप बाग, दिल्ली-7.

समीक्षा – वर्ष-16, अंक-28, 1982,
संपादक गोपाल, सी 1, 2, यूनिवर्सिटी
कॉलोनी, राजेन्द्र नगर, पटना-800016.

समीक्षा – वर्ष-17, अंक-2, 1983.

समीक्षा – वर्ष-22, अंक-3, 1988.

सम्मेलन पत्रिका – संपादक श्रीरामनाथ सुमन,
{लोकसंस्कृति विशेषांक} संवत् 2010 वि. हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग ।